# लोगस्स : एक साधना

भाग-1

साध्वी पुण्ययशा

लोगस्स भक्ति साहित्य की एक अमर, अलौकिक, रहस्यमयी और विशिष्ट रचना है। वर्ण-विन्यास, वाक्य- रचना, अभिव्यक्ति, सौष्ठव, मंत्रात्मकता इत्यादि अनेक कारणों से यह चतुर्विंशतिस्तव अभिप्रिय और सतत् स्मरणीय रहा है। इसकी अर्हता अचिन्त्य है। ज्ञानियों ने इसे ज्योति सूत्र कहा है। यह समाधि का बीजमंत्र है। अलौकिक सिद्धियों का भंडार है। यह एक दिव्य साधना भी है, स्वाध्याय, स्तुति, ध्यान, मंत्र, उपासना और आराधना भी है। चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति में निर्मित इस लोगस्स महामंत्र को चैतन्य करें और आत्मसिद्धि के पथ पर अग्रसर बनें, ही स्तुत्य है। चैतन्य की अमृतकथा, लोकमंगल की भावना, अमृतत्व की खोज व प्राप्ति ही इस कृति को लिखने का उद्देश्य रहा है।

# लोगस्स : एक साधना

भाग-१

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

# लोगस्स : एक साधना

## भाग-१

साध्वी पुण्ययशा

**ISBN NO. : 978-81-71960231**

© आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

**लोगस्स : एक साधना भाग-१**

**लेखक** : साध्वी पुण्ययशा

**प्रकाशक** : आदर्श साहित्य संघ
२१०, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग
नई दिल्ली-११० ००२

**संस्करण** : अगस्त २०१२

**मूल्य** : अस्सी रुपये

**मुद्रक** : पवन प्रिंटर्स, दिल्ली-३२

**LOGASSA : EK SADHNA Part-1** by Sadhvi Punyayasha **Rs. 80/-**

# समर्पण

तुलसी महाप्रज्ञ की
अभिनव कलाकृति
महान् श्रुतधर महातपस्वी
आचार्यश्री महाश्रमणजी
के ५०वें जन्म महोत्सव
अमृत महोत्सव
के शुभ अवसर पर
भावभरी अभिवंदना
निरामयता व चिरायुष्कता
की मंगल भावना
के साथ श्रद्धा प्रणत
समर्पित
श्रीचरणों में
लोगस्स एक साधना
भाग-१

# आशीर्वचन

जैन प्राकृत वाङ्मय में 'उक्कित्तणं-लोगस्स' एक महत्त्वपूर्ण कृति है। उसमें वर्तमान अवसर्पिणी के चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की गई है और उसके साथ-साथ कुछ पवित्र कामनाएं भी की गई हैं। उसकी साधना अपने आपमें महत्त्वपूर्ण है।

साध्वी पुण्ययशाजी ने एक अच्छा ग्रंथ तैयार किया है। पाठकों को उससे साधना का पथदर्शन प्राप्त हो। शुभाशंसा।

केलवा (राजस्थान)
२१ अक्टूबर २०११

**—आचार्य महाश्रमण**

# स्वकथ्य

जीवन अनंत रहस्यों का अथाह सागर है। इसके अतल में असंख्येय अनमोल मणिमुक्ता छिपे हुए हैं। पदार्थों में आसक्त बना मनुष्य उनकी उपेक्षा करता है। वह अपने से भिन्न नक्षत्र, सौरमंडल व जड़ पदार्थों की खोज तथा उपलब्धि में अपना सारा जीवन दांव पर लगा देता है परन्तु "मैं कौन हूँ" इस रहस्य को जानने की दिशा में उत्कंठित नहीं होता है।

मोमबत्ती जलाते हुए शिक्षक ने विद्यार्थियों से पूछा—"यह प्रकाश कहाँ से आया?" गुरु के इस प्रत्युत्तर में एक प्रतिभाशाली बालक कन्फ्यूशियस ने एक फूंक से उस मोमबत्ती को बुझाते हुए कहा—"गुरुदेव! आपके सवाल का जवाब दें उससे पूर्व आप हमें यह बताये कि वह प्रकाश कहाँ गया?"

गुरु शिष्य का यह संवाद अध्यात्म जगत् के उपरोक्त रहस्य "मैं कौन हूँ" के अनुसंधान का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अध्याय हो सकता है। इस संवाद की गहराई में अवगाहन करने से एक सत्य तथ्य प्रतिभाषित होता है कि पदार्थ जगत् की रोशनी दियासलाई से आती है और फूंक लगाने से चली जाती है पर आत्मजगत् की रोशनी शाश्वत है केवल उसे उद्घाटित करने की कला चाहिए। उस कला की पारंगतता के लिए दृष्टि को बाइफ़ोकल बनाने से दोनों जगत् दृष्टिगोचर होते रहेंगे।

'जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पेठ' महाकवि बिहारी की उक्त उक्ति को जीने वाले जीवन और साधना के रहस्यों को तथा मंत्र व विद्या की अलौकिकता को आत्मसात् एवं उद्घाटित करने की कला हासिल करते हैं। वे ऋषि मनीषी अपनी अन्तश्चक्षु से सत्य का साक्षात्कार करते हैं और संसार को उसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। आत्म साक्षात्कार की इस कला के कोविद अर्हत् ऋषभ से सम्राट भरत ने, अर्हत् अजित से सम्राट सगर ने, अर्हत् नेमि से पांडवों ने तथा अर्हत् महावीर से राजा श्रेणिक ने अपने-अपने समय में एक ही प्रकार की

जिज्ञासा की—"भंते! जीवन का सार क्या है?" सभी अर्हन्त भगवन्तों ने एक ही शब्द में समाधान देकर गागर में सागर भर दिया। वह शब्द था—"आत्मज्ञान"।

अध्यात्म का आधारभूत तत्त्व है आत्मा। आत्मा स्वयं सिद्ध और स्वयंभू है। आत्म-मुक्ति ही परमात्मत्व की उपलब्धि है। आत्मज्ञान के लिए आत्मान्वेषण, सत्य की खोज, तत्त्वों की जिज्ञासा तथा आत्मानुभूति के बीजों का वपन करके चैतन्य की वेदिका पर आनंद का वटवृक्ष उगाने की अपेक्षा है। उस वटवृक्ष के अनेकों बीजों में एक शक्तिशाली और उर्वर बीज है—आवश्यक सूत्र में विवर्णित "चतुर्विंशति-स्तव"—"लोगस्स"। जिसमें जीवन निर्माण, विकास तथा लक्ष्य प्राप्ति हेतु 'आत्मकर्तृत्ववाद' का समञ्जन किया गया है। सीमित शब्दों में असीमित व्यक्तित्वों की गौरवगाथा के अमिट हस्ताक्षर व मंत्राक्षर इस स्तुति में विद्यमान हैं। एक व्यक्तित्व को भी सीमा में बांधना कठिन है वहाँ एक साथ चौबीस व्यक्तित्व विश्व की सर्वोच्च शक्तियां, संसार की सर्वोच्च उपलब्धियां जिनको सात पद्यों में गर्भित, मंत्रित, चमत्कृत एवं अलंकृत करना एक विचित्र, आलौकिक तथा पारदर्शी रहस्य है। ये सात पद्य परमात्म-पथ के परम पवित्र पगथिए हैं। अत्यन्त गूढ़ संक्षिप्त और रहस्यात्मक होने के कारण ये अपने एक-एक आरोहण के साथ-साथ गहरे अन्वेषण और गहरे अनुशीलन की अपेक्षा रखते हैं।

जैन शासन के पास यह एक अमूल्य निधि है। यदि ऐसा कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। यह जीवन मूल्यों की आधारशिला है। इसमें जीवन कौशल के अद्भुत एवं अनुभूत सूत्र—ज्ञान-बोधि, दर्शन-बोधि और चारित्र बोधि तीनों संयुक्त रूप से निहित हैं जिनमें शांति और आध्यात्मिक शक्तियों का अखूट खजाना भरा है। जिस प्रकार खदान की गहरी खुदाई में अमूल्य हीरे-पन्ने प्राप्त होते हैं, सागर के गर्भ में महामूल्यवान निधि का भंडार समाया हुआ है उसी प्रकार लोगस्स ऊपर से दृश्यमान अपनी इस छोटी सी देह में अध्यात्मवाद का बहुमूल्य भंडार संजोये हुए है। इस लोगस्स महामंत्र को जप, स्वाध्याय, ध्यान की एकाग्रता से चेतन करने पर तथा अर्हत् व सिद्ध परमात्मा के साथ अद्वैत स्थापित करने पर चेतना की गहराई में अमूल्य तत्त्व, अभिसिद्धियां, अवधि ज्ञान, मनः पर्यवज्ञान तथा केवल-ज्ञान की उपलब्धि होती है।

यह कोई सिद्धान्त या शास्त्र नहीं है। यह साधना का संबोध है, शाश्वत एवं सामयिक जीवन-मूल्यों का समन्वय है। इसमें तत्त्वज्ञान की गूढ़ता है और उन गूढ़ तत्त्वों को सीधी सरल भाषा में कह देने की विशिष्ट रचनाधर्मिता है। इसकी अपरिमेय शक्तिमत्ता, विश्वविश्रुत प्रभावकता का कारण किसी महर्द्धिक देव की शक्ति नहीं अपितु देवाधिदेव वीतराग अरिहंत, सिद्ध इसके उपास्य होने के कारण

यह स्वतः ही ऐसा शक्ति संपन्न है कि महर्द्धिक देवों को भी इसके उपासकों के वशवर्ती रहना पड़ता है। वे भी उनको वंदन, नमस्कार करते हैं। छोटे-बड़े सभी कार्यों की सिद्धि के लिए यह सर्वश्रेष्ठ एवं सदैव सभी के लिए इष्ट-कारक, विघ्न-निवारक, मंगलदायक और शांतिप्रदायक ही है, यही इसकी सर्वोपरि विशिष्टता है। इसके एक-एक पद्य में अनंत गुण और अनंत भावों की अनुभूति अन्तर्निहित है तथा अर्हत् स्वरूप की अनंत-अनंत सुषमाएं हिलोरे ले रही है। "अरहंते कित्तइस्सं" कहते ही कर्म शत्रुओं के हंता, ज्ञान-दर्शन-चारित्र के आदर्श प्रतीक सदेह मुक्त आत्माओं के गुण, कर्म, ज्ञान आदि की ओर बरबस ध्यान चला जाता है और उन गुणों से अपने जीवन को अलंकृत करने की भावना जागृत हो उठती है। तब वह उपासक सदाशयता से कहता है—"वंदे तद्गुण लब्धये" अर्थात् उन गुणों की उपलब्धि के लिए वंदन करता हूँ। उच्च कोटि का साधक जानता है—

**चातक मीन पतंग जब, पिया बिन न रह पाय।**
**साध्य को पाये बिना, साधक क्यों रह जाय ॥**

वस्तुतः गुणवत्ता से ही व्यक्ति की मूल्यवत्ता बढ़ती है। साधक के चित्त में विद्यमान निर्मलता, निर्मोहिता, निर्भीकता, निरहंकारिता की सुवास का सुवासित रहना ही उसकी मूल्यवत्ता का महनीय कारण है। तेरापंथ के दशम् अनुशास्ता आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा एवं आध्यात्मिक चेतना से लोगस्स की साधना का समग्र दृष्टिकोण निम्नोक्त रूप में प्रस्तुत किया है।

लोगस्स की साधना का समग्र दृष्टिकोण है—

**आत्मा का जागरण**
**चैतन्य का जागरण**
**आनंद का जागरण**
**अपने परमात्म स्वरूप का जागरण**
**और अर्हत् स्वरूप का जागरण ॥**

इस संदर्भ में कुछ अनादि-कालीन जिज्ञासाएं हैं, जैसे परमात्मा कैसा है? उसका स्वरूप क्या है? वह कहाँ है? साधक सिद्ध कब बनता है? इत्यादि।

कोई कहता है परमात्मा स्थान विशेष में है तो कोई कहता है वह सर्वत्र है। कोई कहता है वह सर्वगुण संपन्न है तो कोई कहता है वह गुणातीत है। कोई साकार तो कोई निराकार बताता है। इन उभरती जिज्ञासाओं का समाधान यदि महावीर वाणी में खोजें तो वह है—

सच्चं भयवं — सत्य ही भगवान है।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा — स्वयं सत्य को खोजें।
मेत्तिं भूएसु कप्पए — सबके साथ मैत्री करें।
संपिक्खए अप्पगमप्पएणं — आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें।

स्वयं सत्य को खोजें, सत्य ही भगवान है, आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें—इन वाक्यों ने अध्यात्म की दृष्टि को वैज्ञानिकता प्रदान की है और सबके साथ मैत्री करो—इस मन्त्र वाक्य ने वैज्ञानिक की संहारक शक्ति पर अनुशासन स्थापित किया है। वर्तमान युग का वैज्ञानिक पदार्थ विज्ञान से आत्मज्ञान की ओर मुड़ने का चिन्तन कर रहा है।

इन आध्यात्मिक जीवन-मूल्यों को वैज्ञानिक सन्दर्भों से समझने पर स्वतः ही सारी जिज्ञासाएँ समाहित होने लगती हैं। जिस प्रकार व्यक्ति के पास वायुमण्डल में रेडियों और टेलीविजन की तरंगें हैं, लेकिन जब तक उसके पास रेडियों और उसका एरियल, टी.वी. और उसका एंटीना नहीं होगा तब तक वह उन्हें देख भी नहीं सकेगा और सुन भी नहीं सकेगा। परन्तु ज्योंहि ये साधन सामग्रियाँ उपलब्ध होंगी वह उन्हें देखने और सुनने में सफल हो जायेगा। ठीक इसी प्रकार साधक को सिद्ध या परमात्मा बनने हेतु अथवा परमात्म स्वरूप के साक्षात्कार के लिए अपने हृदय में सत्य और श्रद्धा का एरियल अथवा एंटीना लगाने की अपेक्षा है।

तत्त्वतः एक सत्य से दूसरे सत्य की ओर अनवरत अनिरूद्ध गति ही जीवन की जीवन्तता है। महाकवि शेक्सपियर के शब्दों में "जिंदगी की कीमत जीने में है जीवन बिताने में नहीं"। सचमुच जीवन एक ऊर्जा है, एक महाशक्ति है, एक रहस्य है, एक साधना है और आनंद का एक महाग्रंथ है। सत्य की दिशा में प्रस्थित जीवन ही दिव्य एवं अभिनंदनीय हो सकता है। ऐसे जीवन की आराधना ही मानव जीवन की सर्वोपरि साधना और उपलब्धि है जैसा कि जैन आगमों में कहा गया है—

**"पुरिसा परमचक्खू विप्परकम्मा"**

अर्थात् पुरुष! तू परम चक्षु—अन्तर्दृष्टि को जगा और आत्मा से परमात्मा बनने की दिशा में विशेष पुरुषार्थ कर। आचार्य श्री महाप्रज्ञजी ने अतुलातुला (पृ. २०४) में इसी सत्य को उद्भाषित करते हुए लिखा है—

"सत्यात् परो नो परमेश्वरोऽस्ति"—सत्य से बढ़कर कोई ईश्वर नहीं है।
"सत्यस्य पूजा परमात्मपूजां—सत्य की पूजा परमात्मा की पूजा है।
इसी सत्य को परिभाषित एवं व्याख्यायित करते हुए महाप्राण महामना

आचार्य श्री महाश्रमणजी ने लिखा है—"वीतराग की साधना कषाय विजय की साधना है, एक शब्द में कषाय, दो शब्दों में राग-द्वेष, चार शब्दों में क्रोध, मान, माया, लोभ को जीतना मोह विजय और वीतरागता है।" किसी उर्दू शायर की निम्नोक्त पंक्तियों में भी इस सत्य को खोजा जा सकता है—

**खुदा की तस्वीर दिल के आइने में है।**
**जब चाहो गर्दन झुका कर देख लो ॥**

यद्यपि वीतराग परमात्मा की अनुत्तरता निर्बन्ध और शब्दातीत है फिर भी भक्त अपनी कर्म निर्जरा के साथ-साथ अपने मन को प्राञ्जल, परिमार्जित और निर्मल बनाने हेतु अपने भावों और शब्दों को स्तुतियों या मंत्रों के चौखट में बांधकर अपनी वाणी को मुखर करता है। यह विज्ञान सिद्ध निर्विवाद तथ्य है कि शब्द में अपरिमेय और अचिन्त्य शक्ति विद्यमान रहती है। कहा जाता है कि शंख ध्वनि से २२०० फीट क्षेत्र प्रदूषण मुक्त हो जाता है। तीर्थंकरों की देशना (प्रवचन) से छह माह तक बारह योजन की दूरी में अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी आदि प्राकृतिक प्रकोप तथा बीमारियां नहीं होती हैं। आज तो ध्वनि तरंगों की बात को गहराई से जाना जा सकता है। कहते हैं कि एक प्रकार की ध्वनि के कारण कोणार्क के मंदिर में दरारें पड़नी शुरू हो गई हैं। रेडियो ऊर्जा से न केवल हमारी धरती पर दूर-दूर की आवाज़ों को सुना जा सकता है पर दूसरे ग्रहों-उपग्रहों तक संप्रेषित कर उनके रहस्यों को भी अनावृत्त किया जा सकता है।

मनुष्य के शरीर और मन पर भी ध्वनि का गहरा प्रभाव पड़ता है। इसी परिप्रेक्ष्य में मंत्र शास्त्र का अध्ययन यह निष्कर्ष देता है कि मंत्रों के शब्द संयोजन के वैशिष्ट्य से ही सामर्थ्य उद्‌भूत होता है। वर्णमाला का प्रत्येक अक्षर स्वयं न शुभ होता है और न ही अशुभ किंतु उसमें शुचिता एवं अशुचिता विरोधी एवं अविरोधी वर्णों के योग से आती है। बीजाक्षरों में उपकारक एवं दग्धाक्षरों में घातक शक्ति निहित होती है। शब्दों के ध्वन्यात्मक प्रभावों की तरह उनके वर्ण समूहात्मक प्रभाव को भी विभिन्न अनुभव क्षेत्रों में प्रत्यक्ष होते पाया गया है। यद्यपि सब अक्षरों में मंत्र बनने का सामर्थ्य है किंतु उनका उचित संयोजन करने वाला मंत्रवेत्ता दुर्लभ होता है।

**अमंत्रमक्षरं नास्ति, नास्ति मूलमनौषधम् ।**
**अयोग्यः पुरुषो नास्ति, योजकस्तत्र दुर्लभः ॥**

मंत्र में प्रायोजित अक्षर वर्ण अथवा उसके समूहात्मक शब्दों का संयोजन मात्र ही कार्य साधक शक्ति हो, केवल ऐसी बात भी नहीं है। इनमें समानान्तर

अन्य अनेक अप्रकट शक्तियां भी कार्य करती हैं, वे हैं–

- मंत्र योजक का मनोभाव
- उसकी लोकोपकारक वृत्ति
- उसका तपोबल
- उसका निश्छल सद्भाव
- उसकी निर्मल सदाशयता
- उसका मंत्र शक्ति के प्रति अखण्ड विश्वास

लोगस्स में उक्त सभी विशेषताओं का समवेत्, समायोजन होने के कारण इसकी शक्ति एवं शुचिता अनुपम है, अद्वितीय है। यह आगम वाणी स्वाध्याय, ध्यान, जप, कायोत्सर्ग, अनुप्रेक्षा, स्तुति, प्रायश्चित विशुद्धि इत्यादि अनेक रूपों में साधना के क्षेत्र में प्रयुक्त और पुनरावर्तित होती रहती है।

ध्वनि पुद्गल की पर्याय है, जो 'वीचि तरंग न्यायेन' प्रसारित होती है। अर्थात् ध्वनि एक जगह से दूसरी जगह लहरों के माध्यम से पहुँचती है। यह जैन दर्शन की धारणा विज्ञान सम्मत्त है। मंत्र जप के रूप में किसी भी मंत्र की पुनरावृत्ति की महत्ता को कर्ण अगोचर तरंगों से समझा जा सकता है। इन तरंगों की उत्पत्ति हेतु ओसीलेटर यंत्र का मुख्य भाग–बिल्लोर की प्लेट को बिजली की ए.सी. धारा से जोड़ने पर उसकी सतह कंपन करने लगती है। इस प्लेट का कंपन प्रति सैकण्ड कई लाख से कम नहीं होता। इस प्रकार सतह के कंपन के कारण चारो ओर की वायु में शब्द की सूक्ष्म लहरें उत्पन्न हो जाती हैं। एक सैकण्ड में लाख शब्द का बोलना तो मनुष्य की शक्ति से परे है अतः साधक मंत्र की तरंगों को कर्ण अगोचर बनाने हेतु उसे हजारों लाखों बार पुनरावर्तित करता है।

कुछ वर्षों पूर्व ग्राहक और नील नामक दो वैज्ञानिकों ने आस्ट्रेलिया के मोलबोर्न नगर की एक भारी भीड़ वाली सड़क पर शब्द शक्ति का वैज्ञानिक प्रयोग किया और सार्वजनिक प्रदर्शनों में सफल रहे। परीक्षण का माध्यम भी एक निर्जीव कार जिसे वे अपने इशारों से नचाना चाहते थे और यह सिद्ध करना चाहते थे कि शब्द शक्ति की सहायता से बिना किसी चालक के कार चल सकती है। हजारों की संख्या में लोगों ने देखा कि संचालक के कार 'स्टार्ट' कहते ही कार चलना प्रारंभ हो गई, 'गो' को सुनते ही गति पकड़ ली। लोग देखते ही रह गये कि निर्जीव कार के भी कान होते हैं। जैसे ही थोड़ी दूर जाकर संचालक ने कहा 'हाल्ट' तो वह कार तुरंत रुक गई।

यह कोई हाथ की सफाई का काम नहीं था वरन् उसके पीछे विज्ञान का एक निश्चित सिद्धान्त काम कर रहा था। ग्राहक के हाथ में एक छोटा सा

ट्रांजिस्टर था जिसका काम यह था कि आदेश कर्त्ता की ध्वनि को एक निश्चित फ्रीक्वेन्सी पर विद्युत शक्ति के द्वारा कार में 'डेस-बोर्ड' के नीचे लगे नियंत्रण कक्ष तक पहुँचा दे। उसके आगे 'कार-रेडियों' नाम का एक दूसरा यंत्र लगा हुआ था। इस यंत्र से जब विद्युत चुम्बकीय तरंगें टकराती तो कार के सभी पुर्जे अपने आप संचालित होने लगते हैं। लोगों ने इसे चमत्कार की संज्ञा दी परन्तु यह वास्तव में शब्द शक्ति का विकसित हैं प्रयोग था जिसे आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्तों का आधार प्राप्त था। इस प्रकार ओर भी कई आधुनिक विज्ञान के प्रयोग शब्द शक्ति के संबंध में हैं जो वैज्ञानिक अनुसंधानों के आधार पर प्राचीन शास्त्रों में वर्णित 'शब्द-शक्ति' का समर्थन करते हैं।

प्राचीन मान्यता ऐसी है कि देवताओं के विमान मंत्र की शक्ति से चलते थे इंजिन की शक्ति से नहीं। जैन आगमों में विश्लेषित अवस्थित नामक घंटा एक स्थान पर बजता है, उसकी ध्वनि से प्रकंपित होकर दूर-दूर तक हजारों लाखों घंटे बज उठते हैं अतः आज ध्वनि विज्ञान महानतम उपलब्धि माना जाता है। अतएव यह बात समझ में आती है कि मंत्र की शक्ति से कार्य का होना कोई असंगत बात नहीं है।

कुछ अनुसंधानों के आधार पर निष्कर्ष निकलता है कि सिंह में अग्नि तत्त्व की प्रधानता होने के कारण वह मांस भक्षी होता है और गाय में पृथ्वी तत्त्व की प्रधानता होने के कारण वह मांस भक्षी नहीं है।

शब्द विज्ञान सिद्ध करता है कि 'खं' शब्द का जप करने से आकाश तत्त्व की अभिवृद्धि होने के कारण कौटुम्बिक-कलह-संघर्ष में शांति लाई जा सकती है। इसका कारण है शरीर में तत्त्वों की सजातीयता होती है तो पराये भी अपने बन जाते हैं और विजातीयता होती है तो सहोदर भी शत्रु बन जाते हैं।

एक अन्य शोध के अनुसार 'बं' का सवा लाख उच्चारण करने से जोड़ों का दर्द, वमन, कफ, गैस डाइबिटिज आदि बीमारियों से मुक्ति पाने में सहारा मिलता है।

ला ला...के उच्चारण में गंठिया रोग निवारण की अद्भुत क्षमता पाई गई है।

इसी प्रकार 'सं' ध्वनि अथवा 'हूँ' ध्वनि से लीवर की स्वस्थता, 'ह्रां' ध्वनि से फेफड़ों की स्वस्थता, 'ह्रैं' ध्वनि से कण्ठ की स्वस्थता, 'ह्रः' ध्वनि से मस्तिष्क की स्वस्थता तथा स्मरण शक्ति का विकास होता है। 'ह्रीं' ध्वनि से (दर्शन-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर) दर्शन विशुद्धि के साथ-साथ प्रभावशाली आभामंडल का निर्माण होता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने एक जगह लिखा है लं...लं...लं यह

लयबद्ध जाप हृदय रोग की समस्या के लिए महान औषध है। "हां हीं हूं हों हं हः" हृदय के लिए यह उपयोगी मंत्र है यह अनेक लोगों के अनुभवों से प्रमाणित है। 'ॐ अर्हं' (आनंद-केन्द्र पर) ध्वनि ब्रह्मचर्य की सिद्धि के लिए उत्तम है।

ये सारे संदर्भ इस तथ्य को पुष्ट करते हैं कि किसी भी द्रव्य की ऊर्जा को पकड़ने और उसको दूसरों तक पहुँचाने के लिए उस वस्तु में विद्यमान विद्युत क्रम को समझने की अपेक्षा रहती है। इसके लिए प्राचीन ऋषियों ने एक विधि निकाली। उन्होंने अग्नि को जलते हुए देखा। अग्नि की तीव्र लौ से 'र' ध्वनि का उन्होंने साक्षात्कार एवं श्रवण किया। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अग्नि से 'र' ध्वनि उत्पन्न होती है अतः 'र' से अग्नि उत्पन्न की जा सकती है। बस 'र' अग्नि बीज के रूप में मान्य हो गया। इसी प्रकार पृथ्वी की स्थूलता से 'लं' ध्वनि का निर्माण हुआ। कोई तरल पदार्थ जब स्थूल होने की प्रक्रिया से गुजरता है तो 'लं' ध्वनि होती है। जल प्रवाह से 'वं' ध्वनि प्रकट होती है और 'वं' से जल भी पैदा किया जा सकता है। रडार आदि का आविष्कार इसी प्रक्रिया के बल पर हुआ था।

मंत्र वादियों तथा मंत्र द्रष्टाओं ने इन्हीं तत्त्वों एवं तथ्यों के अनुसार मंत्रों की रचनाएं की हैं। इस प्रकार वर्णों को शक्ति समुच्चय के साथ पकड़ा गया। उदाहरणार्थ लोगस्स के प्रथम परमेष्ठी वाची 'अर्हं' (अरहंत) शब्द को ही लें। अहं मूल शब्द था। अहं में 'अ' प्रपंच जगत का प्रारम्भ करने वाला है और 'ह' उसकी लीनता का द्योतक है। अहं के अन्त में बिंदु (.) यह लय का प्रतीक है। बिंदु से ही सृजन है और बिंदु में ही लय है। योगियों ने अनुभव किया सृजन और मरण की इस क्रिया में जीवन शक्ति का अभाव है अर्थात् जीवन शक्ति को चैतन्य देने वाली अग्नि शक्ति का अभाव है अतः ऋषियों ने 'अहं' को अर्हं का रूप दिया। उसमें अग्नि-बीज शक्तिवाची 'र' को जोड़ा। इससे जीवात्मा को उठकर परमात्मा तक पहुँचने की शक्ति प्राप्त हुई। इस प्रकार 'अर्हं' का विज्ञान बड़ा सुखद आश्चर्य पैदा करने वाला सिद्ध हुआ। 'अ' प्रपंच जीव का बोधक। बंधन बद्ध जीव का बोधक है और 'ह' शक्तिमय पूर्ण जीव का वाचक है लेकिन 'र' क्रियमाण क्रिया से युक्त—उद्दीप्त और परम उच्च स्थानों में पहुँचे परमात्म तत्त्व का बोधक है।

इस प्रकार विभिन्न कार्यों के लिए शब्दों को मिलाकर मंत्र बनाये जाते हैं। मंत्रों के प्रकार, प्रयोजन, प्रभाव अनेक हैं। उनको विधिवत समझने और जीवन में उतारने का संकल्प होने पर मंत्र विज्ञान स्पष्ट और कार्यकर होगा। यह एक वैज्ञानिक मान्यता है कि ध्वनि का हमारे चित्त की स्थितियों और विचारों की शृंखला पर अमित प्रभाव पड़ता है। हम हमारे व्यवहारिक जीवन में यह अनुभव भी करते हैं कि मंदिर में सुनाई देने वाली वीणा या बांसुरी की तान से चित्त पवित्र

होता है तो नाटक-नौटंकी में किसी कामिनी की पायल घुंघरुओं की रूनक-झूनक से चित्त उत्तेजित भी हो उठता है। गालियां और भजन दोनों से निकलने वाले स्वरों का प्रभाव अलग-अलग होता है। इसी परिप्रेक्ष्य में 'लोगस्स' के ध्वनि प्रकंपनों एवं वर्ण समूहों को मैं एक महाशक्ति के रूप में देखती हूँ।

विशिष्ट महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि 'लोगस्स-महामंत्र' में संयोजित वर्ण समूह से चित्त में असाधारण ध्वनि तरंगें उत्पन्न होती हैं और उन असाधारण एवं चामत्कारिक तरंगों से ऋणात्मक या धनात्मक विद्युत शक्ति पैदा होती है उससे कर्म-कलंक ध्वस्त हो जाता है तथा अनेक ऋद्धियां-सिद्धियां प्राप्त होती हैं शर्त एक ही है कि अर्हत् सिद्ध परमात्मा से अद्वैत स्थापित किया जाये। यह सब साधना के प्रकर्ष से ही संभव हो सकता है।

लोगस्स का अन्वेषण एवं अभिव्यक्ति एक दिव्य साधना के रूप में उल्लिखित होने के कारण इस कृति का नाम ''लोगस्स—एक साधना'' रखा गया है। अर्हत् व सिद्ध भगवन्तों का विराट स्वरूप एक लघुकाय पुस्तक में कैसे समा सकता है? भास्कर के विश्वव्यापी आलोक को एक पक्षी अपने घोंसले में बंद करने का गर्व कैसे कर सकता है? फिर भी वह अपने घोंसले के अंधकार को तो दूर कर ही सकता है। क्या विराट महासागर में से एक-एक जल-कणों को निकालकर दिखाना उस महासागर का परिचय हो सकता है? फिर भी जो कुछ बन पाया है यह उन महापुरुषों के प्रति भक्ति के उद्‌गार तथा हार्दिक श्रद्धा का एक लघु रूप है। अर्हत्-सिद्ध भगवन्तों के प्रति मेरे अन्तस्तल में विद्यमान श्रद्धा और भक्ति ही इस रचना की पृष्ठभूमि है।

चैतन्य की अमृतकथा, लोकमंगल की भावना, अमृतत्व की खोज व प्राप्ति ही इस कृति को लिखने का उद्देश्य रहा है। कर्मों का क्षय ही चेतना को विकसित करता है। इस सत्य तथ्य को मध्य नजर रखते हुए इस ग्रंथ में संसार के बंधन और मोक्ष का समाधान प्रस्तुत करने के साथ-साथ ध्यान की प्रक्रिया का दिग्दर्शन कराया गया है तो दूसरी तरफ लोगस्स के व्यावहारिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक स्वरूप को भी अभिव्यक्त करने का प्रयास रहा है। क्योंकि विज्ञान का तथ्य तथा दर्शन का सत्य साहित्य के धरातल पर सुन्दर का रूप धारण कर जन सामान्य के लिए आह्लादक बन जाता है।

संयम पर्याय के पच्चीस वर्षों की परिसमाप्ति पर वीर भूमि बीदासर में जब मैंने नमस्कार महामंत्र भाग १ व भाग २—दोनों पुस्तकें श्रीचरणों में समर्पित की तब चारों तरफ से अपनी दिव्य ज्योत्सना से आह्लादित कर गुरुदेव (आचार्यश्री महाप्रज्ञजी) ने अपने चरणों की इस नन्हीं सी रजकण को पुरुषार्थी बनने का सामर्थ्य प्रदान करते हुए कहा—''पुण्ययशा का अध्ययन अच्छा है, यह कुछ न कुछ

करती रहती है, इस वर्ष ओर अधिक विकास करो"। इसी क्रम में मातृ हृदया महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाश्री जी ने आशीर्वाद की एक पंक्ति में लिखा–"साध्वी पुण्ययशाजी के श्रम की सार्थकता इसी में है कि उनके मन में पुरुषार्थ की लौ जलती रहे।" उस प्रसन्न मुद्रा और संजीवनी प्रदान करने वाले इन आशीर्वचनों से मेरी कार्यशीलता को जो गति मिली, जो प्राणों को अभिनव ऊर्जा मिली कृतज्ञता ज्ञापित करने में शब्द असमर्थ हैं। मैं लोगस्स की भूमिका में बैठकर उस महागुरु को प्रणाम करती हूँ कि उनकी अहेतुकी कृपा एवं सहज प्रेरणा मेरे मानस मंदिर में सदैव स्फूर्त होती रहे।

ज्योंहि गुरुदेव को पुस्तकें समर्पित कर मैं शासन गौरव साध्वीश्री राजीमति जी के पास पहुँची आपने प्रसन्नता से मुझे उत्साहित करते हुए कहा–"आगे क्या करना है"? मेरे मुँह से सहज ही निकला–"लोगस्स के बारे में लिखना है।" बस उसी दिन से एक लक्ष्य बन गया कि अब अपनी चेतना को लोगस्स के अन्वेषण में अनुप्राणित करना है।

फरवरी २००६ में बीदासर से गुरुदेव का मंगलपाठ सुन हमने जोधपुर (सरदारपुरा) चातुर्मास हेतु विहार किया। दो दिवस पश्चात् लाड़नू पहुँचते ही गुरुबल और गुरु शक्ति को आधार बनाकर मैंने लोगस्स पर लिखना शुरू किया। गुरु के कृपा भरे आशीर्वाद से शिष्य की शक्ति और कर्मठता को विशेष गतिशीलता मिलती है, यह मैंने पग-पग पर अनुभव किया है। लक्ष्य, लगन और लेखन की तत्परता के साथ-साथ मुझे व्यक्त अव्यक्त गुरुबल से सतत् मार्गदर्शन मिलता रहा है। कल्पना ही नहीं थी कि इतना शीघ्र यह कार्य हो जाएगा। क्योंकि नमस्कार महामंत्र पर तो बहुत साहित्य सामग्री उपलब्ध हुई थी। परन्तु लोगस्स पर कोई विशेष साहित्य नहीं मिला। फिर भी गुरुबल और संकल्प-बल मेरे साथ था। इसलिए छुट-पुट सामग्री मिलती रही और उत्साह पूर्वक लेखन का कार्य चलता रहा। इस मध्य कुछ दिन हमारा नीमच (M.P.) में रहना हुआ। वहाँ प्रोफेसर S.L. नाहर (शांतिलालजी नाहर) का सहज योग मिल गया। उन्होंने इस कृति को परिष्कृत, परिमार्जित एवं संशोधित करने में अपना समय और श्रम लगाया। प्रोफेसर नाहर द्वारा प्रदत्त कुछ सुझावों ने मेरी लेखनी को सुदृढ़ बनाया। कदम-कदम चलते-चलते लगभग डेढ़ वर्ष में यह प्रयास 'लोगस्स–एक साधना' भाग 1 व भाग 2 के रूप में सफल हो गया।

इसमें लोगस्स साधना के जिन-जिन प्रयोगों को दर्शाया गया है वे अधिकांश प्रयोग महायोगी आचार्य श्री महाप्रज्ञजी के साहित्य से प्राप्त किये गये हैं और काफी प्रभावी भी पाये गये हैं।

'लोगस्स' अपने भीतर अनंत-अनंत संभावनाएं समेटे हुए है अतः

'लोगस्स—एक साधना'—भाग-1पुस्तक भी पाठक में विकास की अनंत-अनंत संभावनाएं खोजती-सी प्रतीत होगी। सिद्ध भगवन्त अनंत है मेरी वंदना की भाव उर्मियां भी अनंत हैं अतः हृदय से मैं नतमस्तक हूँ 'चतुर्विंशति-स्तव' (अर्हत्-सिद्ध परमात्मा) के प्रति जिसमें अवगाहन कर मुझे बहुत कुछ पाने का सुअवसर मिला है।

गण या गणि के अनंत उपकारों से उपकृत, आचार-निष्ठ, संघ व संघपति के प्रति समर्पित, तत्त्वज्ञान व संस्कार प्रदात्री स्वर्गीया साध्वी श्री सुखदेवांजी एवं स्वर्गीया तपस्विनी साध्वी श्री भत्तूजी के जीवन से मुझे जो मिला उसे कभी नहीं भुलाया जा सकेगा। मुझे सहज ही गौरव की अनुभूति होती है कि गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी ने जीवन निर्माण के उन अपूर्व क्षणों में मुझे उन कलात्मक हाथों में सौंपा जिससे यह लघुकृति निर्मित हो पाई।

मैं श्रद्धावनत हूँ गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी के प्रति जिन्होंने निःस्वार्थ भाव से सूर्य की तरह मेरे जीवन पथ को आलोकित किया। चंद्रमा की तरह संसार दावानल में विदग्ध को शीतलता प्रदान की। गंगा की तरह पापों का शमन किया। अनंत विस्तृत आकाश की तरह अपनी छाया में शरण दी।

श्रद्धासिक्त प्रणति है आचार्य श्री महाप्रज्ञजी के पावन पादारविन्दों में जिनकी अतीन्द्रिय चेतना से निःसृत पावन रश्मियों के उजास ने मेरे पथ को प्रशस्त किया है।

मैं प्रणत हूँ आचार-निष्ठा एवं अध्यात्म-निष्ठा के प्रतीक तथा वाणी के अल्प प्रयोग में बहुत कुछ कह देने की क्षमता धारण करने वाले अविचल धृतिधर परम पूज्य आचार्यश्री महाश्रमणजी के चरण कमलों में जिनकी दिव्य दृष्टि और करुणादृष्टि मेरी संयम-साधना और साहित्य-साधना दोनों को आलोकित कर रही है।

पूज्य प्रवर ने व्यस्ततम क्षणों में भी महती कृपा कर कृति का अवलोकन किया और आशीर्वचन प्रदान किया। इससे कृति का प्रत्येक पृष्ठ, पंक्ति और अक्षर गौरवान्वित हुआ है।

नतमस्तक हूँ अहर्निश सारस्वत साधना में संलग्न संघ महानिदेशिका आदरणीया महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी के प्रति जिनके वात्सल्य नेत्र हमें सतत प्रोत्साहित करते रहते हैं।

मैं आभारी हूँ आदरणीया मुख्य नियोजिकाजी के प्रति, जिन्होंने सदैव मुझे इस दिशा में उत्साहित रखा।

मैं बहुत-बहुत आभारी हूँ शासन गौरव साध्वीश्री राजीमतिजी की जिनकी पावन प्रेरणा ने मुझे अपने जीवन के विराट लक्ष्य से जुड़े लोगस्स महामंत्र में अभिस्नात करने के लिए प्रेरित किया।

अत्यन्त कृतज्ञ हूँ अग्रगामी साध्वीश्री सरोजकुमारीजी की जिनका पूरा-पूरा सहयोग व मार्गदर्शन मुझे बराबर मिलता रहा। कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ साध्वी श्री चन्द्रलेखाजी, साध्वी श्री प्रभावनाजी एवं साध्वी श्री सोमप्रभाजी के प्रति जिनका व्यक्त-अव्यक्त सतत सहयोग मिलता रहा।

मैं नहीं भूल सकती प्रोफेसर S.L. नाहर को जिन्होंने इस कृति को समृद्ध बनाने में अपना समय लगाया। कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ साध्वी श्री शुभप्रभाजी के प्रति, जिन्होंने इस कृति को सजाने, संवारने एवं समृद्ध बनाने में श्रम लगाया है। प्रूफ संशोधन में महिला मंडल अध्यक्षा, पेटलावद, श्रीमति ललिता भंडारी एवं कन्यामंडल संयोजिका, पेटलावद, सुश्री खुशबू मेहता तथा सुश्री शिल्पा मारु, पेटलावद ने निष्ठा से श्रम और समय लगाया है।

अन्त में मैं उन सब विद्वद् रचनाकारों की हृदय से आभारी हूँ जिनकी साहित्य स्रोतस्विनी में यत्-किञ्चित् अवगाहन कर मुझे लोगस्स को समझने की दिव्य दृष्टि मिली। जो पढ़ा, समझा, अनुभव किया वही संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है। प्रेस संबंधी दायित्व के निर्वहन में पेटलावद महिला मंडल की मंत्री श्रीमति प्रमिला कासवा ने जो श्रम और सहयोग किया है, उसे भी भुलाया नहीं जा सकता। आदर्श साहित्य संघ (केशव प्रसाद चतुर्वेदी) ने कृति के टंकण से लेकर प्रकाशन तक के कार्य को शीघ्रताशीघ्र कर मेरे कार्य में सहयोग किया है।

यह कृति पाठक के हृदयाम्बुधि में आनंद की उर्मियों का सृजन करेगी। अस्तित्व बोध के आत्मलक्षी बिंदु से इसके पाठक आत्मा की समता और चित्त की निर्मलता को उत्तरोत्तर विकसित करते रहे। इसी भावना के साथ 'लोगस्स' जो अनंत-अनंत आस्थाओं का केन्द्र है इसके विषय में मेरा स्वकथ्य क्या हो सकता है, केवल नमन...नमन...अन्तहीन नमन।

मैं निरन्तर शील और श्रुत के निर्झर में अभिस्नात होती रहूँ, इन्हीं मंगल भावों के साथ हृदय सम्राट आचार्य श्री महाप्रज्ञजी की निम्नोक्त पंक्तियों से यह स्वकथ्य स्वतथ्य बने, गुरुदेव के इसी आशीर्वाद के साथ–

**तुम निरुपद्रव, हम निरुपद्रव, तुम हम सब है आत्मा,**
**तव जागृत आत्मा से हम सब बन जाएं परमात्मा।**
**ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रं ह्रः अंतर-मल धुल जाए ॥**
**चैत्यपुरुष जग जाए ॥**

इंदौर
१७-अगस्त-२०१०

**साध्वी पुण्ययशा**

# चउवीसत्थव (चतुर्विंशतिस्तव)

लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे ।
अरहंते कित्तइस्सं, चउवीसंपि केवली ॥१॥
उसभमजियं च वंदे, संभवमभिनंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥२॥
सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअल सिज्जंस वासुपूज्जं च ।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥३॥
कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमि जिणं च ।
वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च ॥४॥
एवं मए अभिथुआ, विहुयरयमला पहीणजरमरणा ।
चउवीसंपि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥५॥
कित्तिय वंदिय मए, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
आरोग्ग बोहि लाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥६॥
चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।
सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥७॥

# अनुक्रम


१. अध्यात्म स्तवन और भारतीय वाङ्मय-१ १
२. अध्यात्म स्तवन और भारतीय वाङ्मय-२ १०
३. जैन वाङ्मय में स्तुति २३
४. शक्र स्तुति—स्वरूप मीमांसा ३४
५. स्तुति और मनोविज्ञान ४६
६. लोगस्स एक सर्वे ६०
७. लोगस्स एक विमर्श ७५
८. लोगस्स देह संरचना के रहस्य ८६
९. लोगस्स के संदर्भ में ध्वनि की वैज्ञानिकता १०३
१०. लोगस्स स्वरूप मीमांसा १११
११. लोगस्स एक धर्मचक्र-१ १२५
१२. लोगस्स एक धर्मचक्र-२ १४०
१३. नाम स्मरण की महत्ता १५९
१४. तित्थयरा मे पसीयंतु १७८
१५. लोगस्स : रोगोपशमन की एक प्रक्रिया १९१


**परिशिष्ट-१**


१. श्री पैंसठिया यंत्र और छंद २१५
२. चौबीस तीर्थंकर आनुपूर्वी २१८
३. तीर्थंकरों के शासन में केवलज्ञानी साधु-साध्वियों की संख्या २२१
४. तीर्थंकरों के शासन में तीर्थंकर गोत्र का बंध करने वाले पुण्यात्मा २२१
५. तीर्थंकरों की प्रथम देशना का विषय २२२


**परिशिष्ट-२**


१. उद्धृत, उल्लिखित एवं अवलोकित ग्रंथों की तालिका २२३

# १. अध्यात्म, स्तवन और भारतीय वाङ्मय–१

**भारत सदैव त्याग और वैराग्य का केंद्र स्थल रहा है। आज तक जो भी विभूतियां संसार में पूजनीय, वंदनीय एवं स्मरणीय बनी हैं, उनके जीवन में नैसर्गिक अध्यात्मवाद कूट-कूट कर भरा रहा है। निस्संदेह भौतिक-विज्ञान की अपेक्षा आत्म-विज्ञान कहीं अधिक सूक्ष्म, गहन और कल्याणकारी है। यह सदा-सर्वदा हितकर और मंगलप्रद रहा है। इसमें कभी, कहीं, किसी तरह से अहित की संभावना नहीं रहती है। मानव विकास की चरम परिणति भौतिकवादी अभ्युत्थान में नहीं, वरन आध्यात्मिक गतिशीलता और आत्म-कल्याण में ही है। आध्यात्मिक स्फुरणा को सतत गतिशील बनाए रखने में यद्यपि संतों की विभिन्न परंपराओं में आचार-विचार विषयक यत्किंचित मतभेद परिलक्षित होता रहा है, पर आत्म-कल्याण सबका लक्ष्य रहा है।**

भारत देश विश्व शांति तथा मानवता का मार्ग बताने वाले महापुरुषों–राम, कृष्ण, महावीर और बुद्ध की भूमि रहा है। जिन्होंने समग्र संसार को शांति, नीति, ज्ञान और चारित्र आदि मानवीय मार्ग का सच्चा दर्शन दिया। अनादिकाल से ही यहां ज्ञान-विज्ञान की गवेषणा, अनुशीलन एवं अनुसंधान होता रहा है। विश्व सभ्यता के इतिहास में अपनी गौरवमयी सांस्कृतिक परंपराओं एवं आध्यात्मिक चिंतन धाराओं के लिए भारत प्रसिद्ध रहा है।

काल-चक्र के प्रवाह में विश्व-पटल पर अनेक संस्कृतियां एवं विचारधाराएं उभरीं और विलुप्त हुईं, पर भारत की महान सांस्कृतिक परंपराएं अपने आध्यात्मिक वैभव को संजोए हुए अविच्छिन्न रूप में आज तक चली आ रही हैं। इन गौरवपूर्ण परंपराओं को सजीव, गतिशील एवं चेतना संपन्न बनाए रखने में यहां के ऋषि-मुनियों, संतों व आचार्यों का विशेष मार्ग-दर्शन रहा है। चूंकि तीर्थंकर, बुद्ध, गुरु, साधु-संत तथा महापुरुष स्वयं अनुशासन में ही रहते हैं, अतः दूसरों को भी अनुशासन की प्रेरणा व शिक्षा देते हैं और वह कारगर भी होती है।

अध्यात्म-संपदा की दृष्टि से संसार का कोई भी देश या राष्ट्र भारत की तुलना नहीं कर सकता। इसकी अपनी अनेक विशेषताएं हैं। विश्वभर में भारतीय

संस्कृति बेजोड़, अद्वितीय व असाधारण मानी जाती है। इस भारतीय संस्कृति का सर्वाधिक सबल व श्रेष्ठ पहलू है—नमन की संस्कृति।

## सत्यं शिवं सुंदरम्

भारत अवतारों की जन्म-भूमि, संतों की पुण्यभूमि, योगियों की योगभूमि, वीरों की कर्मभूमि और विचारकों की आधारभूमि रहा है। इस धरा के कण-कण में सौरभ, सुषमा, सौंदर्य एवं संगीत के स्वर हैं। आत्मा में ममत्व, माधुर्य तथा आकर्षण है और संस्कृति में वैभव, वीरता, त्याग एवं बलिदान का सौष्ठव है। सचमुच भारत अमृत-कुंभ है। इसे अहिंसा व सत्य का महाकुंभ कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। संक्षेप में कहें तो भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता हिमालय के समान ऊंची, विशाल और अडिग रही है। यह भूमि महासागर के समान समृद्ध तथा पृथ्वी के समान गंभीर और प्राचीन है। महर्षि देवेंद्रनाथ टैगोर के **'सत्यं शिवं सुंदरम्'** का यह देश—जिसका लक्ष्य सच्चिदानंद रहा है—भारतीय संस्कृति, सभ्यता, साहित्य, धर्म, समाज और दर्शन का प्राण हैं।

यहां अनेक समाज-रत्न, नर-रत्न, धर्म-रत्न, राष्ट्र-रत्न और देश-भक्त पैदा हुए हैं। जिन्होंने मानव-मन की शुष्क धरा पर स्नेह की सुर-सरिता प्रवाहित की है तथा जन-मन में संयम और तप की ज्योति जलाई है। अपनी साधना, तप-त्याग व पुरुषार्थ के बल पर उन्होंने मानवता के अनेक कार्य किए हैं और अध्यात्म का पथ प्रदर्शित किया है तथा स्व-पर का कल्याण किया है। पुष्प की सुरभि, चंद्रमा की शीतलता एवं सूर्य का प्रकाश और तेज यद्यपि उनके साथ ही बंधे रहते हैं। महापुरुषों के गुण-सुवास, सौम्य-स्वभाव और ज्ञान का प्रकाश उनके साथ तो रहते ही हैं, पर जब वे महापुरुष अपनी साधना व कर्तव्य का पालन करते हुए इस धरती से चले जाते हैं, तब भी उनके असाधारण गुण युगों-युगों तक संसार को सुवासित और प्रकाशित करते रहते हैं।

भारत सदैव त्याग और वैराग्य का केंद्र स्थल रहा है। आज तक जो भी विभूतियां संसार में पूजनीय, वंदनीय एवं स्मरणीय बनी हैं, उनके जीवन में नैसर्गिक अध्यात्मवाद कूट-कूट कर भरा रहा है। निस्संदेह भौतिक-विज्ञान की अपेक्षा आत्म-विज्ञान कहीं अधिक सूक्ष्म, गहन और कल्याणकारी है। यह सदा-सर्वदा हितकर और मंगलप्रद रहा है। इसमें कभी, कहीं, किसी तरह के अहित की संभावना नहीं रहती है। मानव विकास की चरम परिणति भौतिकवादी अभ्युत्थान में नहीं, वरन आध्यात्मिक गतिशीलता और आत्म-कल्याण में ही है। कहा भी है—

**संत ग्रंथ अरु पंथ सब, बात बतावत तीन।**
**हृदय हरि दिल में दया, तन सेवा में लीन ॥**

आध्यात्मिक स्फुरणा को सतत गतिशील बनाए रखने में यद्यपि संतों की विभिन्न परंपराओं में आचार-विचार विषयक यत्किंचित मतभेद परिलक्षित होता रहा है, पर आत्म-कल्याण सबका लक्ष्य रहा है। इसकी साक्षी में निम्नोक्त पंक्तियां मननीय एवं स्मरणीय हैं—

**मान धाम धन नारि सुत, इनमें जो न असक्त।**
**परमहंस तहि मानिए, घर बैठे ही विरक्त।**

भारत जहां हिंदू, बौद्ध और जैन—इन प्रमुख धर्म-मान्यताओं का जन्म-स्थल रहा है, वहीं इसकी समन्वयात्मक विशेषता ने इस्लाम, ईसाइयत आदि अन्य कई मान्यताओं को भी स्थान दिया है। अनेक धर्म-संप्रदाय, विभिन्न भाषा, रीति-रिवाज, पहनावा आदि के बावजूद इस देश की एकता, अखंडता एक विशेष पहचान रहे हैं।

## रहस्यमय हैं सब धर्मों के प्रतीक

विभिन्न संप्रदायों की पहचान के अलग-अलग माध्यम हैं। जैसे चोटी, जनेऊ, दाढ़ी, केश, 'क्रॉस'। ये मात्र धार्मिक परंपराओं को ही अभिव्यक्त करने वाले हैं, न कि आदमी को आदमी से अलग-अलग करने वाले। इन सब धर्मों के ये प्रतीक भी बहुत रहस्यमय हैं। यदि इन रहस्यों को समझकर धर्म की आराधना की जाए तो व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक संबंधों में आमूल-चूल परिवर्तन घटित हो सकता है।

जैसे—जनेऊ के तीन धागे ही लें। ये अज्ञान, अन्याय तथा अभाव के विरुद्ध संकल्पबद्ध होकर संघर्ष करने के प्रतीक हैं। ये ईश्वर, जीव और प्रकृति के रूप हैं। ये मन, वाणी और शरीर को अनुशासन के सूत्र में पिरोए रखने का निर्देश देते हैं। इसी तरह ईसाई धर्म का 'क्रॉस' सत्य के लिए सूली पर चढ़ कर आत्मोत्सर्ग की भावना का द्योतक है। इस्लाम का हरा रंग व उगता हुआ चाँद नई उत्पत्ति, विकास व काल-गणना का प्रतीक है। सिक्ख धर्म के पांच ककार—केश, कड़ा, कंघा, कच्छा और कटार भी शौर्य, शुचिता तथा अन्याय के विरुद्ध संघर्ष के संकल्प का प्रतीक हैं।

जैन धर्म का प्रतीक संपूर्ण जीव-जगत को अहिंसा, मैत्री, अभयदान देने तथा 'परस्परोपग्रहो' का संदेश देता है। जैन प्रतीक में स्वस्तिक को त्रिलोक के आकार में, पुरुषाकार में अपनाया गया है, जिसका जैन-शासन में महत्त्वपूर्ण स्थान

है। स्वस्तिक चिह्न सर्वथा मंगलकारी है। स्वस्तिक में ऊपर तीन बिंदु त्रिरत्न के द्योतक हैं। जो सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-चारित्र को दर्शाते हैं। त्रिरत्न के ऊपर अर्द्धचंद्र सिद्धशिला को दर्शाता है। स्वस्तिक के नीचे जो हाथ दर्शाया गया है, वह संसारी जीवों को जन्म, जरा और मरण के भय तथा दुखों के कारणों से दूर कर अभय का आश्वासन देता है। अभयहस्त के बीच में जो चक्र दर्शाया गया है, वह अहिंसा का धर्मचक्र है। चक्र के बीच में 'अहिंसा' शब्द लिखा हुआ है। वह धर्म का केंद्र-बिंदु होने के आशय को दर्शाता है। चक्र के चौबीस 'आरे' समय (काल) के चक्र के 'आरे' के रूप में हैं। ये 'आरे' अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी के काल-चक्र को सूचित करते हैं एवं स्याद्वाद और अनेकांतवाद की सूक्ष्म दृष्टियों से वस्तु के हर पहलू को समझने और तदनुरूप आचरण करने का संदेश देते हैं। प्रतीक के नीचे संस्कृत वाक्य 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' अंकित है। यह भारतीय संस्कृति का मूल केंद्र-बिंदु और जैन परंपरा का ज्वलंत सूत्र है। इसका तात्पर्य है—जीवन में परस्पर उपकार, सहकार व सहयोग करना। यह सूत्र युगों-युगों से संपूर्ण मानव जगत को शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व और पंचशील सिद्धांत को मानने तथा उस पर अमल करने की प्रेरणा देता रहा है और आज भी दे रहा है।

## धर्मों के प्रतीक चिह्न

ईसाई धर्म
का क्रॉस

इस्लाम धर्म का
उगता चांद तथा
शुभ संख्या

सिक्ख धर्म के
पांच ककार
केश, कड़ा, कंघा,
कच्छा, कटार

जैन धर्म का प्रतीक
लोक के आकार में
अभयहस्त, स्वस्तिक
और सिद्धशिला

बौद्ध धर्म का
धर्मचक्र

वस्तुतः धर्म शास्त्रों एवं धर्म प्रणेताओं की यह पवित्र दृष्टि ही धर्म के मूल तत्त्वों—सत्य, न्याय, करुणा, क्षमा, उदारता, संवेदनशीलता एवं आत्म-संयम को जन्म देती है।

## स्तुति का वैविध्य

भारत की सभी अध्यात्मवादी परंपराएं आत्म-साधना की प्रबल प्रेरणा प्रदान करती हैं। धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि सभी शास्त्रों में 'मानव-भव' को अमूल्य बताया गया है। जैनों के उत्तराध्ययन, बौद्धों के धम्मपद, शंकराचार्य के विवेक-चूड़ामणि, मुस्लिमों के कुरान, वैदिकों के वेद-उपनिषद्, वैष्णवों के रामायण-महाभारत, ईसाइयों के बाइबिल, सिक्खों के गुरुग्रंथ साहिब, पारसियों के अवेस्ता और आर्य समाज के सत्यार्थ-प्रकाश आदि ग्रंथों में 'मानव-भव' को दुर्लभ बताकर मानवता की प्रेरणा दी गई है। रामचरितमानस में गोस्वामी संत तुलसीदास ने भी इसी सत्य को दर्शाया है–

**बड़े भाग मानुष तन पावा ।**
**सुर दुर्लभ सब ग्रंथहि गावा ॥**

निश्चय ही मोक्ष प्राप्ति का साधन यह मानव तन ही है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु विविध प्रकार की आराधनाएं, अभ्यास-पद्धतियां एवं स्तुतियां उपलब्ध हैं। अपनी विवेकशीलता, न्यायप्रियता, सहिष्णुता, वीरता, त्याग एवं परोपकारिता आदि गुणों के कारण ही आज राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, जीसस, मोहम्मद, गुरु नानक इत्यादि महापुरुष भारतीय संस्कृति में स्तुत्य रहे हैं। तुलसीदासजी ने यथार्थ ही कहा है–

**संत समागम हरि कथा, तुलसी दुरलभ दोय।**
**धन, यौवन, सुत, नारी, गृह ये तो जग के होय ॥**

रामायण में हनुमान की महिमा भगवान राम के एक वीर आज्ञाकारी के रूप में की गई है। लाखों भारतीय श्रीराम और उनके प्रिय हनुमान की पूजा करते हैं, स्तुति करते हैं। वैदिक परंपरा में वंदन को सद्गुण की वृद्धि हेतु आवश्यक माना है।[1] इस परंपरा में संध्या-वंदन का विधान है। यह धार्मिक अनुष्ठान सुबह-शाम दोनों समय किया जाता है। इस संध्या में विष्णु-मंत्र का जल शरीर पर छिड़क कर शरीर को पवित्र बनाने का विधान है। श्रीमद्भागवत् में नवधाभक्ति का उल्लेख है।[2] इस नवधाभक्ति में वंदन भी भक्ति का एक प्रकार बताया गया है। श्रीमद्भागवत् गीता के अठारहवें अध्याय में **'मा नमस्कुरु'** कह कर श्रीकृष्ण ने वंदन के लिए भक्तों को उत्प्रेरित किया है।[3] ईस्लाम धर्म में प्रतिदिन पांच बार नमाज पढ़ कर अल्लाह की स्तुति की जाती है। पारसी-जरस्थु धर्म में–'नेक मनश्नी', 'नेक गवश्नी', 'नेक कुनश्नी'–अर्थात् पवित्र विचार, पवित्र वचन और पवित्र कर्म पर बल दिया गया है। गुरु नानक के काव्य में निर्गुण उपासना का

बाहुल्य है। उन्होंने जप एवं सुमिरन के द्वारा भक्तों को मोक्ष प्राप्त करने का उपदेश दिया। सिक्ख धर्म में 'गुरुग्रंथ साहिब' की स्तुति गौरव के साथ की जाती है। जैन धर्म में 'पंच-परमेष्ठी' की स्तुति व वंदना अपना वरेण्य स्थान रखती है। जैनों के 'आवश्यक-सूत्र' में 'छह-आवश्यकों' (अवश्य करणीय कर्तव्यों) के उल्लेख में दूसरा 'चतुर्विंशति स्तव आवश्यक' और तीसरा 'वंदन आवश्यक' भक्ति व स्तुति स्वरूप ही है। भगवान महावीर ने 'पंच-परमेष्ठी' वंदन को नीच-गोत्र कर्म के क्षय का और उच्च-गोत्र कर्म के अर्जन का कारण माना है।[४] जैन शास्त्रों में वंदना के विशेष प्रसंगों का उल्लेख करते हुए कहा गया है–

**पडिक्कमणे सज्झाए, काउसग्गावराहपाहुणए ।**
**आलोयण संवरणे, उत्तमट्ठे य वंदणय ॥**[५]

## वंदना के प्रकार

जैन मतानुसार वंदना के विशेष प्रसंग और उसकी विधि का उल्लेख है। जैसे–

- प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग के समय।
- आशातना, विराधना होने पर।
- ज्येष्ठ अतिथि-साधु के आगमन पर।
- आलोचना-प्रत्याख्यान और अनशन के समय।

वंदना तीन बार दाईं से बाईं ओर प्रदक्षिणा पूर्वक 'तिक्खुतो' पाठ से की जाती है। प्रदक्षिणा का तात्पर्य है–हाथ जोड़कर दाईं से बाईं ओर पूर्ण आवर्त्त कर हाथों को ललाट तक ले जाना। यह एक प्रदक्षिणा होती है।

इसी प्रकार वैदिक परंपरा में मंदिरों में आरती की जाती है। आरती का अभिप्राय है–तीन महाशक्तियों (ब्रह्मा, विष्णु व महेश) को क्रमशः नमस्कार करना।

जैन परंपरा में यह रत्नत्रय–सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र का प्रतीक है। वंदना के माध्यम से वंदनीय के सम्यक् ज्ञान, दर्शन व चारित्र को वंदना की जाती है।

भारतीय संस्कृति मे संत परंपरा की ओर दृष्टिपात करते हैं तो संत तुलसीदास ने रामचरितमानस के माध्यम से 'सियाराममय' हो जाने का उद्‌बोधन किया है। उन्होंने राममय होकर जिस कृति की रचना की, वह संसार में 'रामायण' के नाम से अमर भक्तिकाव्य बन गया। सूरदास ने कृष्णमय होकर जिन गीतों, पदों व भजनों का मधुर स्वर से संगान किया वह ग्रंथ 'सूर-सागर' सगुण भक्तिरस

का क्षीरसागर बन गया। संत कबीर के काव्य में वेदांत का अद्वैत, नाथों का हठयोग, सिद्धों की सहज-साधना और इस्लाम का एकेश्वरवाद—सब कुछ घुला-मिला है। इस अर्थ में वे समन्वित-साधना के संत कवि माने जा सकते हैं। वे निर्गुण-भक्ति, ज्ञानाश्रयी शाखा के हामी थे। उन्होंने नाम सुमिरन की महिमा का संगान करते हुए कहा—

**सुमिरन कर ले, नाम सुमिर ले, को जाने कल की ।**
**जगत में खबर नहीं पल की ॥**
**काम क्रोध मद लोभ निवारों, बात यह असल्ल की ।**
**ज्ञान वैराग दया मन राखों, कहे कबीर दिल की ॥**[६]

नाम-सुमिरन की मधुरिमा का आदर्श नारद, हनुमान, अंबरीष, प्रह्लाद, सूरदास, त्यागराज, मीरा, तुकाराम, तुलसीदास, कबीर, भद्राचल, रामदास सहित बहुत से संतों, कवियों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। रहीम, मीरा, जायसी, दादू, रैदास आदि ने संत साहित्य की परंपरा में पथ-प्रदर्शन के रूप में भगवत्प्राप्ति हेतु जिन साधनों का वर्णन किया है, उनमें से पांच साधन प्रमुख हैं—

- भगवन्नाम का निरंतर जप
- भगवन्नाम के साथ अनन्य संबंध
- भगवत्कृपा पर अटल-विश्वास
- सर्वत्र भगवत्दर्शन
- संपूर्ण कामनाओं का त्याग।

यद्यपि जैन संत परंपरा में साधना के जो तीन मार्ग हैं—ज्ञान, दर्शन और चारित्र—उनमें स्तुति या भक्ति का सीधा निर्देश परिलक्षित नहीं होता है, पर इस त्रिवेणी में शुद्ध आध्यात्मिक अनुभव की जो बात आती है, वह भक्ति आध्यात्मिक चेतना का ही स्फुरण है। वह चारित्र का एक अंग है। इसलिए जैन परंपरा में भक्ति के लिए अवकाश ही नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। भगवान की उपासना, भक्ति व ध्यान आदि के लिए जैन शासन में 'स्तुति' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। स्तुति का अर्थ है—प्रशंसा। प्रशंसा में नम्रता व गुणानुराग के भाव सन्निहित रहते हैं। महापुरुषों के सद्गुणों की प्रशंसा करने से जीवन में शनैः-शनैः उन गुणों को उतारने की प्रेरणा मिलती है और उन गुणों के प्रति आकर्षण पैदा होता है। साथ ही गुणीजनों के प्रति मन में श्रद्धा के भाव भी पुष्ट होने लगते हैं।

चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति 'चौबीसी' में है। जैन साहित्य में स्तुति की परंपरा अति प्राचीन है। जैन संत-परंपरा में भी भक्ति-रस से स्निग्ध और

आत्म-निवेदन से परिपूर्ण अनेक स्तोत्र-काव्यों का प्रणयन हुआ है। श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु कृत 'उवसग्गहर स्तोत्र', आचार्य समंतभद्र कृत 'स्वयंभू स्तोत्र', 'देवागम स्तोत्र', 'युक्तानुशासन', 'जिनशतकालंकार', आचार्य मानतुंग का 'भक्तामर स्तोत्र', आचार्य सिद्धसेन का 'कल्याण मंदिर स्तोत्र', 'द्वात्रिंशिकाएं', मानदेव सूरि द्वारा विरचित 'तिजय पहुत स्तोत्र', मुनि सुंदरसूरि रचित 'संतिकर स्तोत्र', नंदीषेण मुनि का 'अजित शांति स्तवन', आचार्य हेमचंद विरचित 'अयोग व्यवच्छेद द्वात्रिंशिका' और 'अन्ययोग व्यवच्छेद द्वात्रिंशिका', प्रज्ञाचक्षु महाकवि श्रीपाल विरचित 'सर्व निजपति स्तुति', जय तिलकसूरि कृत 'चतुर्हारावली चित्रस्तव', विवेकसागर कृत 'वीतराग स्तव', नयचंद सूरिकृत 'स्तंभ पार्श्व स्तव', आचार्य कुंदकुंद द्वारा निर्मित 'तित्थयर शुद्धि', 'सिद्ध भक्ति', जयाचार्यश्री (आचार्य श्री जीतमलजी) का 'चतुर्विंशति-स्तवन', 'चौबीसी (छोटी व बड़ी)', आचार्य तुलसी का 'चतुर्विंशति स्तवन' (चतुर्विंशति गुण-गेय-गीतिः), आचार्य श्री महाप्रज्ञजी का 'सिद्ध स्तवन', आचार्य जयमल की 'बड़ी साधु वंदना' इत्यादि स्तुतिपरक ग्रंथ इस क्रम में विशेष उल्लेखनीय एवं विमर्शनीय हैं।

उपरोक्त स्तोत्र जहां भगवत्भक्ति से ओतप्रोत हैं, वहां चामत्कारिक रूप से कष्टों, चिंताओं एवं विपत्तियों का निवारण करने वाले भी हैं। उनके विविध पद्यों के विशेषपाठ से अनिष्ट-हरण की अनेक घटनाएं भी इतिहास प्रसिद्ध हैं। उक्त सभी स्तोत्र उच्च आध्यात्मिक एवं भक्ति भावनाओं से परिपूर्ण होने के कारण आंतरिक मंगल के उत्प्रेरक हैं। बाह्य मंगलों की अपेक्षा आंतरिक मंगल सदैव उच्च स्तरीय होते हैं। अतएव इनके स्मरण से स्तोता को मांगलिक जीवन जीने की प्रेरणा मिलती है, उच्चारण से प्राणों का ऊर्ध्वीकरण होता है, ज्ञानियों और वीतराग आत्माओं के प्रति नम्रता होने से ज्ञान का विकास होता है। अतः मंगल भावनाओं से परिपूर्ण ये आध्यात्मिक स्तोत्र जगत में मांगल्य भावनाओं को वृद्धिंगत करते हैं।

उपर्युक्त स्तुति सर्वेक्षण के निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि हिंदुओं में 'नमो नारायणं', बौद्धों में 'बुद्धं शरणं गच्छामि' और जैनों में 'णमों अरहंताणं'—इन मंत्रपदों में वस्तुतः गुणों के उस स्वरूप को ही नमस्कार करके, उनकी शरण में जाने को कहा गया है और यह भारतीय परंपरा की बहती धारा है कि साधुता को सभी ने नमस्कार किया है। अलबत्ता एक आश्चर्य भरा साम्य सभी की एकता को प्रकट कर रहा है। जैसे जैनों के तीर्थंकर चौबीस, बौद्धों के दीपंकर चौबीस, मुसलमानों के पयंबर चौबीस और हिंदुओं के अवतार भी चौबीस हुए हैं और अपनी इसी आध्यात्मिक संपदा के कारण भारत जगद्गुरु के नाम से विश्रुत रहा है।

## संदर्भ


१. मनु स्मृति, २/१२१
२. श्रीमद्भगवतपुराण, ७/५/२३
३. श्रीमद्भगवत्गीता, १८/६३
४. उत्तराध्ययन सूत्र, २९/११
५. आवश्यक निर्युक्ति, १२००
६. कल्याण–संतवाणी अंक–कबीर, पृ. २०२

# २. अध्यात्म, स्तवन और भारतीय वाङ्मय–२

**निस्संदेह स्तुति आत्मा को परमात्मा से जोड़ने का एक महान सेतु है। यह स्तुतियां परमानंद प्राप्त कराने वाले अमोघ अस्त्र हैं। इनके मनन, स्वर गुंजन और लयबद्ध पुनरुच्चारण द्वारा ही शक्ति-केंद्रों का जागरण व ऊर्जा-केंद्रों का सर्जन होता है। अंतःकरण की शुद्धि और कषाय-कल्मषों के बंधन शिथिल पड़ते हैं। अतः स्तुति, वंदना, उपासना, आराधना आदि प्रसंगों में सामूहिक उच्चारण से वातावरण की पवित्रता के साथ भावों में भी उत्कृष्टता आती है और प्रेरणा भी मिलती है। इस दृष्टि से आत्म-साधना की प्रणाली को अनुपादेय करना उचित नहीं है। यदि साधक अंतःकरण में परमात्मा का चिंतन करे, उसमें गहरा अवगाहन करे, आत्म कल्याण के लक्ष्य पर ध्यान केंद्रित रखे और सदाचार में किसी प्रकार की आंच न आने दे तो निश्चित ही उसका अंतःकरण दिव्यभावों से चमत्कृत हो उठेगा।**

भारतीय संस्कृति में 'स्तुति' शब्द के प्रयोग की सुदीर्घ परंपरा रही है। प्राचीन वाङ्मय में मंत्र, छंद, अर्च, स्तोम, स्तोत्र, उपासना, आराधना, जरा, ऋचा, यजु, साम आदि शब्द स्तुति के पर्याय माने गए हैं। वैदिक, बौद्ध और जैन–तीनों परंपराओं में स्तव और स्तुति–इन दोनों शब्दों का मुक्त रूप में प्रयोग हुआ है। सामान्यतः इन दोनों का अर्थ बहुमान, पूर्ण श्रद्धांजलि, अर्पण करना है। लेकिन, साहित्यशास्त्र में तीन श्लोक तक वाली श्रद्धांजलि को स्तुति और उससे अधिक श्लोक वाली श्रद्धांजलि को स्तव (स्तवन) कहा जाता है। प्राचीन आचार्यों ने इन दोनों में एक भेद रेखा खींचते हुए कहा है–स्तव बड़ा होता है और स्तुति छोटी। पर सामान्यतः दोनों शब्द एकार्थक हैं, एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

महाभारत एवं गीता में स्तोत्र, स्तव, स्तुति शब्द अनेक स्थलों पर उल्लिखित हैं। श्रीमद्भगवतपुराण में भक्तिरस से परिपूर्ण १३२ स्तुतियां उपन्यस्त हैं।[१] भगवान महावीर ने स्तव-स्तुति को मंगल कहा है।[२] जैन आगमों में विवर्णित विरत्थुई[३], महावीरत्थुई[४], शक्कत्थुई[५], 'चतुर्विंशति स्तव'[६] (लोगस्स), संघ स्तुति[७] उपधान श्रुत (आचारांग) अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। जैन परंपरा में आगमों

का वही स्थान है, जो वैदिक परंपरा में वेदों का, बौद्ध परंपरा में त्रिपिटक का, ईसाई परंपरा में बाईबिल का और इस्लाम परंपरा में कुरान का है।

## स्तुति अर्थ और स्वरूप

अदादिगणीय 'ष्टुभ् स्तुतौ' धातु से 'स्त्रियां क्तिन्'[८] से भाव में 'क्तिन' प्रत्यय करने पर 'स्तुति' शब्द निष्पन्न होता है। 'स्तवनं स्तुतिः' अर्थात् स्तवन या प्रशंसा, स्तोत्र, इडा, नुति आदि है।[९] विभिन्न कोष ग्रंथों में भी स्तुति शब्द के अर्थ पर प्रकाश डाला गया है। आचार्य शंकर के मत में भगवत्गुण संकीर्तन ही स्तुति है। विष्णुसहस्रनाम भाष्य में 'स्तुवन्तः शब्द का अर्थ 'गुण संकीर्तनम् कुर्वन्तः' किया है।[१०] स्तुति में अपने उपास्य के प्रति विविध गुणों का संकीर्तन या गायन किया जाता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने भगवान जिनेश्वर से विद्यमान गुणों के उत्कीर्तन को स्तुति, स्तवन और स्तोत्र कहा है–

**सारा पुण थुई-थोम गंभरपयत्थ विरइया जे।**
**सब्भूयगुण क्कित्तणरूवा खलु ते जिणाणं तु ॥**

अर्थात् सारे आगमों का सार स्वरूप गंभीर पदार्थ से विरचित, प्रभु के विद्यमान गुणों का उत्कीर्तन स्तुति-स्तोत्र होता है। जैसे रत्न (औषधि-विशेष) रोगी के विभिन्न रोगों–ज्वर, शूल आदि को शांत कर देता है, समाप्त कर देता है–उसी प्रकार भाव-रत्न-रूप स्तुति-स्तोत्र कर्म-रूप-ज्वर का विनाश कर देता है। एक आचार्य ने स्तोत्र के षड्विध लक्षणों का निर्देश किया है–

**नमस्कारस्तथाशीश्च सिद्धान्तोक्तिः पराक्रमः।**
**विभूतिः प्रार्थना चेति षडविधं स्तोत्र लक्षणम् ॥**

अर्थात् नमस्कार, आशीष, सिद्धांतानुसार कथन, शूरवीरता, विभूति और प्रार्थना–इन छह प्रकार के लक्षणों से युक्त स्तोत्र होता है।[११]

उपर्युक्त व्युत्पत्तियों, परिभाषाओं एवं लक्षणों के निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि अदृश्य सत्ता या प्राकृतिक विभूतियों के ज्ञान से उनके प्रति पूज्य भाव या श्रद्धा होने के कारण भक्त भक्ति-भावना पूर्वक हृदय से उन्हीं के विविध गुणों का संगापन करने लगता है।

स्पष्ट है कि स्तुति में ज्ञान और भाव–इन दोनों तत्त्वों की प्रधानता रहती है। स्तोता ज्ञान से जानकर पूर्ण श्रद्धा भाव से समर्पित हो जाता है। अंग्रेजी कवि टेनीसन के शब्दों में–'जगत जिसकी कल्पना करता है, उससे कहीं अधिक महान

कार्य प्रार्थना या स्तुति के द्वारा सिद्ध हो सकता है।' नेताजी सुभाषचंद्र बोस नियमित रूप से प्रतिदिन एक घंटा आत्मचिंतन करते थे। एक व्यक्ति ने उनसे कहा—'आपका एक-एक क्षण राष्ट्र के लिए बहुत मूल्यवान है, फिर आप एक घंटा निष्क्रिय बैठ कर क्यों निरर्थक करते हैं।' नेताजी ने बड़ा मार्मिक उत्तर दिया—'मैं एक घंटा निरर्थक नहीं करता। जब मैं निरंतर काम करते हुए थक जाता हूं तो आत्मचिंतन से पुनः ताजगी पाता हूं। मैं अपने भीतर की 'बैटरी' को, जो निरंतर काम करते थक जाती है, उसे पुनः एक घंटे के ध्यान से 'चार्ज' कर लेता हूं।'

अमेरिका में 'साइंस क्रिश्चियन सोसायटी' के पचासों चर्च और हजारों सदस्य हैं। उस सोसायटी का एक नियम है कि कोई भी सदस्य दवा नहीं ले सकता। अमेरिकी प्रवासी फूलकुमारी सेठिया ने उस सोसायटी के एक सदस्य से पूछा—'आप लोग बीमार तो होते ही होंगे। फिर आप अपनी बीमारी का उपचार कैसे करते हैं?'—उस सदस्य ने प्रत्युत्तर में कहा—'गॉड इज लव'—परमात्मा इतना उदार और शक्तिशाली है कि वह करुणा की वर्षा करता है और हमारी सब बीमारियां दूर हो जाती हैं। हम रोगी में ऐसी आस्था जगाते हैं, ईश्वर के प्रति इतनी सघन आस्था का निर्माण करते हैं कि उसकी बीमारियां समाप्त हो जाती हैं।[१२]

उपरोक्त घटना-प्रसंग को जब मैंने—'अप्पाणं शरणं गच्छामि' में पढ़ा तब मुझे चतुर्विंशति स्तव, शक्रस्तुति आदि स्तवनों में समागत—**आरोग्ग बोहि लाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु, ता देव दिज्ज बोहिं भवे भवे पास जिण चंद, नाथ! मयि कुरु करुणा दृष्टिं दर्शनानंदमयी सृष्टिं**—'हे प्रभो! आनंददाता ज्ञान हमको दीजिए, शीघ्र सारे दुर्गुणों को दूर हमसे कीजिए, प्रभु मेरे अवगुण चित्त न धारो, प्रभो! मुझे सन्मार्ग में ले चल—इत्यादि पदों में अंतर्निहित रहस्य स्वतः हस्तगत हो गए। सचमुच आरोग्य, बोधि, समाधि, संयम, आनंद, ज्ञान एवं सिद्धि कहीं बाहर नहीं, स्वयं अपने भीतर है। स्तुति के माध्यम से अवचेतन की भूमिका में स्थित हो, इन्हें प्राप्त करने में कोई संदेह नहीं है।

## स्तुति और विज्ञान

विज्ञान में 'अवचेतन' का वाचक शब्द Neuro Endrocrine System है जिसका अर्थ ग्रंथि-तंत्र और नाड़ी-तंत्र का संयुक्त कार्य-तंत्र है। यह संयुक्त-तंत्र मस्तिष्क को प्रभावित करता है, इसलिए मूल्यवान है। यदि इसे स्तुति, मंत्र, स्वाध्याय, सद्चिंतन आदि सम्यक् साधनों द्वारा संतुलित रख सकें, तो सभी अनिष्ट भावनाओं से मुक्ति मिल सकती है और इष्ट भावनाएं अपना साम्राज्य स्थापित कर सकती हैं।

स्तोत्र वस्तुतः निर्माता के मनोगत भावों का प्रकटीकरण तो होते ही हैं, साथ ही पठन या श्रवण करने वालों के मन में उन्हीं भावावेगों का संचार एवं जागरण करने वाले भी होते हैं। यही उनकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि और उपयोगिता भी है। यही कारण है कि चौबीस तीर्थंकरों की स्तवना में अध्यात्मयोगी श्रीमद् जयाचार्यश्री के श्रीमुख से यह स्वर स्थान-स्थान पर अनुगुंजित हुआ है—'मैं प्रभु की शरण में जा रहा हूं।' सिद्धांततः सत्य तो यह है कि भक्ति-रसाप्लावित मानव क्षणभर में अनंतानंत कर्म वर्गणाओं को क्षय कर आत्म साक्षात्कार तक का भाव-लाभ प्राप्त कर सकता है। अंतःचित्त प्रसत्ति, निरोगता, वाक्सिद्धि आदि अन्य लाभ तो उसके सन्मुख बहुत छोटे रह जाते हैं। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आध्यात्मिक स्तोत्र, शब्द-शक्ति, भावों की तल्लीनता एवं वीतराग गुणों की अनुप्रेक्षा परमानंद की भूमिका का निर्माण करती है। इस रहस्य को आचार्य हेमचंद्र की वाणी में समझा जा सकता है—

**'वीतराग स्मरन् योगी वीतरागत्वमाप्नुयात्'**

अर्थात् जो योगी, ध्यानी वीतराग का स्मरण करता है, वह वीतराग बन जाता है।

## स्तुति की महत्ता एवं उपयोगिता

स्तुति मनुष्य के अंतरंग में सोई हुई उन शक्तियों और क्षमताओं को जागृत करती है, जो उसे उच्च आध्यात्मिक लक्ष्य तक पहुंचाती है। वीतराग स्तुति से स्वात्मा का विवेक उत्पन्न होता है। स्तोता आत्मिक-शक्ति से परिचित होता है स्तोता के चित्त में सर्वप्रथम अपने स्तव्य के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होने से उसके अंतःकरण में इस प्रकार की भावना उत्पन्न होती है—'प्रभो! तेरे अंदर जो अनंत-ज्ञान, अनंत-दर्शन, अनंत-शक्ति और अनंत-सुख है—वह मेरी आत्मा में भी आविर्भूत है। वीतराग प्रभो! आपके ये गुण मेरे लक्षण बन जाएं।'—इस प्रकार सबके लिए मंगल-स्वरूप होने से वीतराग स्तुति मंगलमय है। यही कारण है कि स्तव-स्तुति (थवथुई) के साथ महावीर वाणी में 'मंगल' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यह मंगल शब्द भाव-मंगल के रूप में मननीय है।

मंगल का अर्थ बड़ा ही विलक्षण है।—**'मं पापं गालयति'**—अर्थात् जो पाप को समाप्त कर दे—वह मंगल है। **मंगलं सुखं लातीति मंगलः**—अर्थात् जो सुख को लाता है—वह मंगल है। जिसके आचरण से दुख, संकट, आपत्तियां-विपत्तियां, विघ्न-बाधाओं का निवारण हो, जीवन का हित सधे, दुखजनित पापमय भावनाओं एवं वासनाओं का नाश हो—उसे मंगल कहते हैं। धर्म उत्कृष्ट मंगल है। यह

भाव-मंगल है और भव-भ्रमण से मुक्त करता है। जीवन की इस भव्य बेला में जब शुभ कार्य करने का प्रसंग उपस्थित होता है, तब उस शुभ कार्य में विघ्न न आए, इस हेतु मंगलाचरण की प्राचीनकाल से ही परंपरा चल रही है। तीर्थंकरों के नाम मंत्राक्षर सम हैं। उनकी शरण स्वयं मंगल है। जो स्वयं मंगल होता है, वही दूसरों को मंगल दे सकता है। वही दूसरों की विघ्न-बाधाओं को दूर कर सकता है। वही मंगल मंगलाचरण के रूप में प्रस्तुत करना उचित है और वह मंगल है संपूर्ण मंगलों के स्थान-भूत तीर्थंकर प्रभु का नाम-स्मरण और उनके अनंत स्वरूप की स्तुति।

मंगल नाम का एक ग्रह भी है। वह बहुत चमकदार और लाल रंग का होता है। जिसके कारण उसके आस-पास के ग्रह प्रभावहीन हो जाते हैं। इसी प्रकार जिसके कारण अनिष्ट वस्तुएं प्रभावहीन हो जाएं—वह मंगल है। आध्यात्मिक दृष्टि से मंगल चार है—

१. अरिहंत
२. सिद्ध
३. साधु
४. केवलीभाषित धर्म

पंच-परमेष्ठी व महान आत्माओं की स्तुति से निम्न लाभ होते हैं—

- अनिष्ट निवारण
- पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा
- समभाव वृद्धि
- भवभ्रमण का विच्छेद
- विघ्न उपशांति
- कार्य सिद्धि
- भय निवृत्ति
- चित्त की निर्मलता
- कुमति निवारण
- सद्गुण वृद्धि।

इस प्रकार स्तुति के साथ प्रयुक्त 'मंगल' शब्द इस तथ्य को उजागर करता है कि वीतराग स्तुति लोकोत्तर, पारमार्थिक और वास्तविक मंगल है। वीतराग आत्माओं के अनुराग होने पर दर्शनाचार के प्रति आस्था सुदृढ़ बनती है। दर्शन के अपघाती कर्म दूर होते हैं। परिणाम-स्वरूप सम्यक्त्व की विशुद्धि होने से आत्मा के निम्नोक्त गुण प्रकट होते है—

(१) ज्ञान वृद्धि
(२) दर्शन विशुद्ध (क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति)
(३) अशुभ कर्मों के बंध में रुकावट
(४) शुभ कर्मों का बंध
(५) अशुभ कर्मों की निर्जरा।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि स्तुति स्तोता को बहिरात्मा से अंतरात्मा, अंतरात्मा से महात्मा, महात्मा से परमात्मा तक की भूमिका को प्राप्त कराने का माध्यम है। इसी तथ्य को वर्तमान संदर्भ में इस प्रकार समझा जा सकता है कि क्षायिक सम्यक्-दर्शन की प्राप्ति होने पर स्तोता का 'आई-क्यू', 'इ-क्यू' में परिवर्तित होकर 'एस-क्यू' में प्रवेश करने लगता है। अथवा धीरे-धीरे भाव शुद्धि करता हुआ स्तोता निर्ग्रंथ हो क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होता है। अंत में केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन अथवा अरिहंत पद को प्राप्त कर सिद्ध, बुद्ध व मुक्त बन जाता है। जब तक स्तोता को यह मोक्षप्राप्ति का लक्ष्य सिद्ध नहीं होता तब तक वह वीर्याचार से प्रत्येक पर्याय-व्यवहार को शुद्ध बनाता हुआ, उत्तमोत्तम भाव-धारा में रमण करता हुआ, दुर्गम राहों को सरलता से तय करता हुआ, भवोभव में अधिक सामर्थ्यवान पुण्योपार्जन करता हुआ, श्रेष्ठ गुण श्रेणी तय करता हुआ मुक्ति के उत्तुंग शिखर का आरोहण करता है। अतः स्तुति में प्रयुक्त 'मंगल' शब्द की उपयुज्यता असंदिग्ध है।

## स्तुति के प्रकार

भारतीय संस्कृति में स्तुति के विविध रूप दृष्टिगोचर हैं।
(१) द्रव्य स्तुति
(२) भाव स्तुति
(३) प्रमाण रूप स्तुति
(४) गुणोत्कीर्तन रूप स्तुति
(५) याचना रूप स्तुति

यदि कामना की दृष्टि से इनका वर्गीकरण किया जाए तो इन सबका समावेश दो विभागों में हो सकता है—
(१) सकाम स्तुति
(२) निष्काम स्तुति।

## सकाम स्तुति

सकाम स्तुतियों में स्तोता की कोई न कोई कामना निहित रहती है। सांसारिक अभ्युदय, दुःख निवृत्यर्थ, शोक प्रशमनार्थ, धन, दौलत, पुत्र, पौत्र, पत्नी, आयु, यश, ऐश्वर्य, विजय, शक्ति, शरीर-सौष्ठव, बुद्धि एवं दिव्य लोक की प्राप्ति के लिए समर्पित स्तुतियां इस संवर्ग के अंतर्गत आती हैं। इस संवर्ग के स्तोता सांसारिक अभ्युदय, रोग-मुक्ति इत्यादि प्रसंग उपस्थित होने पर वैसे पुरुष की स्तुति में प्रवृत्त होता है, जो उसका मनोवांछित पूर्ण कर सके।

## निष्काम स्तुति

निष्काम स्तुतियों में सांसारिक कामना का अभाव रहता है। इसमें स्तोता का आलंबन निर्गुण, निराकार, सर्वव्यापक, परमब्रह्म परमेश्वर होता है। सिद्ध परमात्मा के अद्वितीय एवं विशिष्ट गुणों की एक झलक शक्र स्तव के पाठ में विवर्णित है–

**शिव-मयल-मरूय-मणंत-मक्खय-मव्वाबाह।**
**मपुणरावित्ति सिद्धिगइ नामधेयं ठाणं संपत्ताणं।**
**णमो जिणाणं जिय भयाणं॥**

इसका तात्पर्य इस प्रकार है–

(१) **शिव**–वे स्वयं सब विघ्न-बाधाओं, उपद्रवों से मुक्त हैं तथा उनका स्वरूप ही 'शिव' अर्थात् परम कल्याणकारी है, सबके लिए मंगलकारी है।

(२) **अचल**–वे स्वरूप में स्थिर होने से अचल हैं।

(३) **अरुज**–वे पूर्ण निरामय, रोग-रहित हैं।

(४) **अनंत**–उनकी ज्ञानादि शक्तियां अनंत हैं। वे जिस रूप में वर्तमान हैं, उस स्वरूप का कभी अंत नहीं आएगा। अनंत शब्द विराट सत्ता का सूचक है।

(५) **अक्षय**–कभी क्षय नहीं होंगे। जो पूर्ण निरामय-निरोग, अनंत सुख आदि गुणों से युक्त हैं, उनके वे गुण कभी क्षीण नहीं होंगे।

(६) **अव्याबाध**–न तो वे किसी के लिए बाधा बनते हैं, न ही उनके लिए कभी कोई बाधा होगी। अपितु समस्त विघ्न-बाधाओं का क्षय करने वाले होने से अव्याबाध हैं।

(७) **अनुपरावित्ति**–वे जिस मुक्ति-स्थान पर पहुंच गए हैं, वहां से कभी भी वापस लौटकर संसार में पुनः नहीं आएंगे।

सिद्ध भगवंतों के उपरोक्त गुण उनके स्वरूप जन्य हैं। उनके स्मरण, चिंतन,

स्तवन आदि से स्तोता भी इसी प्रकार की शक्ति और सामर्थ्य को प्राप्त हो सकता है तथा विघ्न-बाधाएं, रोग-शोक आदि का नाश होना भी संभव है।

सिद्ध (परमात्मा) होने से पूर्व—**चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा, सागरवर गंभीरा**—ये उनके लक्षण होते हैं और सिद्ध होते ही उनके ये गुण हो जाते हैं। निष्काम स्तुति से स्तोता यह भावना पुष्ट करता है कि ये गुणत्रिक स्तुति एवं श्रद्धा के निमित्त से मुझे प्राप्त हों। पुनः पुनः जप, स्तुति अथवा भावना आदि करने पर शब्दों के पारस्परिक घर्षण के कारण वातावरण में एक विशेष प्रकार की विद्युत-तरंगें उत्पन्न होने लगती हैं तथा साधक की इच्छित भावनाओं को बल मिलने लगता है।

मंत्र में शब्द होते हैं और शब्दों के घर्षण में सूक्ष्म शक्ति होती है। स्थूल शरीर में कुछ भी शक्ति नहीं है, अपितु हमारे सूक्ष्म शरीर, आत्मा में अनेक प्रकार की शक्तियां विद्यमान हैं, जिनको मंत्र की सूक्ष्म शक्ति से जगा कर हम असाधारण कार्यों का भी संपादन कर सकते हैं।

अर्हतों को **'धम्मवर चाउरंत चक्कवट्टी'** कहा गया है। अर्हत् अंतर्जगत के चक्रवर्ती होते हैं। जिस प्रकार चक्रवर्ती की बाह्य संपदा अकूत होती है, उसी प्रकार अर्हतों की आंतरिक संपदा, आध्यात्मिक वैभव अकूत एवं अपार होते हैं। अतः आत्म शुद्धि हेतु कृत स्तुतियां जिनमें सांसारिक सुख या लिप्सापूर्ति की कामना नहीं रहती, केवल आत्मा को गुणों से पूर्ण करने की अभ्यर्थना रहती है और यही निष्काम स्तुति का परम लक्ष्य है। कबीरजी ने भी यही कहा है—

**जब लग भक्ति सकामता, तब लग निर्फल सेव ।**
**कहै कबीर बै क्यूं मिलै, निहकामी निज देव ॥**

अर्थात् भक्ति जब तक सकाम है, भगवान की सारी सेवा तब तक निष्फल ही है। निष्कामी देव से सकामी साधक की भेंट कैसे हो सकती है? कबीरजी का यह भी कहना है—

**राजा राणा राव रंग, बड़ो जु सुमिरै राम ।**
**कहै कबीर सबसे बड़ा, जो सुमिरै निहकाम ॥**[१३]

अर्थात् मालिक के ध्यान में राजा, रंक का कोई हिसाब नहीं। जो कामना रहित राम का नाम लेता है, वही सबसे बड़ा है। वास्तव में स्तुत्य वे ही हैं—जो सर्वसमर्थ, सर्वव्यापक, लोकातीत, सर्वज्ञ, अमर और विषयातीत हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में यथार्थ चित्रण किया है—

**वारि मथे घृत होई, बरू सिकता ते बरू तेल ।**
**बिनु हरिभजन न भव तरिअ, यह सिद्धांत अपेल ॥**[१४]

अर्थात् पानी को मथने से भले ही घी निकल जाए, बालू-मिट्टी को मथने से भले ही तेल निकल जाए, किंतु भगवत-स्तुति के बिना कल्याण नहीं हो सकता—यह अकाट्य सिद्धांत है।

## स्तुति का माहात्म्य

हमारे भीतर जो सद्गुण विद्यमान हैं, आवश्यकता है उन्हें प्रदीप्त करने के लिए समुचित साधना की जब घर्षण द्वारा लकड़ी या पत्थर से भी ज्योति पैदा हो सकती है, तो क्या साधना और भक्ति के घर्षण से हृदय में ज्ञान की ज्योति नहीं प्रज्ज्वलित हो सकती? अवश्य हो सकती है।

सूर्य की किरणें मिलते ही, लंबी दूरी के बावजूद क्या सूर्यमुखी के फूल खिले बिना रह सकते हैं? क्या सूर्यकांतमणि के नीचे रखे वस्त्र या रुई में सूर्य की किरणें लगते ही आग प्रज्वलित नहीं हो उठती? ये दोनों तो सजातीय नहीं, परंतु आत्मा और परमात्मा तो सजातीय हैं। अतः आत्मा की परमात्मा से प्रीति सूरजमुखी पुष्पवत होनी चाहिए। जिस प्रकार सूरजमुखी पुष्प का मुख (ऊपर का भाग) सदैव सूर्य की ओर ही रहता है, चाहे सूर्य पूर्व दिशा में हो, चाहे पश्चिम दिशा में, चाहे किरणें तीव्र हों या मंद, चाहे वर्षाकाल हो या शीतकाल, फिर भी वे पुष्प दिग्भ्रम नहीं होते। वे सूर्य की किरणों से प्रगाढ़ प्रीति रखते हैं। जब विवेक व बुद्धिविहीन पुष्प सूर्य की किरणों से इतनी प्रीति निभाते हैं, तब भक्त-साधक, जो चिंतन-मनन की शक्ति से संपन्न है, बुद्धि का स्वामी है, उसे परमात्मा के प्रति कितनी प्रीति निभानी चाहिए? कितना समर्पित होना चाहिए? समझने की बात है।

निस्संदेह स्तुति आत्मा को परमात्मा से जोड़ने का एक महान सेतु है। ये स्तुतियां परमानंद प्राप्त कराने वाले अमोघ अस्त्र हैं। इनके मनन, स्वर गुंजन और लयबद्ध पुनरुच्चारण द्वारा ही शक्ति-केंद्रों का जागरण व ऊर्जा-केंद्रों का सर्जन होता है। अंतःकरण की शुद्धि और कषाय-कल्मषों के बंधन शिथिल पड़ते हैं। अतः स्तुति, वंदना, उपासना, आराधना आदि प्रसंगों के सामूहिक उच्चारण से वातावरण की पवित्रता के साथ भावों में भी उत्कृष्टता आती है और प्रेरणा भी मिलती है। इस दृष्टि से आत्म-साधना की प्रणाली को अनुपादेय करना उचित नहीं है। यदि साधक अंतःकरण में परमात्मा का चिंतन करे, उसमें गहरा अवगाहन करे, आत्म कल्याण के लक्ष्य पर ध्यान केंद्रित रखे और सदाचार में किसी प्रकार की आंच न आने दे तो निश्चित ही उसका अंतःकरण दिव्यभावों से चमत्कृत हो उठेगा। कबीर

की ये हृदयस्पर्शी पंक्तियां इसी तथ्य को स्पष्ट कर रही हैं–

**देवल मांहे देहुरी, तिल जै है विस्तार।**
**मांहे पाती मांहे जल, मांहे पूजणहार ॥**

अर्थात् अंतरात्मा में ही मंदिर है, वहीं पर देवता है, वहीं पूजा की सामग्री है और पुजारी भी वहीं मौजूद है।

## स्तुति-मंगल के परिणाम

भारतीय संस्कृति में केवल सुंदरता को नहीं, अपितु 'सत्यं शिवं सुंदरं' को महत्त्व दिया गया है। यदि अति सुंदर भवन का निर्माण किया जाए और वर्षाऋतु में उससे पानी टपकने लगे तो उस भवन की केवल सुंदरता किस काम की? यदि एक अत्यंत सुंदर बांध बनाकर तैयार कर लिया जाए और बाद में उसमें से पानी बहने लगे, टिके नहीं तो क्या उसका सौंदर्य टिका रहेगा? कागज का पुष्प चमक, दमक व कमनीय कलेवर वाला होते हुए भी सौरभहीन होने से उसे कोई नहीं सूंघेगा। यही बात साधना के क्षेत्र में है। साधक के जीवन में संकल्प की सुंदरता, श्रद्धा रूपी सत्य और तन्मयता रूपी शिव का त्रिवेणी संगम अत्यंत अपेक्षित है। इस संगम के लिए स्तुति के अनेक परिणाम एवं सोपान हैं।[१५]

प्रभु प्राप्ति के चार सोपान इस प्रकार हैं–

(१) **प्रीतियोग** : प्रभु के प्रति अनन्य प्रेम का अभ्यास
(२) **भक्तियोग** : सर्वस्व समर्पण की भूमिका तक पहुंचना
(३) **वचन योग** : प्रभु आज्ञा को जीवन-प्रमाण समझ उसका पालन करना।
(४) **असंगयोग** : उपर्युक्त तीनों योगों के क्रमिक और सतत अभ्यास से एक ऐसी आस्था जागती है, जिसमें आत्मा सर्व संग से निर्लेप बनकर अनुभव गम्य अपरिमेय आनंद पाने लगता है।

आचार्य हरिभद्र ने आराधना के पांच सोपान बताए हैं–

(१) **प्रणिधान** : रोम-रोम में धर्माराधना की रुचि
(२) **प्रवृत्ति** : धर्माराधना में प्रवृत्ति करना
(३) **विघ्नजय** : बीच में आने वाले विघ्नों को जीतना
(४) **सिद्धि** : आराधना को जीवन में आत्मसात् करना
(५) **विनियोग** : इस आराधना का दूसरों को दान देना।

इसी तरह आवश्यकनिर्युक्ति में वंदना की निम्नोक्त छह निष्पत्तियां उपलब्ध हैं[१६]–

(१) विनय की आराधना
(२) अहं का नाश
(३) गुरुजनों की पूजा (भक्ति)
(४) अर्हत् आज्ञा का पालन
(५) श्रुत धर्म की आराधना
(६) मोक्ष की प्राप्ति।

उत्तराध्ययन सूत्र में समागत वंदना के चार परिणाम[१७] बताए गए हैं–
(१) नीच गोत्र कर्म का क्षय और उच्च गोत्र कर्म का बंध
(२) सौभाग्य, लोकप्रियता
(३) अनुलंघनीय आज्ञा की प्राप्ति
(४) अनुकूल परिस्थिति

भगवान महावीर ने स्तव-स्तुति[१८] के निम्न परिणामों की चर्चा की है–
(१) **बोधि-लाभ**–ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप बोधिलाभ की प्राप्ति
(२) **अंतःक्रिया** (मुक्ति)–भव का अंत करने वाली क्रिया
(३) **स्वर्ग गमन**–कल्प विमान में उत्पत्ति

इसी प्रकार ज्ञान बोधि के परिणाम[१९] भी दृष्टव्य हैं–
(१) पदार्थ बोध
(२) पारगामिता
(३) क्षय नहीं होने वाले विनय आदि गुणों की प्राप्ति
(४) प्रामाणिकता

दर्शन बोधि के परिणाम[२०] निम्नानुसार हैं–
(१) मिथ्यात्व का क्षय
(२) सतत प्रकाश
(३) ज्ञान और दर्शन की निरंतर वृद्धि।

चारित्र बोधि के परिणाम[२१] इस प्रकार हैं–
(१) अकंपदशा की प्राप्ति
(२) जन्म-मरण के कर्मों का क्षय और (३) मुक्ति।

आचार्य मानतुंग ने स्तवन[२२] से होने वाले प्रमुख चार लाभों का उल्लेख किया है–
(१) समस्त दोषों का क्षय
(२) मिथ्या दृष्टिकोण का क्षय
(३) अनाचार की समाप्ति, चारित्र का लाभ
(४) दुर्लभ बोधि का सुलभ बोधि में परिवर्तन।

## निष्कर्ष

व्यावहारिक जगत में हम देखते हैं 'टेलीविजन' के 'ऐंटीना' की जितनी क्षमता है, वह उसी सीमा के अंदर की तरंगों को पकड़कर हमें दिखा सकता है। क्षमता (रेंज) के बाहर की तरंगों को नहीं पकड़ा जा सकता। ठीक इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी परमात्मा की अनंत ज्ञान-दर्शन रूपी आभा को पूर्ण रूप से नहीं आंका जा सकता। साधक उसको अपनी साधना की क्षमता व गहराई के अनुसार ही जान सकता है। इसी तथ्य की पुष्टि विभिन्न आत्मज्ञानियों की वाणी में परिलक्षित होती है। भगवान श्रीराम के गुरु वशिष्ठजी कहते हैं—'आत्मवेत्ताओं का पूर्ण विवरण नहीं किया जा सकता।' राजा जनक को अष्टावक्र महाराज ने कहा—**'तस्य तुलना केन जायते**?—उस आत्मज्ञानी महापुरुष की तुलना किससे की जा सकती है?' वैदिक परंपरा में भी श्रीकृष्ण ने गीता में कहा—**यद् गत्वा न निर्वन्ते तद् धाम परमं मम्**'—अर्थात् 'जहां जाकर फिर संसार में पीछे नहीं लौटना पड़े वही मेरा परमधाम है।' आचारांग सूत्र में सिद्ध भगवंतों का स्वरूप बताते हुए निम्न प्रकार से कथन किया गया है—

**अच्चेइजाइमरणस्स वट्टमग्गं णिक्खायरए**

सिद्ध आत्मा जन्म-मरण के मार्ग को पार कर जाते हैं। उनके स्वरूप का कथन करने में कोई शब्द समर्थ नहीं होता। जहां पर तर्क और बुद्धि की पहुंच नहीं हो सकती और बुद्धि से भी जहां अवगाहन नहीं होता। नानकदेव ने कहा है—उपासना और तप की नौका के सहारे भगवान का भजन करते हुए मनुष्य पाप की नदी के पार उतर जाता है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि मन में भक्ति, वचन में स्तुति और तन में विनम्रता अर्थात् प्रसन्न भाव से करबद्ध हो शीश झुका कर स्तुति करने से स्तोत्र पाठ वाग्गुच्चार मात्र न रह कर भक्ति-सागर की भवार्मियों को ऊंचाइयां प्रदान करने वाला सिद्ध होता है। क्योंकि हृदय-भक्ति की अभिव्यंजना का नाम ही है—स्तोत्र। इस प्रकार स्तव-स्तुति से श्रद्धा को बल मिलता है। सम्यक् श्रद्धा से भावधारा निर्मल होती है। निर्मल भावधारा से जैसे-जैसे कर्मावरण दूर होता है, वैसे-वैसे ज्ञान-बोधि, दर्शन-बोधि और चारित्र-बोधि की निर्मलता बढ़ती जाती है। जब ये बोधियां चरम सीमा तक पहुंच जाती हैं तब केवलज्ञान, केवलदर्शन और क्षायिक-चारित्र प्रकट होता है। इस प्रकार आत्मा में केवलज्ञान-बोधि, केवलदर्शन-बोधि और संपूर्ण चारित्ररूप-बोधि प्रकट होती है। ऐसे केवली आत्माएं अंतःक्रिया करके मोक्ष स्वरूप को प्राप्त करती हैं। अतएव स्तुति, महापुरुषों का नामस्मरण आत्मा

से परमात्मा बनाने का महापथ है, राजमार्ग है। यह जीवन को सुंदर और सफल बनाने का प्रबल साधन है। आचार्य सोमचंद्र के शब्दों में[२३]–

**पापं लुम्पति दुर्गतिं दलयति व्यापादयत्यापदं,**
**पुण्यं संचिनुते श्रियं वितनुते पुष्णाति निरोगताम्।**
**सौभाग्यं विदधाति, पल्लवयति प्रीतिं प्रसूते यशः,**
**स्वर्गं यच्छति निर्वृतिं च रचयत्यर्चार्हतां निर्मिता ॥**

अर्हतों को की जाने वाली अर्चा (भाव पूजा, गुणोत्कीर्तन, पर्युपासना आदि) पापों का नाश करती है, दुर्गति का निवारण करती है, आपदाओं को विनष्ट करती है, पुण्य का संचय करती है, लक्ष्मी का विस्तार करती है, निरोगता को पुष्ट करती है, सौभाग्य को बनाए रखती है, प्रीति को पल्लवित करती है, यश को उत्पन्न करती है, स्वर्ग को देती है और मोक्ष रचना करती है।

## संदर्भ


१. श्रीमद्भागवत् की स्तुतियों का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. २६३
२. उत्तराध्ययन, २९/१५
३. सूत्रकृतांग, प्रथम श्रुत स्कंध अध्ययन, ६
४. नंदी, प्रकरण १, १.३, समवायांग
५. आवश्यक, ६/११
६. आवश्यक, २/१
७. नंदी, प्रकरण १, ४-१७, २२
८. पाणिनी अष्टाध्यायी, ३.३ ९४ ┐
९. अमरकोश, १.६.११ ├ श्रीमद्भागवत् की स्तुतियों का समीक्षात्मक अध्ययन पृ. १, २, से उद्धृत
१०. विष्णु सहस्रनाम, श्लोक ४.५ पर शंकर भाष्य ┘
११. महाप्रज्ञ का रचना संसार, पृ. ३८४
१२. अप्पाणं शरणं गच्छामि, पृ. १०४
१३. साखी ग्रंथ, १३/८६, पृ. १८६
१४. रामचरित मानस, ६/१२२ (क)
१५. मिले मन भीतर भगवान
१६. आवश्यक निर्युक्ति, १२१५
१७. उत्तराध्ययन, २९/११
१८. से २१; उत्तराध्ययन, २९/१५, ६०, ६१, ६२
२२. भक्तामर, श्लोक-९
२३. सिंदूर प्रकर, जिन पूजा प्रकरणम्, श्लोक-९

# ३. जैन वाङ्मय में स्तुति

**मुक्ति तो वह शक्ति है जो जीव को शिवत्व और सिद्धत्व की आभा से दैदीप्यमान बनाती है। अर्हत् परमात्मा के मांगलिक वचनों से आत्मा का कालुष्य क्षीण होता है, कषाय जन्म अशांति दूर होती है और विकारों पर विजय प्राप्त की जा सकती है। एक विकार हीन आदर्श का स्वरूप सामने रहने से रागद्वेष जन्य विकारों का शमन होता है और मनुष्य की आत्मा आध्यात्मिक विकास के सोपान पार करने लगती है।**

जिन भगवान द्वारा प्ररूपित धर्म का नाम जैन धर्म है। जैन धर्म का आदर्श है—जिनेन्द्र। भूत विजेता जैसे इन्द्रादिक देव प्रसिद्ध हैं और उन्हें ब्राह्मण परम्परा में उपास्य पद प्राप्त है वैसे ही श्रमण संस्कृति के जो आत्म विजेता हुए वे 'जिन' नाम से प्रख्यात थे। 'जिन' शब्द किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है, यह उस आध्यात्मिक शक्ति का संबोधक शब्द है जिसमें व्यक्ति ने राग-द्वेष या प्रियता-अप्रियता की स्थिति से अपने आपको उपरत कर लिया है। अर्हत्, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, तीर्थंकर—ये सब 'जिन' शब्द के ही पर्याय हैं। इन्हें देवाधिदेव भी कहते हैं। इस प्रकार णमो अरंहताणं—यह गुणात्मक आदर्श है जैन धर्म का। व्यक्ति स्वयं सम्यक् ज्ञानी, सम्यक् दर्शनी और सम्यक् चारित्री बने—यही इसकी उपासना है। इसके प्राचीन नाम आर्हत् धर्म, निर्ग्रन्थ धर्म एवं श्रमणधर्म रहे हैं। इस अवसर्पिणी काल में जैन धर्म के चौबीस तीर्थंकर हुए हैं; प्रथम भगवान ऋषभ और चौबीसवें भगवान महावीर। वर्तमान में जैन धर्म की परम्परा का संबंध भगवान महावीर के साथ है।

## जैन धर्म गुणों का उपासक

भारतीय संस्कृति और उसमें भी मुख्यतया जैन संस्कृति अध्यात्म की संस्कृति है। यहाँ भोग और भौतिक सुखों की नहीं, त्याग और संयम की महत्ता रहती है। भारतीय संस्कृति में आत्मविधा को प्रथम प्रवर्त्तक 'ऋषभ' माने गये हैं।

इस तथ्य को केवल जैन आचार्य ही नहीं मानते भागवत् में भी इस सच्चाई की अभिव्यक्ति हुई है। वैष्णव ग्रंथों में नाभि को आठवां मनु मानकर ऋषभ को उनका पुत्र माना गया है। वैदिक संहिताओं के कई प्रकरणों में ऋषभ का उल्लेख मिलता है। तीर्थंकर ऋषभदेव ने सर्वप्रथम इस सिद्धान्त का उद्घोष किया था कि मनुष्य अपनी शक्ति का विकास कर आत्मा से परमात्मा बन सकता है। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा विद्यमान है। जो आत्म साधना से अपने देवत्व को प्रकट कर लेता है, वही परमात्मा बन जाता है। उनकी इस मान्यता की पुष्टि ऋग्वेद की निम्नांकित ऋचा से होती है–

**चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्ता सो अस्य ।**
**त्रिधा बद्धो वृषभो शेखीत्ति महादेवो मर्त्या आ विवेश ॥**

अर्थात् जिसके चार शृंग (अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत चारित्र, अनंत वीर्य) हैं, तीन पाद (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र) हैं, दो शीर्ष (केवल्य और मुक्ति) हैं, और सात हस्त (सात व्रत) हैं तथा जो मन, वचन और काय–इन तीन योगों से बद्ध (संयत) हैं उस वृषभ (ऋषभ देव) ने घोषणा की है कि महादेव (परमात्मा) मनुष्य के भीतर ही आवास करता है। अथर्व वेद और यजुर्वेद से भी इस मान्यता के प्रमाण मिलते हैं।[1] कहीं-कहीं वे प्रतीक शैली में वर्णित हैं और कहीं-कहीं संकेत रूप में।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन धर्म व्यक्ति का नहीं गुणों का उपासक है। वह व्यक्ति की उपासना का समर्थन तो करता है पर उसका कारण भी व्यक्ति के गुण ही हैं। गुणों की उपासना का प्रयोजन गुणों की प्राप्ति है। गुण वृद्धि के लिए ही भक्त उपासक गुणवान उपास्य को अपना आदर्श मानता है और जिस विधि से स्वयं उपास्य ने गुण प्राप्त किये उसी विधि से उस मार्ग को अपनाकर भक्त भी उपास्य के गुणों को प्राप्त करना चाहता है। आचार्य हेमचन्द्र ने वीतराग भगवान की स्तुति करते हुए कहा–

**भव बीजांकुर जलदाः रागाद्याः क्षय मुपागता यस्य ।**
**ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरौ जिनो वा नमस्तस्मै ॥**

अर्थात् भव बीज अंकुर के लिए मेघ के समान रागादिक सम्पूर्ण दोष जिनके क्षीण हो गये उसे मेरा प्रणाम है फिर चाहे वह ब्रह्मा हो या विष्णु अथवा महादेव हो या जिन।

कई लोग देवों की भक्ति व भौतिक समृद्धि से प्रभावित हो उनकी भक्ति करते हैं और कहते हैं कि वे स्तुति और भक्ति से प्रसन्न होकर उन्हें भौतिक सुख समृद्धि देंगे। जैन सिद्धान्तानुसार देवों से भी मानवीय चेतना अधिक महत्त्व की

है। दशार्णभद्र राजा को इन्द्र अपने वैभव का प्रदर्शन कर परास्त करना चाहता था तथा भगवान महावीर ने कहा—दशार्णभद्र! तुम मानव हो। मानव अगर अपनी शक्ति से परिचित हो जाये तो वह देवों से पराजित नहीं हो सकता क्योंकि त्याग की चेतना में देव मानव की प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते। दशार्णभद्र को बोध पाठ मिला। वह राज्य-वैभव का त्यागकर मुनि बन गया। इन्द्र को पराजित होना पड़ा। उसका सिर राजर्षि के आगे झुक गया।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि जैन दर्शन में भक्ति के स्थान गुण है व्यक्ति नहीं। जैन धर्म की यह स्पष्ट अवधारणा है कि व्यक्ति साधना के द्वारा आत्मा के उत्कर्ष से अपनी आन्तरिक शक्तियों का विकास कर अर्हत् व सिद्ध बन सकता है। इस साधना तक पहुँचने हेतु वह आध्यात्मिक विकास के लिए देव-गुरु व धर्म की शरण को स्वीकार करता है।

## कैसे हो परमात्मा के दर्शन?

**आत्मा ही परमात्मा मेरा,**
**टूट पड़े कर्मों का घेरा।**
**कर्म मूल हिंसा का उससे,**
**बचता नहीं मनुज अज्ञानी।**
**आयारो की अर्हत् वाणी ॥**[३]

अध्यात्म मनीषी आचार्यश्री तुलसी की उपरोक्त पंक्तियाँ इस तथ्य को व्याख्यायित करती है कि जैन धर्म अवतारवाद को नहीं मानता। वह ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता है पर ईश्वर को सृष्टि का कर्ता नहीं मानता। यहाँ आत्म कर्तृत्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है और पुरुषार्थवाद को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। वह प्रत्येक आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करता है और पुनर्जन्म में विश्वास करता है।

आत्मा अनंत शक्ति का स्रोत एवं निधान है। उस अनंत शक्ति को सक्रिय कैसे किया जाये? शक्ति की अभिव्यक्ति कैसे हो? कैसे हो आत्मा और परमात्मा के दर्शन? और कैसे हो उनके साथ तादात्म्य भाव? जिज्ञासा के रूप में उभरते इत्यादि प्रश्नों के समाधान में कहा जा सकता है कि इन सबका साक्षात्कार करने की प्रमुख रूप से तीन चाबियां हैं—उपासना, स्तुति और भक्ति।

१. उपासना — समीप बैठना।
२. स्तुति — गुणों का उत्कीर्तन करना।
३. भक्ति — इष्ट के प्रति समर्पित हो जाना।

जो ताला सैंकड़ों प्रयत्न करने पर भी नहीं खुलता वही ताला सही चाबी लगने से आसानी से खुल जाता है। स्तुति में भी तन्मयता आने से आत्मा के अनंत शक्तिस्रोतों के उद्घाटन में संदेह को कोई अवकाश नहीं रहता। आचारांग में अर्हत् के साथ तादात्म्य स्थापित होने के निम्नोक्त पांच कारण उपलब्ध हैं[३]–

१. उनकी दृष्टि
२. उनका स्वरूप ज्ञान
३. उनका आगमन
४. उनकी चैतसिक अनुभूति
५. उनका सान्निध्य

यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अर्हत् परमात्मा को "तिरागद्वेषमोहाः" विशेषण से संबोधा गया है, जब परमात्मा राग-द्वेष से मुक्त है तब उनकी स्तुति से लाभ ही क्या? राग न होने के कारण वे अपने किसी भी भक्त पर अनुग्रह नहीं करेंगे और द्वेष न होने के कारण वे किसी भी दुष्ट का निग्रह करने के लिए भी प्रेरित नहीं होंगे। क्योंकि अनुग्रह-निग्रह में प्रवृत्ति तो राग-द्वेष की प्रेरणा से ही होती है। जो शिष्टों पर अनुग्रह और दुष्टों पर निग्रह करता है, उसमें राग या द्वेष का अस्तित्व जरूर होता है। किन्तु जैन इस प्रकार के किसी ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते।

इस जिज्ञासा का समाधान जैन ग्रंथों में जो दिया गया है वह बड़ा ही मनोग्राही, तर्क संगत एवं आकर्षक है। आचार्य समंतभद्र के स्वयंभू स्तोत्र में तीर्थंकर वासुपूज्य की स्तवना से इस जिज्ञासा का समाधान प्राप्त किया जा सकता है–

**न पूज्यार्थस्त्वयिवीतरागे, न निन्दयानाद विवान्तवैरे।**
**तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चेतो दुरितां जनेभ्यः ॥**

अर्थात् हे नाथ! आप तो वीतराग हैं। आपको अपनी पूजा से कोई प्रयोजन नहीं। आप न अपनी पूजा करने वालों से खुश होते हैं और न ही निंदा करने वालों से नाखुश। क्योंकि आपने तो वैर का पूरी तरह वमन कर दिया है, तो भी यह निश्चित है कि आपके पवित्र गुणों का स्मरण हमारे चित्त को पाप रूप कलंक से हटाकर पवित्र बना देता है। इसका आशय यह है कि परमात्मा यद्यपि स्वयं कुछ भी नहीं करता फिर भी उनके निमित्त से आत्मा में जो शुभोपयोग उत्पन्न हो जाता है उसी से उसके पाप का क्षय और निर्जरा के साथ पुण्य का बंध हो जाता है।

तथ्य यह कि भौतिक सुविधाओं तथा ऋद्धि, सिद्धि व समृद्धि का उपलब्ध

होना निर्जरा का फल नहीं है वह निर्जरा के सहवर्ती बंधने वाले पुण्य कर्मों का परिणाम हैं। जैन-दर्शन की मान्यता है कि जहाँ निर्जरा होती है वहां पुण्य का बंध भी होता है। उस पुण्य बंध के कारण ही उपासक अयाचित और अनायास प्रासंगिक लाभों से भी लाभान्वित हो जाता है। इसलिए अर्हत् भक्ति का उद्देश्य है—आत्मा का निर्मलीकरण और उसकी चरम परिणति है—मोक्ष पद की प्राप्ति। उसके प्रासंगिक फल हैं—यश की प्राप्ति, लक्ष्मी का वरण करना, स्वर्ग का मिलना, आरोग्य का पाना, दारिद्रय, भय एवं विपदाओं का नष्ट होना आदि।

महाकवि धनञ्जय इसी बात का समर्थन करते हुए 'विषापहार स्तोत्र' में लिखते हैं—

**उपैति भक्त्या सम्मुख सुखानि, त्वयिस्वभावाद विमुखश्च दुःखम्।**
**सदावदातद्युतिरेकरूपस्तयोस्त्वमादर्श इवाभवासि ॥**

हे भगवन! तुम तो निर्मल दर्पण की तरह स्वच्छ हो। स्वच्छता तुम्हारा स्वभाव है। जो तुम्हें निष्कपट भाव से देखता है, वह सुख पाता है और जो कपट भाव से देखता है, वह दुःख पाता है। ठीक ही है दर्पण में कोई अपना मुँह सीधा करके देखता है तो उसका मुँह सीधा दिखता है और जो अपना मुँह टेढ़ा करके देखता है, उसे टेढ़ा दिखता है किंतु दर्पण न किसी का मुँह टेढ़ा करता है और न ही सीधा। इसी प्रकार राग-द्वेष रहित परमात्मा न किसी को दुःख देते हैं और न सुख, वह तो प्रकृतिस्थ है। बहुत यथार्थ और मार्मिक कहा गया है—

**हम खुदा थे, गर न होता दिल में कोई मुद्दा ।**
**आरजुओं ने हमारी, हमको बंदा कर दिया ॥**

भगवान महावीर ने कहा—"धम्मो शुद्धस्स चिट्ठई"[४] धर्म का निवास शुद्ध हृदय में है। चित्त शुद्धि के अभाव में परमात्मा का अवतरण, दर्शन असंभव है। जब हम लोगस्स का प्रथम पद उच्चरित करते हैं तब अर्हत् स्वरूप के चिंतन से हमारे हृदय में शत्रुता रहितता के भाव (न हम किसी के शत्रु हैं न कोई हमारा शत्रु है) उभरते हैं। जब हम शक्रस्तव के 'अभयदयाणं' की गहराई में प्रवेश करते हैं तब हमारे चित्त में प्रवाहित अशत्रुता की भावना हमारे भीतर निर्भयता का संचार करती है। जब कोई शत्रु ही नहीं तो भय किससे? शांति भी अभय की सहचरी है क्योंकि निर्भयता के समय मन व मस्तिष्क की उद्विग्नता, तनाव आदि समाप्त हो जाते हैं। आधुनिक-वैज्ञानिक इन क्षणों में अल्फा तरंगों की उत्पत्ति मानते हैं, जो चित्त को शांत बनाने के साथ-साथ परिपार्श्व के वातावरण में भी शांति का संचार करती है। जब हम "णमो सिद्धाणं" "सिद्धा सिद्धिं ममदिसंतु" पद के स्वरूप पर तन्मय

बनते हैं तो सुख की उर्मियां उछलने लगती हैं परिणाम स्वरूप अव्याबाधता की भावना बलवती होने लगती है। क्योंकि जब कोई बाधा ही नहीं है तो दुःख भी नहीं रहा सुख ही सुख रह गया। धार्मिक कर्म ग्रंथिय भाषा में सबसे बड़ी बाधा है—कर्म। कर्मों का ही अभाव हो गया तो बाधा स्वयं ही निःशेष हो गई। भौतिक जगत् में रोग आदि अनेक प्रकार की बाधाएं हैं। इसी की समाप्ति को अभिव्यक्ति देते हुए शक्रस्तव में सिद्धों का गुण 'अरुय' भी बताया गया है। रोग के साथ दुःख, शोक आदि सभी की समाप्ति हो जाती है। संक्षेप में सिद्ध पद के जप व ध्यान से अव्याबाध सुख की भावना दृढ़ होती है।

परमात्मा को दर्शन कैसे हो सकते हैं? शांति कैसे मिल सकती है? एक बहन की इन जिज्ञासाओं का समाधान करने हेतु एक दिन एक महात्माजी उसके घर भिक्षार्थ आए। महात्मा के भिक्षापात्र में कचरा देखकर वह बहन बोली—"महात्माजी! इसमें गृहित भिक्षा भी अशुद्ध हो जायेगी।" प्रत्युत्तर में महात्माजी ने शांत भाव से कहा—"बहन! यह तुम्हारे प्रश्न का उत्तर है। चित्त रूपी पात्र को शुद्ध कर लो, परमात्मा के दर्शन स्वतः हो जायेंगे।" इसी तथ्य की पुष्टि में कबीर की पंक्तिया अवलोकनीय हैं—

**मैं जानू हरि दूर है, हरि है हिरदय मांय।**
**आगे टाटी कपट की, ताते दीसे नाय॥**

वास्तव में मन को क्षीर समुद्र बनाने से ही तीर्थंकरत्व का अवतरण होता है। शिव का निवास भी क्षीर सागर में माना है। तीर्थंकर की माता चौदह स्वप्न देखती है उनमें एक क्षीर सागर का स्वप्न भी देखती है।[५]

स्वामी विवेकानंद ने धर्म को शाश्वत आत्मा का शाश्वत ब्रह्म से शाश्वत संबंध कहा है।[६] आधुनिक विज्ञान के पिता अलबर्ट आइंस्टीन ने कहा—"जीवन का जो उद्देश्य मेरे सामने हमेशा चमकता रहा वह है—भलाई, सौन्दर्य और सत्य।" पातञ्जलि कहते हैं—"वीतराग विषयं वा चित्तं" अर्थात् वह चित्त में स्थित हो जाता है जो वीतराग को अपना विषय बनाता है। निष्कर्ष यही निकलता है कि परमात्मा अपने भीतर है। परमात्मा हमारा स्वभाव सिद्ध अधिकार है इसलिए अपने में होना ही परमात्मा में तन्मय होना है। जो परमात्मा में तन्मय है वह सुख-दुःख में नहीं आनंद में है। हमारे श्रद्धा रूपी हृदय मंदिर में सदैव परमात्मा की ही ज्योति जगमगानी चाहिए।

## परमात्मा का स्वरूप

देव योनि में असंख्य देव तथा देव वाचक अन्य देव रागादि दोषों से युक्त

होने के कारण साधक को बंधन मुक्त नहीं कर सकते, जैसे भूदेव, नरदेव, अग्निदेव, वायुदेव, नामदेव, स्थापनादेव, क्षेत्रदेव, कालदेव, भावदेव आदि। अतएव मुमुक्षु को दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय, काम, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, मिथ्यात्व, अज्ञान, निद्रा, अविरति, राग और द्वेष—इन अठारह दोषों से मुक्त देव (अरिहंत) को ही आराध्य मानकर श्रद्धा करनी चाहिए। क्योंकि सत्य का प्रथम साक्षात्कार, केवलज्ञान का प्राप्तकर्ता अरिहंत है। जो कुछ भी सत्यासत्य का प्रकाश उसे प्राप्त है उसी को मुनि या साधु जनसाधारण के सामने व्याख्यायित करते हैं। साधु ने स्वयं सत्य का ज्ञान या साक्षात्कार नहीं किया। मूल अनुभूत सत्य की प्रतिमा अरिहंत भगवान है वही आध्यात्मिकता का सर्वोच्च और पवित्र रूप है। उन्हीं के आध्यात्मिक प्रकाश में संसार का अज्ञानान्धकार नष्ट होता है।

भगवती सूत्र में उल्लेख मिलता है। कि गणधर गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—"भंते! अरिहंत को देवाधिदेव अर्थात् देवताओं से भी श्रेष्ठ देव क्यों कहा जाता है।" प्रत्युत्तर में भगवान महावीर ने कहा—गौतम! अरिहंत अनंत-ज्ञान, अनंत-दर्शन आदि दिव्यातिदिव्य गुणों से युक्त होते हैं। वे समस्त देव और देवेन्द्रों के भी पूज्य होते हैं, इसलिए उन्हें देवाधिदेव कहा जाता है।[८]

मानस में तुलसीदासजी ने कहा है—

**"जाकी रही भावना जैसी**
**प्रभु मूरत देखी तिन तैसी"**

वस्तुतः श्रेष्ठ गुणों की प्राप्ति हेतु नमस्कार किया जाता है। अरिहंत देव के गुण रूपी पुष्पों पर जब हमारा मन रूपी भंवरा मंडरायेगा तो उस अनंत शक्ति के मकरंद का रसास्वादन अवश्य ही करेगा।

निक्षेप नय के अनुसार अरिहंत की व्याख्या चार नयों से की जाती है—

१. नाम अरिहंत — जैसे किसी व्यक्ति को अरिहंत, अर्हदास, जिनदास, ऋषभकुमार, वर्धमान आदि नामों से पुकारा जाता है। वह नाम से अरिहंत है पर उसमें अरिहंत के गुण नहीं हैं।

२. स्थापना अरिहंत — किसी वस्तु में अरिहंत का आरोपण करना। जैसे मूर्ति आदि में अरिहंत की स्थापना करने पर अरिहंत के गुण उसमें नहीं आते। वह तो एक आकार है। वस्तुतः स्थापना असली वस्तु को समझने के लिए

संकेत मात्र है। जैसे भूगोल के नक्शे में कोई निशान बनाकर कह दिया जाता है, यह हिमालय है, यह अरावली पर्वत है, यह विंध्यांचल है, यह झील है, यह अमुक नगर है आदि। जम्बुद्वीप के बीच में एक बिंदु रख दिया जाता है, उसे मेरु पर्वत कहा जाता है, यह स्थापना निक्षेप है।

३. द्रव्य अरिहंत – तीर्थंकर नाम कर्म बंधने के बाद जब तक तीर्थंकर पद की प्राप्ति न हो तब तक वे द्रव्य तीर्थंकर कहलाते हैं। जैसे भगवान महावीर के शासन में नौ व्यक्तियों ने तीर्थंकर नाम कर्म का बंध किया–श्रेणिक, सुपार्श्व, शंख, सुलसा, रेवती, पोट्टिल अनगार, दृढ़ायु, शत्तक, उदायी।

४. भाव अरिहंत – वर्तमान समय में जो तीर्थंकर हैं (विहरमान हैं) वे भाव अरिहंत कहलाते हैं।

उपरोक्त चार निक्षेपों में गुण निष्पन्न होने के कारण भाव अरिहंत ही वंदनीय, नमस्करणीय, प्रार्थनीय, स्मरणीय एवं स्तुत्य हैं। वे जब इस पद पर होते हैं तब भी वंदनीय हैं और अघाती कर्मों से मुक्त हों जब 'सिद्ध' पद को प्राप्त होते हैं तब भी वंदनीय हैं। यही कारण है 'शक्र स्तुति' में[६] ''संपत्ताणं णमो जिणाणं जियभयाणं'' कहकर सिद्धों को नमस्कार किया गया है और संपाविउकम्माणं णमो जिणाणं जियभयाणं कहकर अर्हतों को नमस्कार किया गया है। अरिहंत हमारे आदर्श हैं, सिद्धि हमारा लक्ष्य है। वस्तु सत्य यह है कि अर्हत् व सिद्ध–ये दोनों अवस्थाएं आत्मा का ही पूर्ण विकसित स्वरूप हैं। अतः उस स्वरूप की प्राप्ति हेतु स्तुति के माध्यम से जैन वाङ्मय में अर्हत् व सिद्धों की उपासना, आराधना की जाती है।

## जैन वाङ्मय में स्तुति

जैन वाङ्मय में स्तोत्र, स्तव और स्तुति की परम्परा बहुत प्राचीन रही है। सूत्रकृतांग में 'वीरत्थुई' आवश्यक सूत्र में चतुर्विंशति स्तव, शक्रस्तुति, नंदी की स्थिरावली–ये सब प्रसिद्ध स्तुति प्रकरण हैं। विघ्न निवारण के लिए आगमोत्तर काल में अनेक आचार्यों ने अनेक स्तुति ग्रंथ लिखे हैं। चाहे वे विघ्न बाधाएं ग्रह कृत हो, मनुष्य कृत हो, देव कृत हो, परिस्थिति कृत हो अथवा मनोविकृति कृत हो। यद्यपि ऐहिक सिद्धि के निमित्त से जैन परम्परा में मंत्र-विद्या का प्रयोग निषिध है, पर जैन शासन की उन्नति और प्रभावना की दृष्टि से आचार्यों को मंत्र आदि

विद्या का वेत्ता होना आवश्यक भी कहा गया है।

चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रभाचन्द्र द्वारा लिखित प्रभा चरित्र एक इसी कोटि का ग्रंथ है, जिसमें मंत्र विद्या निष्णात प्रभावापन्न आचार्यों का वर्णन है। पूर्वगत मंत्र-विद्या और उत्तरवर्ती मंत्र-साहित्य के बीच में हम कतिपय प्राकृत ग्रंथों के नाम पाते हैं, जिनमें सिद्ध प्राभृत, योनि प्राभृत, निमित्त प्राभृत तथा विद्या प्राभृत के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सब वर्तमान में अप्राप्य हैं, केवल योनि प्राभृत ही अंशतः प्राप्य है।

जैन परम्परा में यद्यपि प्राचीन साहित्य स्वल्प मात्रा में उपलब्ध था। फिर भी अनेक रूपों में उसका विकास होता गया। परिणामस्वरूप नमस्कार कल्प, लोगस्स, कल्प, शक्र स्तुति कल्प, उवसग्गहर स्तोत्र कल्प, तिजय पहुत कल्प, भक्तामर कल्प, कल्याण मंदिर कल्प, ऋषिमंडल कल्प व मंत्र भी निर्मित हुए। वर्धमान विद्या कल्प, हींकार कल्प आदि का भी बहुत प्रचलन हुआ। आचार्य के लिए सूरिमंत्र की उपासना का एक विशेष क्रम रहा। ये कल्प विघ्न निवारणार्थ अचूक उपाय माने गये हैं।

भक्तामर स्तोत्र मंत्र गर्भित स्तोत्र है। इसमें मंत्राक्षरों की ऐसी संयोजना है कि स्तोत्र जप से सारा काम अपने-आप हो जाता है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने भक्तामर के कई कल्प तैयार किये। इसके प्रत्येक श्लोक की विधि, मंत्र तथा तंत्र निर्मित हुए। इसके साथ अनेक मंत्रों का विकास, उनको सिद्ध करने के उपाय और लाभों का विस्तार से वर्णन उपलब्ध हैं। आदिनाथ भगवान की स्तुति में निर्मित यह एक शक्तिशाली, चमत्कारिक एवं प्रभावशाली स्तोत्र है। निर्जरा की विशुद्ध भावना से उच्चरित यह स्तोत्र महाप्रभावशाली रहा है।

आचार्य भद्रबाहु ध्यान के पुरस्कर्ता एवं अनेक विद्याओं के पारंगत आचार्य थे। उन्होंने उपद्रव निवारणार्थ संघ के निवेदन पर 'उवसग्गहर स्तोत्र' की रचना की। उससे उपद्रव शांत हो गया। स्तोत्र प्रमुख रूप से दो प्रकार के होते हैं–

१. पाठ सिद्ध
२. साधना सिद्ध

पाठ सिद्ध होने के कारण 'उवसग्गहर स्तोत्र' का पाठ करते ही अधिष्ठाता देव उपस्थित हो जाता और विघ्न निवारण कर देता। फिर किसी कारण वश उस देव के निवेदन पर आचार्य भद्रबाहु ने स्तोत्र के कुछ पद्य निकाल दिये, जिसके कारण देव का साक्षात् आना बंद हो गया पर विघ्न निवारण का प्रभाव ज्यों का त्यों बना है।

तेरापंथ के चतुर्थ आचार्यश्री मज्जयाचार्य ने अपने जीवन काल में अनेकों बार विघ्न निवारणार्थ स्तुतियों की रचना की और उनसे लाभान्वित भी हुए। आज

भी उन स्तुतियों का यथावत प्रभाव है। बीदासर में जब रात्रि के समय अंगारों की वर्षा हुई तब जयाचार्य के अतिरिक्त सभी साधु अचेत हो गिर पड़े। उस समय जयाचार्य ने मंगल-करण और विघ्न निवारण हेतु अपने परम इष्ट, परम गुरु आचार्य भिक्षु की स्तुति की विघ्न का निवारण हो गया। इसी प्रकार एक बार किसी शारीरिक उपद्रव के निवारण हेतु उन्होंने मंगल का प्रयोग किया, जिससे उपद्रव शांत हो गया। इसलिए कहा गया–

**विघ्नहरण मंगलकरण, स्वाम भिक्षु रो नाम ।**
**गुण ओलख सुमिरन कर्‌या, सरै अचिन्त्या काम ॥**

यह उनका मंगलकरण और विघ्नहरण मंत्र था। जब श्रुत केवली और बहुश्रुत आचार्यों द्वारा निर्मित स्तोत्र भी इतनी शक्ति अपने भीतर संजोये होते हैं तो उस स्तोत्र की शक्ति का तो क्या कहना जो वीतराग वाणी से उद्‌भूत है। नमिऊण स्तोत्र, लोगस्स, शक्र स्तव तो वीतराग पुरुषों की वाणी है।

लोगस्स एक मंत्र गर्भित स्तवन है। इसमें मंत्राक्षरों की ऐसी अनुपम और बेजोड़ संयोजना है कि इसके स्तवन, ध्यान, जप अथवा स्वाध्याय से असाध्य कार्य भी साध्य हुए हैं। इस स्तवन का एक-एक अक्षर महाशक्ति पुञ्ज है। चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति में निर्मित इस स्तवन को स्तुति साहित्य का महत्त्वपूर्ण पाठ माना गया है। संकल्प शक्ति, इच्छा शक्ति और मनः शक्ति को विकसित करने के लिए इससे निस्सृत अनेक मंत्रों की रचना उपलब्ध है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने लोगस्स के कई कल्प बनाये हैं, जिनमें साधना, आराधना एवं मंत्राक्षरों की अनेक विधियां प्राप्य हैं। मंत्र रहस्यों के पारगामी मंत्रविद् आचार्य, आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने निर्मलता, तेजस्विता और गंभीरता आदि गुणों के विकास हेतु एक रहस्य पूर्ण मंत्र की संयोजना की जिसका प्रभाव अचिन्त्य है, मंत्र जप से ही अनुभव गम्य है।

## मंत्र

**ॐ ह्रीं श्रीँ अर्हं अ सि आ उ सा नमः आरोग्ग बोहि लाभं समाहि वर मुत्तमं दिंतु चंदेसु निम्मलयरा आइच्चेसु अहियं पयासयरा सागर वर गंभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ह्रां ह्रीँ ह्रूँ ह्रः ॥**

## मंत्र संख्या

प्रतिदिन एक माला

## परिणाम

आरोग्य, बोधि, समाधि, निर्मलता, तेजस्विता, गंभीरता आदि गुणों का विकास।

## निष्कर्ष

तीनों लोक के ऊपर लोकान्त (मोक्ष स्थान) में सिद्ध परमात्मा का निवास है। वे शाश्वत ज्ञान व सुख के आगार हैं, पुण्य और पाप से निर्लिप्त हैं। केवल निर्मल ध्यान से ही उसकी प्राप्ति संभव है। मलिन दर्पण में रूप दिखाई नहीं देता, यह सत्य तथ्य है। इसी प्रकार मलिन चित्त में, चित्त की चंचलता में परमात्मा का भान नहीं होता। परमात्मा विश्व के मस्तक पर विराजमान है और विश्व उनके ज्ञान में क्योंकि वह सबको जानता है। जैन दर्शन के अनुसार सिद्ध परमात्मा अनेक हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं है। सबका स्वरूप एक समान हैं। वह न तो इन्द्रिय गम्य है और न केवल शास्त्राभ्यास से ही उसे जान सकते है। वह केवल एक निर्मल ध्यान का विषय है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मुक्ति तो वह शक्ति है जो जीव को शिवत्व और सिद्धत्व की आभा से दैदीप्यमान बनाती है। अर्हत् परमात्मा के मांगलिक वचनों से आत्मा का कालुष्य क्षीण होता है, कषाय जन्य अशांति दूर होती है और विकारों पर विजय प्राप्त की जा सकती है। जीवन में आनंद हिलोरे लेने लगता है। एक विकारहीन आदर्श का स्वरूप सामने रहने से राग-द्वेष जन्य विकारों का शमन होता है और मनुष्य की आत्मा आध्यात्मिक विकास के सोपान पार करने लगती है। अतः विनय, निष्ठा और श्रद्धा के साथ महान आत्माओं की चरण रज सिर पर धारण करने से अथवा स्तुति आदि के माध्यम से उनका उत्कीर्तन करने से न केवल चित्तस्थैर्य और मन को शांति ही प्राप्त होती है बल्कि आत्मा का सम्यक् विकास होता है। उसमें पंच परमेष्ठी के गुण समाविष्ट हो जाते हैं।

## संदर्भ


१. आवश्यक भाष्य–४६
२. आयारों की अर्हत् वाणी–श्लोक/७८
३. आचारांग श्रुत स्कन्ध–१, अध्ययन ५, उद्देशा ४, सूत्र ५४७
४. उत्तराध्ययन–अध्ययन ३, श्लोक १२
५. आचारांग श्रुत स्कन्ध–२, १५/१
६. विवेकानंद साहित्य–खण्ड, ४, पृ. १८६
७. अभिधान चिंतामणि/सत्तरिसय ठाण वृत्ति, गाथा, १९२-१९३
८. भगवती सूत्र–१२/६
९. आवश्यक सूत्र–अध्ययन-६

# ४. शक्र स्तुति : स्वरूप मीमांसा

**तीर्थंकर देव निर्मित एक हजार पंखुडी वाले स्वर्ण कमल पर पदन्यास करते हुए विचरण करते हैं। उनके चरणों के नख खिले हुए नवीन स्वर्ण कमलों के समूह की कांति के समान चमकदार होते हैं। उनके चरणों के नखों में एक अपूर्व आभा होती है। सभी तीर्थंकरों के यह अतिशय होता है। यह अतिशय तीर्थंकरों के पूर्व जन्म की तपस्या का फल है। उस महातपस्या के फलस्वरूप सब प्रकार की कामनाओं से रहित होने पर भी वह वैभव भगवान के चरणों में लौटता है। ऐसे तीर्थंकर देवों को हमारा बार-बार नमस्कार हो।**

जैन सिद्धान्तानुसार अर्हत भगवन्तों के जन्म कल्याणक के समय प्रथम स्वर्ग का इन्द्र शक्रेन्द्र इस स्तुति के द्वारा अर्हतों की माता को प्रणाम करता हुआ अर्हतों का गुणानुकीर्तन करता है, अतएव यह स्तवन जैन वाङ्मय में शक्र स्तुति (शक्कत्थुई) के नाम से विश्रुत है।

**सक्कत्थुई**

| पाठ | अर्थ |
|---|---|
| नमोत्थुणं | नमस्कार हो |
| अरहंताणं | अर्हत् |
| भगवंताणं | भगवान |
| आइगराणं | धर्म के आदिकर्ता |
| तित्थयराणं | तीर्थंकर |
| सहसंबुद्धाणं | स्वयंसबुद्ध |
| पुरिसोत्तमाणं | पुरुषोत्तम |
| पुरिससीहाणं | पुरुषसिंह |
| पुरिसवरपुंडरीयाणं | पुरुषों में प्रवर पुंडरीक |

| पाठ | अर्थ |
|---|---|
| पुरिसवर गंधहत्थीणं | पुरुषों में प्रवर गंध-हस्ति |
| लोगुत्तमाणं | लोकोत्तम |
| लोगनाहाणं | लोकनाथ |
| लोगहियाणं | लोकहितकारी |
| लोगपईवाणं | लोकप्रदीप |
| लोगपज्जोयगराणं | लोक में उद्योत करने वाले |
| अभयदयाणं | अभयदाता |
| चक्खुदयाणं | चक्षुदाता |
| मग्गदयाणं | मार्गदाता |
| शरणदयाणं | शरणदाता |
| जीवदयाणं | जीवनदाता |
| बोहिदयाणं | बोधिदाता |
| धम्मदयाणं | धर्मदाता |
| धम्मदेसयाणं | धर्मोपदेष्टा |
| धम्मनायगाणं | धर्म नायक |
| धम्मसारहीणं | धर्म सारथि |
| धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं | धर्म के प्रवर चतुर्दिक व्यापी चक्रवर्ती |
| दीवो | जो दीप हैं |
| ताणं | त्राण हैं |
| सरण-गई-पइट्ठा | शरण, गति और प्रतिष्ठा हैं |
| अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं | अबाधित प्रवर ज्ञान दर्शन के धारक |
| विअट्टछउमाणं | आवरण-रहित |
| जिणाणं | जयी या ज्ञाता |
| जावयाणं | जिताने वाले या ज्ञापक |
| तिण्णाणं | तीर्थ |
| तारयाणं | तारक |
| बुद्धाणं | बुद्ध |
| बोहयाणं | बोद्धिदाता |
| मुत्ताणं | मुक्त |
| मोयमाणं | मुक्तिदाता |
| सव्वण्णूणं | सर्वज्ञ |
| सव्वदरिसीणं | सर्वदर्शी |

| पाठ | अर्थ |
|---|---|
| सिव | कल्याणकारी |
| मयल | अचल |
| मरुय | अरुज |
| मणंत | अनंत |
| मक्खय | अक्षय |
| मव्वाबाह | अव्याबाध |
| मपुणरावित्ति | पुनरावृत्ति से रहित |
| सिद्धिगइनाम धेयं | सिद्धिगति नामक |
| ठाणं | स्थान को |
| संपताणं | प्राप्त |
| नमो | नमस्कार हो |
| जिणाणं | जिनेश्वर |
| जियभयाणं | भय विजेता को। |

शक्र-स्तुति में प्रथम शब्द 'नमोत्थुणं' नमस्कार का सूचक है। शेष अन्य पद ये बताते हैं कि नमस्कार किसको? मैं जिन्हें नमस्कार करूं उनका स्वरूप क्या है? शक्र स्तुति में समागत निम्नोक्त प्रमुख गुण "नमोत्थुणं"–"सक्कत्थुई" की ऐसी निजी विरल विशेषताएं हैं जो अन्य सूत्रों में नहीं हैं।

अरहंताणं–जिन्होंने अपने कर्म, कषाय व विकार जो आत्मगुणों की हानि करने वाले राग-द्वेष रूपी लुटेरे हैं, उन पर विजय प्राप्त कर ली हैं और अन्तर दोषों को समूल नष्ट कर दिया हैं वे अरिहंत कहलाते हैं।

भगवंताणं–'भगवान्' शब्द श्रद्धा और विश्वास का सूचक है। आचार्य हरिभद्रानुसार ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य को भग कहते है, जो भग युक्त हैं वह भगवान कहलाने का अधिकारी है।[1] पूर्ण ऐश्वर्य, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण यश, पूर्ण श्री, पूर्ण धर्म एवं पूर्ण वैराग्य–इन छह पूर्णताओं से पूर्ण होने के कारण अर्हंतों को 'भगवंताणं' शब्द से संबोधा गया है।

आइगराणं–स्वानुभूति के बल पर अर्हत् धर्म का स्वतंत्र प्रतिपादन करते हैं अतः वे आदिकर, धर्म के आदिकर्ता कहे जाते हैं। यद्यपि धर्म प्रवाह रूप से अनादि और शाश्वत है। धर्म के व्यवहारिक रूप की अपेक्षा धर्म शासन की आदि मानी गई है। जैसे भगवान महावीर ने पार्श्व प्रभु के चातुर्याम संवर धर्म के स्थान पर पंच महाव्रत रूप धर्म की स्थापना की।

तित्थयराणं–(तीर्थंकर) तीर्थंकर शब्द का अर्थ है तीर्थ के कर्त्ता। यहाँ तीर्थ

शब्द के प्रमुख रूप से दो अर्थ विमर्शनीय हैं—१. प्रवचन २. साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना। यहाँ एक जिज्ञासा का होना स्वाभाविक है कि तीर्थंकर को वीतरागता के कारण सब कुछ प्राप्त है फिर प्रवचन/धर्म देशना का क्या प्रयोजन?

कर्म शास्त्रीय दृष्टि से कहा जा सकता है कि तीर्थंकर कृतार्थ होने पर भी तीर्थंकर नाम कर्म के उदय को वेदने के लिए धर्मदेशना देते हैं। धर्मदेशना देने से तीर्थंकर प्रकृति की निर्जरा होती है।[३]

दूसरी दृष्टि से इस जिज्ञासा का समाधान प्रश्न व्याकरण सूत्र में भी विवर्णित है—"सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं" संसार के सब प्राणियों की रक्षा अर्थात् पतन से बचाने के लिए तीर्थंकर प्रवचन करते हैं।

सहसंबुद्धाणं—(स्वयंसंबुद्ध) किसी निमित्त या गुरु के प्रतिबोध के बिना ही स्वयं बोधि प्राप्त करने के कारण तीर्थंकर स्वयंसंबुद्ध कहलाते हैं।

पुरिसोत्तमाणं—(पुरुषोत्तम) अर्हतों के तनु रत्न पर १००८ दिव्य उत्तम लक्षण होते हैं। उनका वपु सर्व रोगों से विमुक्त, देदीप्यमान, सुगंधित व अनुपम होता है। उनके सौन्दर्य की सानी ओर कौन कर सकता है? उनका आन्तरिक सौन्दर्य शांति, पवित्रता, निर्मलता, वीतरागता और विशुद्ध लेश्या से परिपूर्ण होता है तो बाह्य सौन्दर्य भी अनुपमेय और अकथनीय है। जैसा कि कहा गया है—'तेषां च देहोऽद्भूतरूयगंध' उनका रूप और शरीर की सुगंध अद्भूत होती है। निर्युक्तिकार कहते हैं—सब देवता अपने सौन्दर्य को इकट्ठा कर अंगूठे का निर्माण करें, फिर उसे तीर्थंकर के अंगूठे के पास लाएं तो ऐसा लगेगा जैसे शीतल जल के समक्ष कोई अंगारा लाकर रख दिया गया हो।[३] इस प्रकार अद्वितीय, अनुपम और सर्वोत्तम होने के कारण वे पुरुषोत्तम कहलाते हैं।

प्रथम श्रुत स्कन्ध के 'वीरस्तुति' नामक षष्ठ अध्ययन में श्रमण भगवान महावीर की विविध उपमाओं से स्तुति की गई है। यह महावीर की सबसे प्राचीन स्तुति है। इसमें उनके गुणों का हृदयग्राही वर्णन है। वहां भगवान महावीर को हाथियों में ऐरावत, मृगों में सिंह, नदियों में गंगा और पक्षियों में गरुड़ की उपमा देते हुए लोक में सर्वोत्तम बताया गया है।[४]

आचार्य मानतुंग ने आदिनाथ भगवान की स्तुति में यही भावना अभिव्यक्त की है[५]—

१. साधुजन आपको परम पुरुष मानते हैं।
२. राग-द्वेष रूपी मल से रहित होने से आपको निर्मल मानते हैं।
३. मोह अंधकार को आप नष्ट करते हो, इस कारण आपको सूर्य के समान मानते हैं।

४. आपको प्राप्त होने से प्राणी मृत्यु पर विजय प्राप्त करते हैं, इस कारण आपको मृत्युंजय मानते हैं।

५. आपके अतिरिक्त कोई कल्याणकारी मोक्ष का मार्ग नहीं है इस कारण आपको ही मोक्ष का मार्ग मानते हैं।

इसी तथ्य की पुष्टि में यजुर्वेद का निम्न श्लोक भी उपयुक्त है[६]–

**वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्–**
**आदित्यवर्ण तमसः परस्तात**
**तमेवं विदित्वाऽति मत्यनेति**
**नान्य पंथा विद्यतेऽनाय ॥**

अर्थात् जो नित्य अंधकार से दूर है, जिसकी सूर्य-सी कांति है, उस महापुरुष को मैं जानता हूँ। उसको जानकर ही मृत्यु से परे पहुँचा जाता है, वहाँ पहुँचने के लिए दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

पुरिससीहाणं–(पुरुषसिंह) बल, असहाय पराक्रम और निर्भयता के कारण उन्हें सिंह की उपमा से उपमित किया गया है। इतिहास विश्रुत घटना है कि जब भगवान महावीर के जन्मोत्सव के प्रसंग पर इन्द्र को यह संशय हुआ कि नवजात शिशु सुरगण द्वारा प्रयुक्त विपुल स्नात्र जल को कैसे सहन कर पायेगा? अवधि ज्ञान से शिशु ने इन्द्र के मनोगत भावों को जान लिया। इन्द्र का संशय दूर करने हेतु उस अद्भूत शिशु ने अपने अंगूठे से मेरु पर्वत को दबाया। परिणामतः मेरु पर्वत कम्पायमान होकर डोलने लगा।[७] अर्हत् जन्म के समय भी इतने शक्तिशाली होते हैं। शास्त्रों में बताया जाता है कि एक लाख चक्रवर्ती का बल एक इन्द्र में और एक इन्द्र से अनंत गुणा बल तीर्थंकर की एक कनिष्ठा अंगुली में होता है। सचमुच तीर्थंकरों के बल की किसी से तुलना नहीं की जा सकती। यही कारण है कि अर्हतों को पुरुषसिंह कहा गया है।

पुरिसवर पुंड़रीयाणं–(पुरुषों में प्रवर पुंडरीक) कमल शुचिता, पवित्रता, निर्मलता और निर्लेपता का प्रतीक है। तीर्थंकर भगवान को पुंडरीक कमल की उपमा दी गई है। पुंडरीक कमल अन्यान्य कमलों की अपेक्षा सौन्दर्य और सौरभ में उत्कृष्ट होता है। वह श्वेत परमाणुओं से निर्मित होता है। उसके शरीर की अवगाहना एक हजार योजन की होती है।[८] पुंडरीक कमल की तरह तीर्थंकर मानव समुदाय में श्रेष्ठ है।

कमल भौतिक श्री और समृद्धि की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी का पावन प्रतीक है। यह शांति, सुख, ऐश्वर्य और श्रीदायक माना जाता है। कमल पुष्प पर विराजमान

होने के कारण लक्ष्मी को भी पद्मासना कहा है। इधर अध्यात्म चरमोत्कष ५र स्थित तीर्थंकर कमलासन पर ही आसीन होते हैं। उनके चरण जहाँ टिकते हैं वहाँ कमल खिल उठते हैं। शास्त्रों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि तीर्थंकर देव निर्मित एक हजार पंखुड़ी वाले सुवर्ण कमल पर पदन्यास करते हुए विचरण करते हैं। तीर्थंकरों के इस अतिशय का विवेचन आचार्य मानतुंग ने भी किया है–

**उन्निद्रहेम नवपङ्कपुञ्जकांति, पर्युल्लसन्नखमयूख शिखाभिरामौ ।**
**पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र! धत् पद्मानि तत्र बिबुधाः परिकल्पयन्ति ॥**[६]

आचार्य कहते हैं भगवान के चरण स्वयं बड़े ही सुन्दर हैं। उनके चरणों के नख खिले हुए नवीन सुवर्ण-कमलों के समूह की कांति के समान चमकदार होते हैं। भगवान के चरणों के नखों में एक अपूर्व आभा होती है। यह भगवान का एक अतिशय भी है। सभी तीर्थंकरों के यह अतिशय होता है। यह अतिशय तीर्थंकरों के पूर्व जन्म की तपस्या का फल है। उस महातपस्या के फलस्वरूप सब प्रकार की कामनाओं से रहित होने पर भी यह वैभव भगवान के चरणों में लौटता है। ऐसे तीर्थंकर देव को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

दिगम्बर शास्त्रों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि तीर्थंकर देव जब समवसरण में विराजमान होते हैं तब मंदार, सुन्दर, नमेरु, पारिजात और स्नातक आदि दिव्य वृक्षों के फूलों के समान अचित पुष्पों की वर्षा होती है। सुगंधित गंधोदक की वृष्टि होती है। शीतल, मंद और सुगंधित पवन चलती है। ऐस सुन्दर, सुखद और प्रसन्न वातावरण में भगवान की दिव्य ध्वनि होती है। देव जिन पुष्पों की वृष्टि करते हैं उन पुष्पों का वर्ण एकदम निर्मल और धवल होता है। शरद ऋतु के चन्द्रमा के समान सफेद रंग शुक्ल ध्यान और शुक्ल लेश्या का प्रतीक है।

इतिहास का सर्वे करने से ऐसा अनुमान लगता है कि महापुरुषों की जीवनगाथा के साथ पुष्पों की सृष्टि भी निर्मित है, सृजन की प्रतीक है[१०], यथा–

- तीर्थंकर के चरणों में पद्मों की सृष्टि (अचित पुष्पों की वृष्टि)
- भगवान बुद्ध जन्मते ही सात कदम चले, वहां महकते पुष्पों का निर्माण होना।
- चावल की भांति गुलाब भी पैगम्बर मोहम्मद के पसीने से पैदा हुआ–ऐसी तुर्की की किंवदन्ति है।
- ईसा मसीह को सुली पर चढ़ाया गया। उनके हाथों एवं पावों में कीले ठोकी गई। उस समय जहाँ-जहाँ पर खून टपक कर गिरा वहाँ-वहाँ सुन्दर गुलाब पैदा हुए।

उपरोक्त तथ्य इसी रहस्य को अनावृत्त करते हैं कि महापुरुष कष्टों में भी गुलाब की भांति हंसते हैं, लोकोत्तर सृष्टि का सृजन करते हैं।

पुरिसवर गंधहत्थीणं–(पुरुषों में प्रवर गंध-हस्ती) गंध-हस्ति वीरता और महक दोनों का स्वामी कहलाता है। कहा जाता है–पांच सौ हाथी हैं, बड़े शक्तिशाली। यदि गंध-हस्ति आ जाये तो वे पांच सौ हाथी बकरी बन जाएं उसकी गंध मात्र से। उसकी गंध के परमाणु इतने शक्तिशाली हैं कि पांच सौ शक्तिशाली हाथी निर्वीय और बकरी जैसे बन जाते हैं, अपना मुँह नीचा कर लेते हैं। उनकी लड़ने की ताकत समाप्त हो जाती है।[11]

ऐसा भी कहा जाता है कि जिस वन प्रदेश में गंधहस्ति रहता है वहाँ महामारी आदि का प्रकोप नहीं होता। तीर्थंकरों को पुरुषों में प्रवर गंधहस्ती की उपमा प्राप्त है इसका कारण है कि वे असीम बल व अनंत-गुणों के निधान होते हैं। संसार में उनका पदार्पण होते ही मिथ्यात्वियों का जोर समाप्त हो जाता है। इनके अतिशय के प्रभाव के कारण वे जहाँ-जहाँ प्रवचन करते हैं, वहाँ से बारह योजन (४८ कोस) की दूरी तक अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी आदि प्राकृतिक प्रकोप नहीं होते हैं।[12]

लोगुत्तमाणं–(लोकोत्तम) अर्हत् तीनों लोक में श्रेष्ठ रत्न है। सुर, नर, किन्नर, कोई भी उनकी बराबरी नहीं कर सकता। उनके ऐश्वर्य के आगे हजारों-हजारों देवों और इन्द्रों का ऐश्वर्य भी नगण्य है। जयाचार्य ने अर्हत् मल्लि की स्तुति करते हुए कहा–प्रभो! तुम्हारे शरीर में कल्पवृक्ष की पुष्प माला जैसी सुगंध फूट रही है। देवांगणाओं के नयन रूपी झूमर उसके प्रति आकर्षित हो झूम रहे हैं।[13]

यहाँ 'लोगुत्तमाणं' शब्द का अर्थ लोकोत्तम के रूप में प्रतिष्ठित है। लौकिक और लोकोत्तर मंगल वत् लोकोत्तम को भी दो रूपों में व्याख्यायित किया जा सकता है–

१. द्रव्य लोकोत्तम
२. भाव लोकोत्तम

व्यवहार नय चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि विशिष्ट पुरुषों को लोकोत्तम मानता है–ये द्रव्य लोकोत्तम हैं। व्यवहार के क्षेत्र में द्रव्य का भी महत्त्व है पर निश्चय नय की दृष्टि में भाव को जो महत्त्व प्राप्त है वह द्रव्य को नहीं मिल सकता। भाव लोकोत्तम चार हैं–अरिहंत, सिद्ध, साधु, केवली भाषित धर्म। अरिहंत सर्वोपरि श्लाका पुरुष है। उनके संहनन, रूप, संस्थान, वर्ण, गति, सत्त्व, सार, उच्छ्वास–ये सभी अनुत्तर होते हैं।[14] इनका मूल आधार है–शुभ नाम कर्म

का उदय। तीर्थंकरों में अन्य नाम कर्म की प्रकृतियों का उदय भी प्रशस्त और अनुत्तर होता है। क्षयोपशम तथा उपशम में होने वाले कार्य भी अनुत्तर होते हैं। क्षायिक भाव अविकल्पनीय* अर्थात् भेद रहित होता है।[५] ज्ञान, दर्शन, चारित्र के क्षेत्र में उनकी कोई संसारी प्राणी तुलना नहीं कर सकता, इसलिए उनको लोकोत्तम कहा गया है।

लोगनाहाणं—(लोकनाथ) चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि राजाओं के एक ही छत्र हुआ करता है किंतु तीर्थंकर भगवान के सिर पर तीन अनुपम छत्र रहते हैं, इससे सूचित होता है कि भगवान तीर्थंकर उर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक—तीनों लोक के नाथ हैं।

'योगक्षेम करो नाथः' जो अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करा दे और प्राप्त वस्तु का वियोग न होने दे, उसे नाथ कहते हैं। तीर्थंकर भगवन्त पहले कभी न पाए हुए रत्नत्रय रूप धर्म को प्राप्त करवाने वाले हैं और जिन्हें पहले प्राप्त है, उनके रक्षक हैं। इस प्रकार योग और क्षेम के कर्त्ता होने से प्रभु नाथ हैं। वे प्रेम, क्षमा और परम शांति के बल से अपने असीम प्रेम साम्राज्य में विश्व का शासन करते हैं।

लोगहियाणं—(लोक हितकारी) अर्हत् ही ऐसे उत्तम पुरुष हैं जो बिना किसी स्वार्थ या कामना के अन्यों का हित साधन करते हैं।

लोगपईवाणं—(लोक-प्रदीप) लाईट स्वयं प्रकाशित होती है, दूसरों को प्रकाश देती है पर प्रदीप वत् दूसरों को प्रकाशित नहीं कर सकती। प्रदीप सहस्रों-सहस्रों प्रदीपों को प्रकाशित करने में समर्थ है। अर्हत् ऋषभ की स्तुति में आचार्य मानतुंग ने उन्हें 'अपूर्व दीपक' कहा है।[५] अपूर्व दीपक को व्याख्यायित करते हुए उन्होंने कहा—संसार में जो दीपक दिखाई देते हैं उनमें धुआं और बाती होती है किंतु आप में द्वेष रूपी धुआं और काम की दस अवस्था रूप बाती नहीं है। दीपक में तेल होता है आप में तेल अर्थात् स्नेह राग नहीं है। दीपक जरा-सी हवा के झोकों से बुझ जाता है, आप प्रलय काल की हवा से भी चलित नहीं होते हो। दीपक एक घर को प्रकाशित करता है किंतु आप तीनों ही लोकों के सम्पूर्ण पदार्थ (नव तत्त्वों) को प्रकाशित करते हो। इस प्रकार आप जगत् को प्रकाशित करने वाले अपूर्व दीपक हो।

लोगपज्जोयगराणं—(लोक में उद्योत करने वाले) अर्हत् लोक प्रद्योतक कहलाते हैं। जब-जब धरा पर अज्ञान अंधकार अपना साम्राज्य स्थापित कर लेता है, जनता सत्य धर्म का मार्ग विस्मृत करने लगती है तब अर्हत् केवल ज्ञान का प्रकाश फैलाकर मिथ्यात्व रूपी तिमिर का निराकरण कर अपनी ज्ञान प्रभा से लोकत्रयी

---

* कर्मों के क्षय से निष्पन्न गुणों में कोई विकल्प या भेद नहीं होता। ये सब एक समान लक्षण वाले और सर्वोत्तम होते हैं।

में धर्मोद्योत करते हैं।

प्राणी मात्र को अभय देने के कारण तीर्थंकरों को अभयदयाणं, ज्ञान नेत्र प्रदाता होने के कारण चक्खुदयाणं, रत्नत्रयी का मार्ग बताने के कारण मग्गदयाणं, शरणदाता होने के कारण शरणदयाणं, संयम प्रदाता होने के कारण जीवदयाणं, सम्यक्त्व का बोध कराने से बोहिदयाणं, धर्मप्रवर्त्तन करने के कारण धम्मदयाणं, उनका शासन चलने के कारण धम्मनायगाणं, धर्म देशना देने के कारण धम्मदेसयाणं, चतुर्विध संघ रूप रथ के कुशल संचालक/सारथि होने से धम्मसारहीणं, चार गति का अन्त करने के कारण धम्मवर चाउरंत चक्कवट्टीणं और जहाँ आकर संसार का प्रत्येक प्राणी सुरक्षित रहता है, अर्हत् इस संसार में द्वीप-टापू के समान होने से दीवोत्ताणं सरणगइ पइट्ठाणं अर्थात् द्वीप, शरण, गति और प्रतिष्ठा रूप संबोधनों से संबोधा गया है।

केवल ज्ञान व केवल दर्शन के धारक होने के कारण तीर्थंकरों के अप्पडिहयवर नाणदंसणधराणं, कषाय और घाती कर्म से मुक्त होने के कारण विअट्टछउमाणं, जयी और जीताने वाले होने से जिणाणं जावयाणं, तीर्ण-तारक होने से तिन्नाणं तारयाणं, बुद्ध और बोधिदाता होने से बुद्धाणं बोहयाणं, मुक्त-मुक्तिदाता होने से मुत्ताणं-मोयगाणं, सर्वज्ञ होने से सव्वण्णूणं, सर्वदर्शी होने से सव्वदरिसीणं कहा गया है।

सिवमयलमरुयमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्ति–सिद्धि गइ नामधेयं ठाणं संपत्ताणं/संपाविउकामाणं–इसमें 'संपाविउकामाणं' शब्द मोक्ष को प्राप्त करने वाले वर्तमान तीर्थंकर की दृष्टि से कहा जाता है और जो तीर्थंकर मोक्ष में पधार गये हैं उनके लिए 'ठाणं संपताणं' अर्थात् मोक्ष स्थान को प्राप्त हो चुके, शब्द प्रयुक्त किया गया है। इस पंक्ति में यह स्पष्ट किया गया है कि मोक्ष स्थान कैसा है? मोक्ष की कतिपय विशेषताएं जो यहाँ व्यक्त की गई हैं–

- सिवम् – कल्याणकारी
- अचलम् – अचल/स्थिर
- अरुयम् – रोग रहित
- अणंतम् – अन्तरहित (अनंत)
- अक्खयम् – अक्षय/अविनाशी
- अव्वाबाहम् – अव्याबाध/बाधा रहित
- अपुणरावित्तयं – पुनरागमन से रहित

जियभयाणं–(भय-विजेता) संसार में जन्म, जरा और मृत्यु के महान भय है। अर्हतों ने इन पर विजय प्राप्त कर ली है और वे सर्वथा भयों से मुक्त हो चुके हैं।

णमो जिणाणं द्वारा यह अभिलक्षित होता है कि उपरोक्त गुणों से युक्त अर्हत् भगवन्तों को मेरा नमस्कार हो।

इस प्रकार सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनंत शक्तिमान पुरुषोत्तम अर्हत् भगवान की स्तुति कहाँ तक की जाए? उनके गुण अनंत हैं। एक-एक गुण की अनंतपर्यायें हैं। अगर हजार जिह्वायें भी किसी को प्राप्त हो जाएं तो भी परमात्मा के गुणों का परिपूर्ण वर्णन नहीं किया जा सकता, वह अवर्णनीय है।

सिद्धान्ततः उपरोक्त स्वरूप वाले गुण निष्पन्न भाव अरिहंत ही वंदनीय एवं नमस्करणीय है। ऐसे अहिंसा के उपदेष्टा वीतराग अर्हतों की स्तुति द्रव्य पुष्पों से नहीं हो सकती क्योंकि अर्हत् तो देवाधिदेव हैं। सामान्य मुनिराज के सम्मुख जाते समय भी पांच अभिगम पालने का विधान है, जिनमें प्रथम सचित त्याग है[१७], फिर अर्हत् तो विशिष्टतम् साधु है, वे तो अहिंसा के महान उपदेष्टा हैं। उनके लिए पुष्प पूजा का प्रश्न ही शेष नहीं रहता। आचार्य हरिभद्र ने वीतराग प्रभु के चरणों में कैसे भाव पुष्प समर्पित किये हैं। उन भाव पुष्पों से हम अर्हतों की भक्ति, उपासना व स्तुति करने के अधिकारी हैं। वे भावपुष्प निम्नश्लोक में निर्दिष्ट हैं–

**अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमसङ्गता।**
**गुरुभक्तिस्तपोज्ञानं, सत्पुष्पाणि प्रचक्षते॥**

| | |
|---|---|
| १. अहिंसा | २. सत्य |
| ३. अस्तेय | ४. ब्रह्मचर्य |
| ५. असंगता (अपरिग्रह) | ६. गुरु भक्ति |
| ७. तप | ८. ज्ञान |

ये आठ सत्पुष्प कहलाते हैं। निरंजन, वीतराग देवों की भावपूजा में एक निम्न श्लोक भी निर्दिष्ट है–

**ध्यानं धूपं मन पुष्पं, पंचेन्द्रिय हुताशनम्।**
**क्षमा जाप संतोष पूजा, पूजो देव निरंजन॥**

उपरोक्त श्लोक का संवादी एक अन्य श्लोक भी पद्मपुराण में मिलता है[१८]–

**अहिंसा प्रथमं पुष्पं, द्वितीयं करणग्रहः**
**तृतीयकं भूतदया, चतुर्थ क्षान्तिरेव च।**
**शमस्तु पंचमं पुष्पं, दमः षष्ठ च सप्तमम्**
**ध्यानं सत्यं चाष्टमं च, ह्येते स्तुष्यति केशवः॥**

केशव अर्थात् विष्णु भगवान इन आठ प्रकार के पवित्र पुष्पों से प्रसन्न होते हैं। वे आठ पुष्प हैं–

१. अहिंसा २. इंद्रिय-दमन ३. जीवदया ४. क्षमा ५. शम-वैराग्य ६. तितिक्षा ७. ध्यान ८. सत्य

जो व्यक्ति उपरोक्त भाव पूष्पों से तीर्थंकरों की अर्चा (स्तुति) करता है वह स्वयं अर्चित, वंदित और स्तुत्य होकर कृतकर्मों को क्षीण कर देता है।

प्रस्तुत प्रकरण का प्रतिपाद्य है–

- अर्हतों की अर्चा आत्म-विशुद्धि के लिए की जाती है। आत्म-विशुधि का परिणाम है–निर्जरा।
- भौतिक सिद्धियों के उद्देश्य से अर्हतों की पूजा/अर्चा नहीं होती।
- यदि किसी को पूजा/अर्चना के द्वारा भौतिक सुखों की प्राप्ति होती है तो मानना चाहिए कि वे तो मार्ग में पड़ने वाले पुण्य जन्य पड़ाव हैं।
- अर्हतों की पूजा करने का तात्पर्य–भाव पूजा, गुणोत्कीर्तन, स्तवना आदि।

## निष्कर्ष

अर्हत् वीतराग चेतना से युक्त होते हैं। सभी प्राणियों के प्रति उनका तुल्य भाव रहता है। उनकी वाणी असाधारण तथा अद्वितीय होती है। उनकी यह विशेष ऋद्धि है कि वे एक साथ सभी के संशयों का निवारण कर सकते हैं। अचिन्त्य गुण संपदा से युक्त होने के कारण वे युगपत् कथन करने में समर्थ होते हैं। शक्र स्तुति में विवर्णित उनके स्वरूप एवं अतिशय विशेषताओं का अध्ययन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि विकृति या विजातीय तत्त्वों से मुक्त होने के कारण उनमें पारदर्शिता तथा विशुद्ध लेश्या का प्रभाव अचिन्त्य होता है। उसी निर्मल भावधारा के कारण उनका सारा शरीर रश्मिमय हो जाता है। उनके रोम-रोम, अणु-अणु से सहज कांति टपकती है। व्यक्ति उस सौन्दर्य से अभिभूत हो जाता है। आभा शरीर से निःसृत होने वाला सहज सौन्दर्य है। निर्युक्तिकार ने तो यहां तक कहा है कि यदि तीर्थंकर सतत धर्म देशना देते रहें तो श्रोता अपना पूरा जीवन उनके पास सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, परिश्रम आदि भयों से अतीत होकर बिता देता है।[१६]

लोगस्स में इस प्रकार निर्मल वीतराग आत्माओं की स्तुति की गई है। जिनके चरणों में झुकने वाला केवल उनकी प्राण ऊर्जा का ही ग्रहण नहीं करता अपितु चेतना का रूपान्तरण और अतीन्द्रिय क्षमताओं को जागरण भी करता है। ऐसे निर्मल चेता वीतरागी तीर्थंकरों की स्तुति करने वाला भी अपनी श्रद्धा और संकल्प-निष्ठा के कारण उन क्षमताओं को जागृत व जीवंत करने में सक्षम होता है। निष्पक्ष और निर्मल हृदय वाले तीर्थंकरों की स्तुति करने से ही हममें निष्पक्षता और निर्मलता पैदा हो सकती है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि श्रेष्ठ गुणों की प्राप्ति के लिए स्तुति और नमस्कार किया जाता है। संसार में नमस्कार को अपार गौरव प्राप्त है। अनेक धर्म सम्प्रदायों के लोगों में नमस्कार का नैतिक और आध्यात्मिक आदर्श अनादि काल से प्रचलित है। कहा भी है–

**मोक्ष मार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूमृताम्।**
**ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुण लब्ध मे॥**

अर्थात् जो मोक्ष मार्ग के नेता हैं, जो कर्म रूपी पर्वतों को भेदने वाले हैं, जो विश्व के समस्त तत्त्वों को जानते हैं। उनको मैं उन गुणों की प्राप्ति के लिए नमस्कार करता हूँ।

## सन्दर्भ


१. तीसरी शक्ति–पृ./४५, विश्वलोचन कोष, श्रीमद्भगवत् गीता की स्तुतियों का समीक्षात्मक अध्ययन, भूमिका, पृ./१३
२. आवश्यक निर्युक्ति–७४२, श्री भिक्षु आगम विषयकोष, पृ./३०४ से उधृत
३. भक्तामर अन्तस्तल में–पृ./४५
४. आचारांग श्रुत स्कन्ध–१, अध्ययन ६
५. भक्तामर–२ लोक/२३
६. यजुर्वेद–३१/१८
७. पर्युषण साधना–पृ./८६
८. लघु दंडक–दूसरा द्वार
९. भक्तामर–श्लोक/३६
१०. मूल्यों की खोज–पृ./४७
११. गाथा परम विजय की–पृ./१०
१२. नन्दीमलगिरियावृत्ति–पृ./४१, श्री भिक्षु आगम विषयकोष से उधृत, पृ./३०३
१३. चौबीसी–१९/२
१४. आवश्यक निर्युक्ति (आचार्य भद्र बाहु कृत)–३६२/१९
१५. वही–३६२/२०
१६. भक्तामर–श्लोक/१६
१७. अमृत कलश भाग १–पृ./६७
१८. पद्मपुराण–पाताल खण्ड
१९. आवश्यक निर्युक्ति (आचार्य भद्रबाहु कृत)–३६२/२७

# ५. स्तुति और मनोविज्ञान

**महापुरुषों की शक्ति आपदाओं में विशेष प्रकट होती है जैसे अगर की गंध अग्नि में विशेष प्रकट होती है। अतः न केवल आध्यात्मिक एवं धार्मिक दृष्टि से ही स्तुतियों का महत्त्व है बल्कि साहित्यिक, मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक, सामाजिक आदि दृष्टिकोणों से भी इनकी उपयुज्यता सिद्ध है। आवश्यकता है मात्र धैर्य, विश्वास, सूक्ष्म मेधा और शोधात्मक पृष्ठभूमि के निर्माण की।**

जीवन की मंगलमयता का उपादान व्यक्ति स्वयं है क्योंकि व्यक्ति का आचार ही मानव को मानवता के श्रेष्ठ सिंहासन पर आसीन करता है। डॉक्टर राधाकृष्णन् के अनुसार "संस्कृति, मानसिक शांति और सहिष्णुता मानव के सच्चे आभूषण हैं। इनकी महत्ता शारीरिक स्वास्थ्य एवं ऐश्वर्य से कहीं अधिक है।"[1] प्राणी विज्ञान की अपेक्षा मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है तो मनोविज्ञान की अपेक्षा मनुष्य एक उत्कृष्ट मन वाला प्राणी है। मानसिक, वैचारिक अशांति को दूर करने हेतु मन का निर्मलीकरण व परिष्कार अपरिहार्य है।

चेतना को प्रभावित एवं परिष्कृत करने में स्तुति की महत्ता निर्विवाद है। यह अचेतन मन को जागृत करने की एक मनोवैज्ञानिक विधि है। मंत्रों एवं स्तुतियों के द्वारा जैविक रासायनिक परिवर्तन भी संभव है। प्रत्येक शब्द के उच्चारण का अपना एक विशेष प्रभाव होता है। शरीर और मन—इन दोनों पर उसका असर होता है। अध्यात्म की दृष्टि से एक ही मंत्र के अनेक प्रकार के प्रयोग विविध अर्थों में प्रयुक्त होते हैं, उदाहरणार्थ 'णमो अरहंताणं'—इस मंत्र जप से कषाय क्षीण होते हैं। कषाय क्षीणता के लिए णमो अरहंताणं जप की विधि निम्न प्रकार से उपलब्ध है।[2]

णमो अरहंताणं—तैजस-केन्द्र पर—क्रोध क्षय
णमो अरहंताणं—आनंद-केन्द्र पर—मान क्षय
णमो अरहंताणं—विशुद्धि-केन्द्र पर—माया क्षय
णमो अरहंताणं—ब्रह्म केन्द्र (तालु) पर—लोभ क्षय

इसी प्रकार एक ही मंत्र के व्यक्ति, क्षेत्र, काल आदि के भेद से विभिन्न परिणाम हो सकते हैं। वस्तुतः जप, ध्यान अथवा आध्यात्मिक स्तुतियों से स्तोता को अद्‌भूत शक्ति मिलती है, वह पराक्रमशाली बन जाता है, उसे एक विशेष प्रकार का संबल मिलता है और वह अतिशीघ्र ही साधना की उच्चतम स्थिति पर पहुँच सकता है। जैन दर्शन में अर्हत् व सिद्ध स्तुति को अपना गुणगत वैशिष्ट्य प्राप्त है।

- जीवन को सौम्य, निर्मल, सात्विक एवं सर्वांग पूर्ण बनाने की एक दिव्य साधना है—अर्हत् स्तुति।
- अस्तित्त्व बोध, आत्मगुण वृद्धि, वृत्ति परिष्कार और अपूर्व समाधि की अलभ्य आराधना है—अर्हत्, स्तुति।
- जीवन की प्रवृत्ति को अध्यात्मवाद की ओर उन्मुख करने की चिन्मय उपासना है—अर्हत् स्तुति।
- किसी भौतिक वस्तु की मांग नहीं, अर्हतों के समान सम स्थिति प्राप्त करने की प्रबल भावाभिव्यक्ति की भांति संभृत भव्य भावना है—अर्हत् स्तुति।
- आत्मशक्ति, प्राण शक्ति व चैतन्य शक्ति को जागृत करने की आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक अभिव्यंजना है—अर्हत् स्तुति।

## स्तुति के प्रमुख तत्त्व

बूंद अपने अस्तित्व को सागर में विसर्जित कर देती है उसी प्रकार भक्त अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को आराध्य के प्रति समर्पित कर देता है। आध्यात्मिक स्तुतियों का पर्यवेक्षण करने से स्तुति के निम्न तत्त्व प्रकट होते हैं—

१. आत्म-समर्पण
२. साक्षात्कार की उत्कृष्ट अभिलाषा
३. एकाग्रता
४. प्राक्तन् संस्कार
५. आत्मविलय
६. अद्वैत की प्रतिष्ठा
७. शरणागति

### १. आत्म समर्पण

समर्पण स्तुति का प्रमुख तत्त्व रहा है। समर्पण में भक्ति का स्वर भी मुखर होता है और स्तुति भी प्रस्फुटित होती है। समर्पण में आत्मनिवेदन के साथ-साथ

आत्म-साक्षात्कार की उत्कृष्ट भावना भी परिलक्षित होती है। अध्यात्म मनीषी जयाचार्य की चौबीसी का पर्यालोचन करने से ऐसा अनुभव होता है कि जयाचार्य का अर्हत भगवन्तों के प्रति उत्कृष्ट कोटि का समर्पण था। वर्तमान में आचार्य भिक्षु, आचार्य तुलसी, सूर, मीरा, तुलसी, गांधीजी आदि व्यक्तियों की कृतियों का सैंकड़ों विद्वान मूल्यांकन कर रहे हैं, क्यों? कारण स्पष्ट है कि उन्होंने जो लिखा वह प्रज्ञा की आँख से लिखा, केवल विद्वता के आधार पर नहीं। यही कारण है कि आज भी वे स्तुतियां, वे भजन जीवन्त, जागृत, प्रेरक एवं जन-जन के कंठों में अनुगुंजित हैं।

## २. साक्षात्कार की उत्कृष्ट अभिलाषा

साक्षात्कार की उत्कृष्ट अभिप्सा होते ही अन्तःप्रेरणा से स्तुति का स्वर मुखरित होता है, यथा—तुझ मिलवा मुझ उन उमह्यो[३], जीवन धन सब कुछ म्हारा पांचू परमेष्ठी प्यारा[४], देव तुम्हारा पुण्य नाम मेरे मन में रम जाए[५] म्हारै मन मंदिर में प्रभु महावीर है—इत्यादि। वास्तव में भाव और हृदय की शुद्धि सबसे बड़ी पवित्रता है और वही प्रत्येक कार्य में उत्कृष्टता का हेतु है। यह उपास्य के प्रति समर्पित परम रसमयी स्तुतियों के द्वारा ही संभव है।

## ३. एकाग्रता

अनुभव की बात है कि चंचल पानी में प्रतिबिम्ब साफ नहीं आता। फोटो लेने के लिए केमरा और फोटो खिंचवाने वाला—दोनों की स्थिरता का मूल्य होता है। इसी प्रकार मन में इष्ट को प्रतिबिम्बित करने के लिए एकाग्रता/स्थिरता परम आवश्यक है। स्तोत्र के मूल शब्द तो प्रभावोत्पादक होते ही हैं परन्तु एकाग्रता से उनका प्रभाव सहस्रगुणित हो जाता है। जिस प्रकार सूर्य की बिखरी किरणों को यंत्र आदि में केन्द्रित कर दिया जाये तो उससे रसोई बनाई जा सकती है वैसे ही मन की बिखरी शक्ति को ध्यान, स्वाध्याय, जप, स्तुति आदि सम्यक् साधनों द्वारा केन्द्रित करने पर आत्म-शक्ति का अद्भुत तेज प्रकट होता है।

दिल्ली का घटना प्रसंग है। आचार्यश्री महाश्रमणजी जब युवाचार्य थे तब कुछ युवकों से पूछा—नमस्कार महामंत्र की माला फेरते हो। युवकों का उत्तर नकारात्मक था। युवाचार्यश्री ने नहीं फेरने का कारण पूछा तो उत्तर मिला मन एकाग्र नहीं रहता, इसलिए माला नहीं फेरते हैं। युवाचार्य प्रवर ने कहा—इस बहाने माला कब तक नहीं फेरोगे? मन को एकाग्र करने के लिए श्वास को आलंबन बना लो। एक श्वास में पूरा नमस्कार महामंत्र बोलने से एक सौ आठ श्वास में पूरी

एक माला हो जायेगी। कुछ दिनों पश्चात उन युवकों में से एक युवक युवाचार्य श्री के चरणों में उपस्थित हुआ और कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए बोला—आपने हमारे पर बड़ी कृपा की। उस दिन आपकी प्रेरणा से मैंने रात्रि शयन से पूर्व श्वास के साथ माला फेरनी शुरू की। पहले दिन से ही चमत्कार हो गया। मैं बहुत वर्षों से अनिद्रा का रोगी था। अनेकों उपचार के दौरान भी मुझे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ, पर जिस दिन से मैंने यह प्रयोग प्रारंभ किया, मानसिक शांति के साथ-साथ मैं इस अनिद्रा के रोग से भी मुक्त हो गया। जिज्ञासा का होना संभव है कि ऐसा कैसे हुआ? कारण स्पष्ट है कि तरल पानी में रंग घुल जाता है और वही पानी जब जमकर बर्फ बन जाता है तब उस पर रंग डालते ही वह ऊपर की सतह से बह जाता है। इसी प्रकार एकाग्र या संकल्प शक्ति वाले स्थिर मन पर बाहरी विकार अपना प्रभाव नहीं डाल सकते, चाहे वे शारीरिक हो या मानसिक।

## ४. प्राक्तन् संस्कार

ज्ञान की प्राप्ति प्रमुखतः दो प्रकार से होती है—

१. प्राक्तन् संस्कारों से

२. गुरु आदि के निमित्त से

पूर्व जन्म में संपादित भक्ति एवं उपासना से उत्थित संस्कार अपर योनि में भी प्रकट हो जाते हैं, जो स्तुति के मूल आधार बनते हैं अर्थात् सत्संग या गुरु के उपदेश का निमित्त मिले बिना सहज ही पूर्व जन्म के संस्कारों के प्रभाव से स्तुति का प्रणयन होना या रुचि जागृत होना। इन प्राक्तन् संस्कारों की भी स्तुति में महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है।

## ५. आत्मविलय

स्तुति में आत्मविलय की प्रधानता रहती है। कुछ ऐसी स्तुतियां हैं जिनमें भक्त, भगवान के गुणों के अतिरिक्त वस्तुओं का निषेध करते-करते अन्त में अपना ही निषेध कर स्तव्य स्वरूप ही हो जाता है। सिद्धि में सबसे अधिक सहायक है अपने इष्ट में लीन हो जाना। ऋषि प्रज्ञा के धनी आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का मानना है कि "पहले लक्ष्य का निर्धारण करो। फिर डेढ़ घंटे तक उसके प्रति एकाग्र होकर लय की स्थिति में चले जाओ। सिद्धि तुम्हारा दरवाजा खटखटायेगी"।[६]

## ६. अद्वैत की प्रतिष्ठा

अद्वैत अर्थात् अभिन्न। स्तोता और स्तव्य का भेद समाप्त कर अभेद साध लेना ही अद्वैत की साधना है। अद्वैत होने से मैं और प्रभु का भेद नहीं रहता।

आचार्यश्री तुलसी की ये पंक्तियां–"प्रभु बनकर के ही हम प्रभु की पूजा कर सकते हैं", अद्वैत साधना की पुष्टि में पर्याप्त है। कबीरजी ने बहुत यथार्थ कहा है–

**जब मैं था हरि नहीं, अब हरि है मैं नहीं।**
**सब अंधियारा मिटी गया, जब दीपक देख्या मांहि ॥**

### ७. शरणागति

शरण का अर्थ है–तदरूप हो जाना, तन्मय हो जाना और द्वैत से अद्वैत साध लेना। बिना शरण के कोई भी व्यक्ति महायात्रा के महापथ का पार नहीं पा सकता। कवि की निम्नोक्त पंक्तियों में शरणागति का रहस्य भरा है–

**अस्थि चर्म मम देह, यह तामे ऐसी प्रीति।**
**होती जो श्री राम में, तो मिटती भव भीति ॥**

पंच परमेष्ठी का ध्यान सब पापों का नाश करने वाला है। अर्हत् मंगल होते हैं। स्तुति भी अपने आप में मंगल है। "अरहंते सरणं पवज्जामि"–यह आर्ष वाक्य जहाँ एक ओर अरिहंतो की शरण का प्रतिनिधि तत्त्व है वहाँ निश्चय नय की दृष्टि से आत्म-स्वरूप की ही अभिन्नतम उपासना है। 'अप्पा सो परमप्पा" इस सूक्त में शरणागत एवं पुरुषार्थ का अपूर्व संगम है। निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि आत्म-विश्वास और समर्पण शक्ति का उत्स है। एकाग्रता शक्ति का कोष है। विश्वास बढ़े, एकाग्रता और समर्पण बढ़े तो विकास का मार्ग खुलता है।

## स्तुति का मनोवैज्ञानिक आधार

स्तुति मनुष्य के मन की समस्त विशृंखलित एवं अनेक दिशाओं में भटकने वाली वृत्तियों को एक केन्द्र पर एकाग्र करने वाले मानसिक व्यायाम का नाम है, जिसमें हृदय पक्ष की प्रधानता होती है।

मनोविज्ञान ने चौदह प्रकार की मूल प्रवृत्तियां और उससे संबंधित चौदह मनः संवेग माने हैं। मूल प्रवृत्ति की परिभाषा करते हुए प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मेगडूगल ने लिखा है–मूल प्रवृत्ति वह प्रगति शक्ति है जिसके कारण प्राणी किसी विशेष पदार्थ की ओर ध्यान देते हैं और उसकी उपस्थिति में विशेष प्रकार के संवेग या मनःक्षोभ का अनुभव करते हैं। मनोविज्ञान ने मन के तीन स्तरों की खोज की है–

१. चेतन मन
२. अचेतन मन
३. अवचेतन मन

अवचेतन मन की खोज कर मनोवैज्ञानिकों ने एक नई क्रांति का सूत्रपात किया। कुछ परामनोवैज्ञानिकों के अनुसार मनुष्य का मस्तिष्क रहस्यों के तंतुजाल से बना एक करिश्मा है। वह अपनी एकाग्रता का विकास कर ग्रहण एवं प्रेषण की कई ऐसी क्षमताओं को उजागर कर सकता है जो इंद्रिय बोध की मर्यादा में नहीं आती, जैसे दूरबोध, विचार संप्रेषण, विचार संक्रमण आदि। प्रस्तुत प्रसंग में मार्क ट्वेन की घटना का उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

घटना प्रसंग सन् १९०६ का है। उन्हें सन् १८८५ में स्वयं द्वारा लिखित एवं क्रिश्चियन युनियन द्वारा प्रकाशित एक लेख की आवश्यकता थी। मार्क ट्वेन की इस विषय में की गई सारी मेहनत बेकार हो गई। यूनियन कार्यालय भी उनकी सहायता नहीं कर सका। दूसरे दिन वे न्यूयार्क की फिफ्थ ऐवेन्यू से होकर जा रहे थे। चवालीसवीं स्ट्रीट को पार करते हुए प्रतीक्षा में खड़े थे। अचानक एक अजनबी व्यक्ति भागता हुआ आया और काग़जों का एक पुलिन्दा उन्हें थमाते हुए बोला—"मैं इन्हें बीस साल से अपने पास रखे हुए था। पता नहीं क्यों आज सुबह ही मुझे ऐसा लगा कि मैं इन्हें आपको भेज दूं। मैं अभी इन्हें पोस्ट करने जा रहा था कि आप स्वयं ही मिल गये। मार्क ट्वेन ने उन्हें धन्यवाद दिया। कुछ ही क्षणों में वह व्यक्ति भीड़ में लुप्त हो गया। मार्क ट्वेन ने पाया कि वह प्रति उसमें थी जिसकी वे व्यग्रता से खोज कर रहे थे।[९] मार्क ट्वेन का मत है कि यदि कोई ऐसा तरीका निकल जाए जिससे दो मस्तिष्कों में इच्छानुसार—सामंजस्य स्थापित किया जा सके तो टेलीफोन, टेलीग्राम आदि धीमे संचार साधनों का परित्याग कर व्यक्ति मुक्त रूप से विचारों का आदान-प्रदान कर सकता है। अवचेतन मन की शक्ति एवं अतीन्द्रिय चेतना के आधार पर ही यह संभव हो सकता है। वस्तुतः मनुष्य के अवचेतन मन की शक्ति अपरिमित तथा अनंत है। वह अनंत-ज्ञान, अनंत-अनुभूति एवं अनंत-भावनाओं से युक्त रहता है। इसी अवचेतन की पृष्ठभूमि में समुद्भूत चेतना की शाब्दिक अभिव्यक्ति का नाम है—स्तुति।

## श्रद्धा का अनूठा चमत्कार

जब तक मन में श्रद्धा अथवा विश्वास का उद्रेक नहीं होता है, तब तक स्तुति का प्रणयन नहीं हो सकता। यद्यपि शब्दों का अपना प्रभाव, अपने प्रकंपन होते हैं परन्तु जब वे शब्द स्तुति या जप के रूप में एकाग्रचित्त भावना से श्रद्धासिक्त होकर अभिव्यक्त होते हैं तो उनकी विशेष प्रभावकता में कोई संदेह नहीं रहता।

भोपालगढ़ के पारस सुराणा की धर्मपत्नी श्रीमति सोनल सुराणा के मस्तिष्क में मलेरिया बुखार आने से वह मूर्च्छित हो गई। उसे तत्काल अस्पताल ले जाया

गया। बेहोशी में भी उसका शरीर इतना ऊपर उछल रहा था कि उसे बिस्तर पर बांधकर रखा गया। उपचार चल रहा था। दो दिन बाद बिमारी ने भयंकर रूप ले लिया। डॉक्टरों ने अपना निर्णय अन्तिम रूप में सुनाते हुए कहा—अब कोई उपचार होने की संभावना नहीं है आप इन्हें कहीं भी ले जा सकते हैं। पारिवारिक जन इस संवाद को सुनकर निराश हो गये। उस समय पारस के चाचा प्रेम सुराणा ने सबको सांत्वना देते हुए कहा—"अब अंतिम उपचार है अपने आराध्य की स्तुति, सब बैठ जाओ, रोना बंद करो, सब "भिक्षु स्वामी" का जप करो। सब तन्मयता पूर्वक जप में बैठ गये। श्रद्धा, जप और तन्यमता का ऐसा कोई जादुई प्रभाव हुआ कि आधा घंटा के बाद ही उस बहन की मूर्च्छा दूर हो गई। उसका उछलना बंद हो गया। वेदना कुछ शांत हुई। वह बिस्तर से उठकर बैठ गई। सबके साथ जप करने लगी। कुछ समय बाद अंगड़ाई लेकर वह बिस्तर से नीचे उतरी और चलने लग गई। सबसे बातें करने लगी। सब आश्चर्यचकित नयनों से देखते रहे। कुछ क्षणों पहले जहाँ मृत्यु स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही थी, वहाँ कुछ ही क्षणों में जीवन का संचार हो उठा। डॉक्टरों ने पूछा—"आपने किस संजीवनी विधा का प्रयोग किया"। प्रेम ने कहा—"हम कोई विधा नहीं जानते, हमने अपने आराध्य/गुरु के नाम का स्मरण किया। जो कुछ हुआ वह अपने गुरुदेव के जप से ही हुआ।" इसके बाद वे सिरियारी भिक्षु समाधि स्थल पर गये और सकुशल अपने घर लौट आए।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने मुनि अवस्था में अपनी संसार पक्षीय मातुश्री साध्वी बालूजी को जीवन के अंतिम दिनों में भेद विज्ञान का मंत्र दिया।[९] जिससे उनकी बीमारी की अनुभूति में ६०% का अन्तर आया। इसी प्रकार संत भीखणजी का स्मरण[१०], भिक्षु म्हारे प्रगट्याजी[११], मुणिन्द मोरा[१२], विघ्न हरण स्तवन[१३] और चतुर्विंशति स्तव[१४] आदि आध्यात्मिक स्तवनों में शक्ति जागरण एवं विघ्न निवारण के अनूठे एवं प्रभावक अनेकों स्रोत हैं, यदि ऐसा कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

उपरोक्त स्तवन मंत्रवत् आत्मतोष देने वाले हैं। तेरापंथ धर्मसंघ में श्री मज्जायाचार्य को शांतिविधायक और मंत्रदाता के रूप में ख्याति प्राप्त है। उनके द्वारा प्रदत्त "ॐ अ भी रा शि को नमः"* मंत्र लाखों लोगों का आस्थाधार है।

## दर्शन विशुद्धि और मनोविज्ञान

मनोविज्ञान की खोज तो अवचेतन मन तक ही पहुँच पाई है किंतु भारतीय

---

* विशेष जानकारी के लिए देखें "जय-जय जयमहाराज"

दार्शनिकों ने इनसे भी सूक्ष्म चेतना के स्तरों की चर्चा की है। अवचेतन से परे अतीन्द्रिय चेतना की भूमिका है। जब व्यक्ति संयम, तप, जप, शील, स्वाध्याय, अनित्य आदि अनुप्रेक्षाएं, निर्मल ध्यान, चतुर्विंशति स्तव, महामंत्र जप, इष्ट स्तुति, ॐ, अर्हं, सोऽहं—इत्यादि आलंबनों के माध्यम से अतीन्द्रिय चेतना की भूमिका में प्रविष्ट हो जाता है, तब उसके सम्पूर्ण विरोधाभासों का अपनयन हो जाता है। उसकी कथनी-करनी में सामंजस्य एवं हृदय परिवर्तन होने से उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति में समता परिलक्षित होने लगती है। वीतराग स्तुति हेतु विरचित जयाचार्य कृत चौबीसी में यत्र-तत्र अनेक आलंबन चर्चित हुए हैं। जयाचार्य ने लिखा—हे प्रभो! आपकी तो बात ही क्या? आपका ध्यान करने वाला, आपके साथ तन्मयता या एकात्मकता स्थापित करने वाला व्यक्ति भी शक्ति संपन्न बन जाता है। उसे आध्यात्मिक चेतना की संपदा के साथ-साथ अनेक सिद्धियां भी उपलब्ध हो जाती हैं।''[१५]

मनोविज्ञान के संदर्भ में हृदय परिवर्तन का अर्थ हो सकता है—मौलिक मनोवृत्तियों का परिष्कार। अध्यात्म की भाषा में इसे दर्शन की विशुद्धि कहा जा सकता है। भगवान महावीर से पूछा गया—''भंते! कषाय प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है?'' प्रत्युत्तर में भगवान ने कषाय प्रत्याख्यान के दो परिणाम बतलायें[१६]—

१. वीतरागता
२. सुख-दुःख में सम रहने की स्थिति की उपलब्धि

भगवान महावीर की वाणी में कषाय प्रत्याख्यान और मनोविज्ञान की भाषा में मौलिक मनोवृत्तियों के परिष्कार से चेतना का परिष्कार माना गया है। चेतना के परिष्कार से ही व्यक्ति के संस्कार, आचरण और व्यवहार परिष्कृत होते हैं।

अपरिष्कृत मस्तिष्क में एक ही सूत्र उत्पन्न होता है—क्रिया की प्रतिक्रिया करना, जैसा दूसरा करे वैसा करना। परन्तु जब चिन्तन परिष्कृत होता है तब गाली में प्रति गाली नहीं देना, जैसे को तैसा न करना घटित होता है। इससे स्पष्ट होता है कि विचार, आचार और संस्कार—ये तीनों जीवन निर्माण के मूल तत्त्व हैं। इस त्रय समन्विति से व्यक्तित्व में जो लक्षण प्रकट होते हैं, वे निम्न हैं—

१. अन्तर द्वन्दों से मुक्ति।
२. समस्याओं के समाधान में विवेक चेतना की जागृति।
३. उत्तरदायित्व के निर्वाह में कुशलता।
४. सकारात्मकता का विकास।
५. प्रतिकूलता में भी स्वयं को अनुकूल रखने की क्षमता का विकास।
६. शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक स्वस्थता का विकास

जिस प्रकार रंगीन काँच की बोतल में पानी रखने से उस पानी के गुण काँच

के रंगों के गुणधर्मी बन जाते हैं। इसी प्रकार शुभ भावना एवं अर्हत भगवन्तों के शुभ स्वरूप का चिंतन करने से मनुष्य के गुण संस्कार बदल जाते हैं।

मुंबई के श्रावक जेठाभाई झवेरी की पुत्री आशा जो एक रेलवे अफसर की पत्नी एक बार अतीन्द्रिय चेतना संपन्न आचार्यश्री महाप्रज्ञजी से उसने कहा—"प्रभो! मैं क्रोध से बहुत पीड़ित हूँ। मेरे कारण घर का वातावरण अशांत रहता है। अब बच्चों में भी चिड़चिड़ापन आना प्रारंभ हो गया है। अब मैं इस पिशाच से मुक्ति पाना चाहती हूँ। कोई उपाय बतायें?

आचार्य प्रवर ने उसको ललाट के मध्य पूर्ण चन्द्रमा का ध्यान करने का निर्देश देते हुए कहा—तीन माह तक यह प्रयोग करो। गुस्सा कम हो जायेगा। इसी स्थान पर श्वेत रंग में लोगस्स के "चंदेसु निम्मलयरा" पद का ध्यान भी आवेश उपशांति का महत्तम प्रयोग है।

आशा बहन ने पूर्ण अध्यवसाय के साथ इस प्रयोग में सफलता प्राप्त की। दूसरी बार जब वह आचार्य प्रवर के दर्शन करने आई तो मन अतीव प्रसन्न था। उसने कहा—"महाराज मेरा क्रोध पर्याप्त मात्रा में शांत हो गया है। घर का वातावरण भी धीरे-धीरे मोड़ ले रहा है। महाराज! मैं एक विचित्र बात आपको बताऊं। मेरे पति खाने के शौकीन हैं। मैं उन्हें संतुष्ट करने के लिए सदैव तत्पर रहती हूँ। अनेक प्रकार के व्यंजन बनाती हूँ पर वे कभी प्रसन्न नहीं होते। रोज भोजन की निंदा करते, कहते आशा! तुम भोजन बनाना नहीं जानती। आज तक तुमने कभी स्वादिष्ट भोजन नहीं खिलाया। मैं परेशान थी। अभी कुछ दिन पूर्व उन्होंने कहा—आशा क्या हो गया? आज कल तुम जो कुछ बनाती हो, वह मुझे बहुत स्वादिष्ट लगता है। अच्छा भोजन बनाती हो। क्या इन दिनों में तुमने पाक शास्त्र का अध्ययन किया है? महाराज! इसका कारण मैं आज तक नहीं समझ सकी।" आचार्य प्रवर ने कहा—"आशा बहन! पहले तुम भोजन के साथ-साथ क्रोध के परमाणु भी परोसती थी। क्रोध के परमाणु कड़वे होते हैं। अब तुम क्रोध से छुटकारा पा चुकी हो। अब तुम जो कुछ परोसती हो उसके साथ करुणा के परमाणु परोसती हो। करुणा के परमाणु मीठे होते हैं।[17] हमारे चित्त से निस्सृत भाव तरंगों का जो प्रभाव होता है उसे हम समझ नहीं पाते। जयाचार्य ने तीर्थंकर वासुपूज्य की स्तुति में कहा है—"प्रभो! आप करुणा के सागर हैं, आपकी करुणा ने क्रोध के स्रोत को ही सुखा डाला है"।[18] क्रोध के क्षय हुए बिना वीतराग भाव की प्राप्ति असंभव है। वीतराग होने का अर्थ है—चेतना की सूक्ष्म भूमिका में प्रविष्ट हो जाना। वीतराग महापुरुषों की स्तुति एकाग्रता के उत्कृष्ट बिंदु अभेद दृष्टि का स्पर्श करती हुई साधक को अवचेतन से परे अतीन्द्रिय चेतना तक पहुँचाने में समर्थ है।

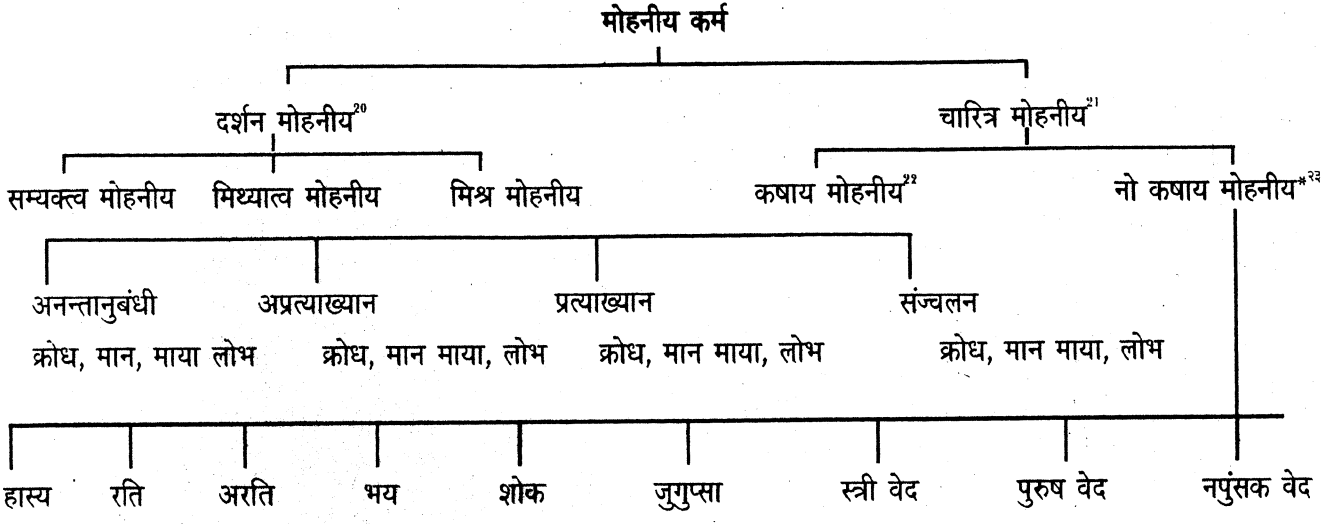


• जो कषाय के सहवर्ती हैं, कषायों के उत्तेजक हैं एवं हास्य आदि के रूप में जिनका वेदन होता है, वे नो कषाय कहलाते हैं।

मोहकर्म के उदय से कषाय की उत्पत्ति होती है जो वीतरागता का बाधक तत्त्व है। अतएव दर्शन विशुद्धि के लिए मोहकर्म की प्रकृतियों को समझना नितान्त अपेक्षित है। मोहनीय कर्म के मूलतः दो भेद हैं—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय।[१६] इन दो भेदों के उत्तर भेद २८ हैं—

उक्त भेद-प्रभेदों को समझने का सारांश यही है कि दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती और चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से चारित्र की प्राप्ति नहीं हो सकती। सम्यक्त्व अध्यात्म जीवन का प्राण है, उसके बिना चारित्र की प्राप्ति भी असंभव है। अनंतानुबंधी कषाय और दर्शन मोहनीय के रहते समकित, अप्रत्याख्यान कषाय के रहते श्रावक धर्म, प्रत्याख्यान कषाय के रहते संयतपना और संज्वलन कषाय के रहते यथाख्यात चारित्र (वीतरागता) की प्राप्ति नहीं हो सकती।[२४]

कषाय की उत्पत्ति का मूल हेतु जानकर आत्म स्वभाव में स्थिर होने के लिए कषाय मुक्ति की साधना अपेक्षित है। आत्मा अपने स्वभाव में स्वयं परिपूर्ण है लेकिन कुछ विकारों के कारण यह विभाव दशा को प्राप्त है। मनोविज्ञान ने मूल प्रवृत्तियां और चौदह प्रकार के संवेगों का उल्लेख किया है जो जैन दर्शन में उल्लेखित मोह कर्म की प्रवृत्तियों से ही मिलता-जुलता है जिनको निम्न चार्ट के माध्यम से समझा जा सकता है—

| मूल प्रवृत्तियां | मूल संवेग | मोहनीय कर्म के विपाक | मूल संवेग |
|---|---|---|---|
| १. पलायन वृत्ति | — भय | १. भय | भय |
| २. संघर्ष वृत्ति | — क्रोध | २. क्रोध | क्रोध |
| ३. जिज्ञासा वृत्ति | — कुतुहल भाव | ३. जुगुप्सा | जुगुप्सा भाव |
| ४. आहारान्वेषण वृत्ति | — भूख | ४. स्त्रीवेद | कामुकता |
| ५. पित्रीय वृत्ति | — वात्सल्य सुकुमार भावना | ५. पुरुष वेद | कामुकता |
| ६. यूथ वृत्ति | — एकाकीपन तथा सामूहिक भाव | ६. नपुसंक वेद | कामुकता |
| ७. विकर्ष वृत्ति | — जुगुप्सा भाव | ७. अभिमान | स्वागृहभाव, |
| ८. काम वृत्ति | — कामुकता | | |
| ९. स्वागृह वृत्ति | — स्वागृह भाव, उत्कर्ष भाव | ८. लोभ | स्वामित्व भाव |
| १०. आत्म लघुता वृत्ति | — हीन भाव | | अधिकार भाव |
| ११. उपार्जन वृत्ति | — स्वामित्व भाव | ९. रति | उल्लसित भाव |
| १२. रचना वृत्ति | — सृजन भाव | १०. अरति | दुःख भाव |
| १४. हास्य वृत्ति | — उल्लसित भाव | | |

उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि आहार की खोज, काम तृप्ति, पलायन और युयुत्सा (लड़ने झगड़ने की ईच्छा)—ये मौलिक मनोवृत्तियां हैं। इनकी तीव्र आकांक्षा तनाव को जन्म देती है। जेम्स क्रानिक ने लिखा है—मानसिक

तनावों तथा आवेगों के कारण पित्ताशय की पथरी बढ़ जाती है, धमनियों पर छाई चर्बी फूल जाती है। मानसिक आवेग जितना भी बढ़ता है एड्रनेलिन नामक हार्मोन उतनी ही अधिक मात्रा में रक्त में प्रवाहित होने लगता है। यह हार्मोन छोटी धमनियों को संकुचित करता है, हृदय की धमनियां भी इससे प्रभावित होती हैं, अगर वे बहुत ज्यादा संकुचित हो जाती हैं तो मनुष्य की मृत्यु तक हो सकती है। यदि इन मौलिक मनोवृत्तियों को वश में करने की कला हस्तगत हो जाये तो रक्तचाप संतुलित रहेगा, हृदय की धमनियां संकुचित नहीं होगी और अहं भाव को प्रबल आघात लगने पर भी क्षय, मधुमेह जैसे असाध्य रोगों पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

इन वृत्तियों को परिष्कृत करने की क्षमता मनुष्य में ही है, कहा भी है—

**मनन करे चिंतन करे, मनुज उसी का नाम।**
**आँख मूंद पीछे लगे, यह पशुओं का काम ॥**

काम की वृत्ति का परिष्कार ब्रह्मचर्य में, भय का परिष्कार अभय में, युयुत्सा का परिष्कार सहिष्णुता में होता है। दसवैकालिक का सूत्र इसका संवादी सूत्र है—

**उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।**
**मायं चज्जव भावेण, लोहो संतोसओ जिणे ॥**[२६]

अर्थात् उपशम से क्रोध को, मृदुता से मान को, ऋजुता से माया को और संतोष से लोभ को जीतो।

इस प्रकार मानसिक ग्रंथियों का विश्लेषण कर उसके निरसन हेतु प्रतिपक्षी भावनाओं का प्रयोग भी मनोवैज्ञानिक है। मोहनीय कर्म के विपाक पर इसका विशेष प्रभाव पड़ता है। आगमिक भाषा में इसे चेतना के जागरण की प्रक्रिया कहा जा सकता है।

नमस्कार महामंत्र, चतुर्विंशति स्तव एवं आध्यात्मिक स्तुतियों के माध्यम से जब हम वीतराग आत्माओं की स्तुति करते हैं तो दर्शन की विशुद्धि होती है। दर्शन विशुद्धि से चित्त की निर्मलता प्रकट होने लगती है अर्थात् मोह कर्म की प्रकृतियों के विपाकोदय का उपशम भाव, क्षयोपशम भाव और क्षायिक भाव में परिवर्तित होना ही दर्शन विशुद्धि है।

उपशम भाव—इस प्रक्रिया को मनोविज्ञान दमन की प्रक्रिया कहता है। वासनाओं एवं कषायों को दबाकर चलने वाला साधक ११वें उपशांत मोह गुणस्थान तक पहुँचकर पुनः नीचे के गुणस्थानों में लौट जाता है। यह दमन की प्रक्रिया है। विलय की नहीं।

क्षयोपशम भाव—इस पद्धति को मनोविज्ञान वृत्तियों का उदात्तीकरण कहता

है। यहाँ वृत्तियों की दिशाएं बदल जाती हैं। कुछ एक वृत्तियों का दमन और कुछ एक वृत्तियों का क्षय होता है। यह सशक्त मानसिक चिकित्सा पद्धति है। फिर भी रोग का समूलतः नष्ट होना आवश्यक है। अतः जैन धर्म क्षयोपशम के पश्चात् क्षायिक पद्धति को प्रस्तुत करता है।

क्षायिक भाव—इसमें पूर्णतः आवेगों का क्षय (अन्त) हो जाता है। यह पद्धति कार्य-कारण की खोज भी करती है और फिर उनकी चिकित्सा भी करती है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि चित्त की निर्मलता ही सम्यक् दर्शन या दर्शन बोधि कहलाती है।

बोधि का जघन्य बिंदु है—क्षयोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति।

बोधि का मध्यम बिंदु है—क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति।

बोधि का उत्कृष्ट बिंदु है—केवल बोधि (केवलज्ञान) की प्राप्ति।

यह हृदय परिवर्तन की ही प्रक्रिया है। वास्तव में हमारी पवित्र भावनाएं ही हमें सिद्धि देने वाली हैं। जैन दर्शन के अनुसार मोहनीय कर्म ही सब कर्मों का सेनानी है। स्तवना आदि से आत्मा की अनंत शक्ति शनैः शनैः प्रकट होने लगती है। पल-पल आर्त्त व रौद्र परिणाम आत्मा से दूर होने के कारण धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान से आत्मा की अक्षुण्णता, उसकी विरलता, सर्वज्ञता प्राप्त हो शक्ति उद्भाषित होती है।

## निष्कर्ष

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि अवचेतन मन की भूमिका में पहुँचने वाली ये श्रद्धासिक्त स्तुतियाँ जीवन की बहुत बड़ी उपलब्धियों का निमित्त बनती हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कई बार कहते हैं कि जब मैं बच्चा था, मेरी माँ रात्रि के अन्तिम प्रहर में सामायिक किया करती थी और सामायिक में चौबीसी, आराधना और स्वामीजी की स्तुतियाँ गाया करती थी। मैं सोया-सोया उन्हें सुनता रहता था। सुनते-सुनते मेरे मन में भिक्षु स्वामी और उनकी रचनाओं के प्रति सहज आकर्षण हो गया।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि अकल्मष एवं स्वच्छ हृदय से निस्सृत होने से स्तुति का महत्त्व सार्वजनीन है। जिस प्रकार अग्नि शीत का निवारण करती है उसी प्रकार महापुरुषों का स्मरण पापों का निवारण करता है। महापुरुषों की शक्ति आपदाओं/विपत्तियों में विशेष प्रकट होती है, जैसे अगर की गंध अग्नि में विशेष प्रकट होती है। अतः न केवल आध्यात्मिक एवं धार्मिक दृष्टि से ही स्तुतियों का महत्त्व है बल्कि साहित्यिक, मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक, सामाजिक आदि दृष्टिकोणों से भी इनकी उपयुज्यता सिद्ध है। आवश्यकता है मात्र धैर्य, विश्वास,

सूक्ष्म मेधा और शोधात्मक पृष्ठभूमि के निर्माण की, अतः हम इस दिशा में निरन्तर आगे बढ़ते रहें। कहा भी है–

**प्रभुताई को सब मरे, प्रभु को मरे न कोय।**
**जो कोई प्रभु को मरे, तो प्रभुता दासी होय ॥**

## संदर्भ


१. सत्य की ओर–पृ./४१
२. एसो पंचणमोक्कारो–पृ./२५
३. चौबीसी–८/६
४. परमेष्ठी पंचक–आंकडी, अमृत कलश, भाग १, पृ./३३८
५. चैत्य पुरुष गीत–आंकडी, अमृत कलश, भाग १, पृ./३४५
६. सुबह का चिंतन–पृ./७२
७. अणुव्रत गीत (१)–४, अमृत कलश, भाग १. पृ./३५४
८. ज्ञान मीमांसा (नंदी सूत्र पर आधारित)–पृ./३४२
९. चैत्य पुरुष गीत–४, अमृत कलश, भाग १, पृ./३४५
१०. सन्त भीखणजी रो स्मरण, अमृत कलश भाग ३, पृ./३६
११. भिक्षु स्मृति गीत–अमृत कलश भाग १, पृ./२९९
१२. मुणिन्द मोरा–अमृत कलश भाग १, पृ./३१०
१३. विघ्नहरण–अमृत कलश भाग १, पृ./३०५
१४. आवश्यक–२
१५. चौबीसी–८/३, ४
१६. उत्तराध्ययन–२९/
१७. अप्पाणं शरणं गच्छामि–पृ./९४
१८. चौबीसी–१२/४
१९. स्थानांग–२/४/१०५, कर्म ग्रंथ भाग १, गाथा १३, उत्तराध्ययन–३३/८
२०. उत्तराध्ययन–३३/९, प्रज्ञापना २३/२
२१. कर्म ग्रंथ भाग १, गाथा १७, उत्तराध्ययन–३३/१०
२२. उत्तराध्ययन–३३/११
२३. कर्म ग्रंथ भाग १, गाथा १७, स्थानांग ९/७००, जीवाभिगम, प्रति ०२
२४. जैन सिद्धान्त दीपिका–४–२४
२५. प्रज्ञापना–२३/१/२९२-२९४, कर्म ग्रंथ भाग १, गाथा १३-२२, तत्त्वार्थ-अध्ययन/८
२६. दसवैकालिक–८/३८

# ६. लोगस्स एक सर्वे

**सिद्ध जीव ही संसारी जीवों को अव्यवहार राशि से व्यवहार राशि में आने का स्थान देते हैं। नियम से जितने जीव सिद्ध गति को प्राप्त होते हैं उतने ही जीवों का अव्यवहार राशि से व्यवहार राशि में निर्यात हो जाता है। अर्थात् सिद्ध बनने वाले जीवों ने स्थान रिक्त किया तभी अव्यवहार राशि के जीवों को व्यवहार राशि में आने का स्थान मिला, अतः स्थान देने वाले देव (परमात्मा) हैं। व्यवहार राशि में आने के बाद ही आत्मा का क्रमिक विकास होने से जीव की कर्मों से मुक्ति संभव है।**

लोगस्स यह तीर्थंकर स्तुति का महान मंत्र है। यह एक महाशक्ति है। यह भक्ति साहित्य की एक अमर, अलौकिक, रहस्यमयी और विशिष्ट रचना है। जैन समाज में यह इतना मान्य और लोकप्रिय है कि इसको अत्यन्त श्रद्धा एवं महत्त्व का स्थान प्राप्त है। भले ही अक्षर देह से यह इतना विराट और विशाल नहीं है पर आत्म-दर्शन के रहस्य संग्रहित होने के कारण इसमें निहित गूढ़ार्थ सर्व-साधारण के लिए सुग्राह्य नहीं है। इसका अर्थ और भाव इतना गंभीर है कि जितनी बार इसमें अवगाहन किया जाये कुछ न कुछ नवीन रहस्य हस्तगत होते रहते हैं। वास्तव में लोगस्स पारदर्शी मन का निर्माण करने वाली स्तुति है।

## लोगस्स क्या है?

"लोगस्स.....सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु"। यह निर्वाण स्थिति का संपर्क सूत्र है, यदि ऐसा कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस सूत्र में छिपे अर्थ गांभीर्य से ही इस रहस्य को समझा जा सकता है। 'लोगस्स' से लोकयात्रा का प्रारंभ होता है और उसकी अंतिम गाथा का अंतिम चरण 'सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु', यह लोक यात्रा की पूर्णाहुति लोकान्त स्थान ही है, जहाँ सिद्ध परमात्मा रहे हुए हैं।[1] इस प्रकार लोगस्स को निर्वाण स्थिति का संपर्क सूत्र कहने में संदेह को कोई अवकाश नहीं है।

दूसरे दृष्टिकोण से चिंतन करें तो सिद्ध जीव ही संसारी जीवों को अव्यवहार राशि से व्यवहार राशि में आने का स्थान देते हैं। नियम से जितने जीव सिद्ध गति को प्राप्त होते हैं उतने ही जीवों का अव्यवहार राशि से व्यवहार राशि में निर्यात हो जाता है। अर्थात् सिद्ध बनने वाले जीवों ने स्थान रिक्त किया तभी अव्यवहार के जीवों को व्यवहार राशि में आने का स्थान मिला अतः सिद्ध स्थान देने वाले देव (परमात्मा) हैं। व्यवहार राशि में आने के बाद ही आत्मा का क्रमिक विकास होने से जीव की कर्मों से मुक्ति संभव है।

साधक लोगस्स की स्तुति से यह भाव अभिव्यक्त करता है कि सिद्ध भगवन्तों ने मुझे व्यवहार राशि में आने का स्थान दिया और अब उसी आलंबन से मुझे सिद्ध गति मिले, यही सारा रहस्य "लोगस्स" से "सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु" में अन्तर्निहित है।

## लोगस्स का लाक्षणिक अर्थ

लोगस्स का लाक्षणिक अर्थ है—विश्व की समग्रता। समग्रता का अभिप्राय है—चेतना के अस्तित्व का साक्षीसूत्र। लोक भी शाश्वत है और हमारी चेतना भी शाश्वत है, इस प्रकार लोगस्स का अर्थ हुआ—

**स्वयं का स्वभाव**
**आनंद का आविर्भाव**
**भीतर का बदलाव**
**परमात्मा का प्रभाव**
**शाश्वत मूल्यों का स्वीकरण**
**अस्तित्त्व का बोध**
**आत्म-गुणों का विकास**
**वृत्तियों का परिष्कार**
**अपूर्व समाधि की उपलब्धि ॥**

मूलतः यह अपने आत्म-स्वरूप की ही अभ्यर्थना है। अपनी अभ्यर्थना से साधक अपने संकल्प को बलवत्तर बनाता है, भावना में दृढ़ता पैदा करता है और साधना के उच्च से उच्च सोपानों पर आरोहण की क्षमता प्राप्त करता है। इससे उसे ज्ञान का प्रकाश मिलता है। ज्ञान का प्रकाश पा लेने पर वह अपने सही कर्तृत्व को समझने की योग्यता को विकसित कर लेता है।

## लोगस्स-शाश्वत सुख का राजपथ

सचमुच लोगस्स शाश्वत सुख का राजपथ है। इस स्तवन से समाधि का द्वार खुलता है, प्रज्ञा अनावृत्त होती है, सूक्ष्म शक्तियों की जागृति के साथ-साथ ज्ञान-आनंद व तेज शक्ति प्रकट होती है। ज्ञान, आनंद व तेज—ये तीनों महाशक्तियां हमारे अपने ही भीतर हैं। तीनों का स्रोत एक आत्मा है। आत्मा की तीन प्रमुख महाशक्तियां हैं—

१. अनंत ज्ञान
२. अनंत आनंद
३. अनंत शक्ति

ज्ञान सरस्वती है, आनंद लक्ष्मी (श्री) है और बल दुर्गा है। आत्म जागरण से इन तीनों महाशक्तियों का जागरण अवश्यंभावी है। आत्मा केवल श्रोतव्य और मननीय ही नहीं है वह साक्षात् करणीय है। साक्षात्कार प्रयोग सापेक्ष है। दुनिया में सबसे बड़ी बात है स्वयं की स्मृति, स्वयं से स्वयं की मुलाकात। प्रेक्षा ध्यान का यह ध्येय सूत्र परम संबोधि का सूत्र है—

"संपिक्खए अप्पगमप्पएणं"—आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें।[२]

इसी प्रकार—अप्पणा सच्चमेसेज्जा[३]—स्वयं सत्य को खोजो, अपना अनुशीलन स्वयं करो।

अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो[४]—सतत आत्मा की रक्षा करो।

ये सब आत्म केन्द्रित महापुरुष के ही स्वर हैं, किसी बहिरस्थ व्यक्ति के नहीं।

भगवान महावीर की इस वाणी को एक शायर की पंक्तियों में निम्न प्रकार से दर्शाया गया है—

**दुनियां में उसने बड़ी बात कर ली।**
**खुद अपने से जिसने मुलाकात कर ली॥**

वास्तव में मैत्री, क्षमा, समता, सहिष्णुता, धैर्य जैसे आत्मगुण ओढ़े नहीं जाते, यह हमारी निजी सम्पदा है, हमारा अपना स्वभाव है। जब वीतराग साधना तक पहुँचना हमारा ध्येय बनता है, तब साहस, धैर्य, अभय, पुरुषार्थ, विश्वास और दिशा निर्णय की प्रज्ञा स्वतः जाग जाती है। इस प्रकार लोगस्स का अभिप्राय हुआ—आत्मा-परमात्मा का सम्मिलन, उसका दर्शन और चिंतन। इस स्तवन में परमात्मा के अनुपम गुणों का और वीतराग भाव का अपूर्व वर्णन अन्तर्निहित है।

## लोगस्स–मंत्र गर्भित स्तवन

लोगस्स में भक्ति की भागीरथी प्रवाहित हो रही है। साधक जब इसका पाठ करता है तो उसका हृदय भक्ति रस से आप्लावित हुए बिना नहीं रह सकता। वह अनुभूति निश्चय ही अलौकिक आनंद युक्त होती है, जब भक्त अपने प्रभु की स्तुति में अपने आपको विस्मृत करके उन्हीं के चरणों में स्वयं को समर्पित कर देता है। कवि ने बहुत यथार्थ कहा है–

**मुझ को कहाँ ढूंढे रे बन्दे।**
**मैं तो तेरे पास में॥**

यह चिरन्तन सत्य हमें किसी ग्रंथ में नहीं, स्वयं अपने भीतर ही मिलेगा। भक्ति योग में अनुशासन की आवश्यकता है। भक्त शब्द-प्रतीकों का या मंत्रों का सहारा लेता है। मंत्र रहस्यमय छोटे समूह हैं फिर इनसे आगे लम्बी स्तुतियां, स्तोत्र, स्तवन और भजन भी हैं।

लोगस्स आगम विवर्णित मंत्र गर्भित एवं मृत्युजंयी स्तवन है। इसमें मंत्रों के अक्षरों की ऐसी अपूर्व और अनूठी संयोजना है कि इसके स्तवन से सब मनोरथ सिद्ध होते हैं। इसका एक-एक अक्षर और वर्ण शक्तिपुञ्ज है क्योंकि प्रत्येक अक्षर अक्षय की ओर संकेत करता है। प्रत्येक वर्ण स्वर्ण से बहुमूल्य है क्योंकि इसमें अर्हत् भक्ति का परम पीयूष भरा है। जैन वाङ्मय में यह महत्त्वपूर्ण पाठ माना गया है। इसमें वर्तमान चौबीसी के परम उपकारी वीतराग तीर्थंकरों की स्तुति की गई है, जिन्होंने विश्व को धर्म का मार्ग दिखाया, अहिंसा और सत्य की राह दर्शायी, ज्ञान-दर्शन की अनंत ज्योति दिखलाई तथा इस संसार सागर से तिर कर उन्हीं के सम कर्म-मुक्त हो अपना कार्य सिद्ध करने की प्रेरणा दी। अतएव हम सब पर उनका महान उपकार है। इस दृष्टि से उनका स्मरण और स्तुति करना हमारा परम कर्तव्य है। उनके नाम में अपार व असीम बल है। उनके नाम स्मरण से भक्त क्या-क्या प्राप्त नहीं कर सकता? श्री मज्जयाचार्य ने चौबीसी की उन्नीसवीं गीतिका में लिखा है–मानसिक, वाचिक और कायिक स्थिरता साधकर एकत्व की अनुभूति के साथ तीर्थंकर की स्तुति, स्मृति अथवा नाम मंत्र का जप करने से अनिष्ट/अमंगल नष्ट होते हैं। आन्तरिक संताप/तनाव समाप्त होते हैं।[५] लोगस्स का जप भावितात्मा बनने का महानतम प्रयोग है। यह जहाँ एक ओर तेजस्विता, निर्मलता और गंभीरता प्राप्ति का सर्वोत्तम एवं अचूक मंत्र है, वहीं दुसरी ओर एक ऐसा अमोघ शस्त्र है कि जिसके निकट रहते दुःख, क्लेश, रोग, शोक, दरिद्रता, सभी कष्ट दूर हो जाते हैं।

शास्त्रों का वाचन, मंत्रों का कीर्तन, स्तोत्रों का स्मरण और स्तवन किया जाता है परन्तु लोगस्स आगम वर्णित ऐसा मंत्र है जिसका वाचन, कीर्तन, स्मरण, स्तवन, स्वाध्याय, सब कुछ किया जा सकता है। अतः यह महान रहस्यों एवं उनके गूढ़ार्थों को अपने भीतर समेटे हुए है। इसका प्रत्येक शब्द, प्रत्येक अक्षर, प्रत्येक चरण, प्रत्येक पद्य अपने आप में सिद्ध मंत्राक्षर के रूप में प्रतिष्ठित है। जैनों के पास यह एक बहुत बड़ी आध्यात्मिक निधि है। इसमें आध्यात्मिक उन्नयन की ओर से ले जाने का भी आधार है तो लौकिक संकट आदि निवारण की भी अद्‌भुत क्षमता है।

इसके प्रत्येक श्लोक और प्रत्येक श्लोक के एक-एक पद में भावों का जो लालित्य और जो सागर लहरा रहा है, उसमें गहराई से अवगाहन करके ही जाना जा सकता है कि वहाँ कैसे-कैसे बहुमूल्य रत्न छुपे हुए हैं। सच्चे अर्थों में यह स्तव गागर में सागर की कहावत चरितार्थ करता है।

## लोगस्स : छंद रचना

लोगस्स का प्रथम पद्य शिलोग छंद (अनुष्टुप छंद) में और शेष पद्य गाहा छंद में आबद्ध है।

गाहा छंद–संस्कृत में जिस छंद को आर्या कहा जाता है प्राकृत में उसे गाहा या गाथा कहा जाता है, उसके लक्षण निम्नांकित हैं–

"यस्या पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेषु अष्टादश द्वितीये चतुर्थ के पंचदशार्या।" अर्थात् जिसके पहले और तीसरे चरण* में १२ मात्राएं, दूसरे चरण में अठारह मात्राएं और चतुर्थ चरण में पन्द्रह मात्राएं हों, वह आर्या या गाहा छंद कहलाता है।[६]

## लोगस्स शाश्वत या अशाश्वत

वर्तमान स्थिति रूप में तो लोगस्स सूत्र शाश्वत नहीं हो सकता। क्योंकि वर्तमान लोगस्स सूत्र भगवान श्री महावीर के बाद की रचना है। परन्तु प्रत्येक तीर्थंकर के शासन में आवश्यक सूत्र होता है और महाविदेह क्षेत्र में भी होता है। अतएव उनके गणधर अपने-अपने शासन के योग्य उत्कीर्तन सूत्र की रचना करते ही होंगे। भाव की दृष्टि से लोगस्स सूत्र शाश्वत है किंतु शब्द की दृष्टि से नहीं। कुछ मनीषी पुरुषों की यह मान्यता है कि तीर्थंकरों के नामवाले पद्य-२, ३, ४ अशाश्वत हैं, वे वर्तमान चौबीसी के नामानुसार परिवर्तित होते रहते हैं, शेष चार

---

* छंद या अंश के चतुर्थ अंश को पाद या चरण कहते हैं।

पद्य १, ५, ६, ७ शाश्वत हैं[७] इदं तत्त्वं केवली गम्यम्। चतुर्विंशति आवश्यक (लोगस्स) के कर्त्ता। जिस प्रकार दसवैकालिक में जो शाश्वत आध्यात्मिक तत्त्व निबद्ध हैं, वे प्रवाह रूप में अनादि हैं पर आचार्य शय्यंभव को दसवैकालिक के कर्त्ता के रूप में याद किया जाता है।[८] उसी प्रकार शाश्वत आध्यात्मिक तत्त्व की दृष्टि से लोगस्स अनादि और शाश्वत है पर चतुर्दशपूर्वी*, श्रुतकेवली* आचार्य भद्रबाहु को दूसरे चतुर्विंशति आवश्यक के कर्ता के रूप में याद किया जाता है। आचारांग टीका के अनुसार—"आवश्यकान्तर्भूतश्चतुर्विंशति स्तवारातीयकालभाविना भद्रबाहु स्वामिनाऽकारिअ"[९]। आचार्य शीलांक के इस उद्धरण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि शब्द रूप में वर्तमान चतुर्विंशति स्तव की रचना आचार्य भद्रबाहु द्वारा की गई है।

जैन श्रुति के अनुसार तीर्थंकर के समान अन्य प्रत्येक बुद्ध कथित* आगम भी प्रमाण है।[१०] नंदी और अनुयोग द्वार में आवश्यक को अंगबाह्य बतलाया गया है। बारह अंग-आगमों को आधार बनाकर कुछ विशिष्ट ज्ञानी (पूर्वधर) आचार्यों के द्वारा नए सूत्रों की रचना की जाती है, वे अंगबाह्य (उपांग) कहे जाते हैं। अतएव आवश्यक सूत्र अंगबाह्य होने के कारण गणधर कृत नहीं हो सकता। साधुओं के आचार में नित्योपयोग में आने वाला यह सूत्र हैं। अतः इसकी रचना दसवैकालिक से पहले की मानी जाती है। आवश्यक भाष्य का समय विक्रम की पांचवीं, छठी शताब्दी है।

जैन परम्परानुसार केवल द्वादशांगी ही आगमान्तर्गत नहीं है क्योंकि गणधर कृत द्वादशांगी के अतिरिक्त अंगबाह्य रूप अन्य शास्त्र भी आगम रूप में मान्य हैं। वे गणधर कृत नहीं हैं परन्तु अन्य स्थविर अंग सूत्रों के आधार पर उनकी रचना करते हैं।[११]

स्थविर दो प्रकार के होते हैं—

१. संपूर्ण श्रुतज्ञानी—चतुर्दशपूर्वी या श्रुत केवली

२. दस पूर्वी

---

* विपुल ज्ञान राशि का एक परिणाम है—पूर्व। पूर्व चौदह बतलाएं गये हैं, जिनका समावेश आगम साहित्य के अन्तर्गत बारहवें अंग "दृष्टिवाद" में माना जाता है। वर्तमान में यह दृष्टिवाद अप्राप्य है। पूर्व या पूर्वों का ज्ञान धारण करने वाला मुनि पूर्वधर कहलाता है। चौदह पूर्वों का ज्ञाता चतुर्दश-पूर्वी और दस पूर्वों का ज्ञाता दसपूर्वी कहलाता है।

* श्रुतकेवली—चतुर्दश पूर्वी श्रुत केवली कहलाता है। ज्ञानावरण कर्म के क्षीण होने पर पुरुष केवली बनता है। श्रुत ज्ञानावरण का विशिष्ट क्षयोपशम होने पर पुरुष केवली बनता है।

* सुत्तं गणहर कथितं तहेव पत्तेयबुद्ध कथितं च।
सुदकेवलनिया कथितं अभिण्णदसपूव्वकथितं च ॥

श्रुतकेवली गणधर प्रणीत संपूर्ण द्वादशांगी* रूप जिनागम के सूत्र और अर्थ के विषय में विशेषतः निपुण होते हैं। अतएव उनकी क्षमता एवं योग्यता मान्य है कि वे जो कुछ कहेंगे या लिखेंगे उनका जिनागम के साथ कुछ भी विरोध नहीं हो सकता। जिनोक्त विषयों का संक्षेप या विस्तार करके तत्कालीन समाज के अनुकूल ग्रंथ रचना करना ही उनका एक मात्र प्रयोजन होता है। इस दृष्टि से इन ग्रंथों को संघ में आगमान्तर्गत कर लिया है। इनका प्रामाण्य स्वतंत्र भाव से नहीं, किन्तु गणधर प्रणीत आगम के साथ अविसंवाद–प्रयुक्त होने से है। वृहत्कल्प भाष्य में उल्लेख मिलता है कि जिस बात को तीर्थंकर ने कहा उसको श्रुतकेवली भी कह सकते हैं।[१२] इस अपेक्षा से केवली और श्रुतकेवली के ज्ञान में कोई विशेष अन्तर न होने के कारण दोनों का प्रामाण्य समान रूप से है।

दिगम्बर परम्परा में लोगस्स को आचार्य कुन्दकुन्द की रचना माना गया है। उसको पढ़ने से ज्ञात होता है कि प्रथम पद को छोड़कर सभी पद एक दो शब्दों के परिवर्तन के अलावा समान ही हैं। परन्तु कुन्दकुन्द आचार्य से आवश्यक सूत्र प्राचीन है। उसमें स्पष्ट रूप से चतुर्विंशति स्तव का उल्लेख है।

दिगम्बर ग्रंथों में शोरसैनी प्राकृत का प्रयोग हुआ है जबकि श्वेताम्बर वाङ्मय अर्द्धमागधी भाषा में है, इसलिए एक दो शब्दों का अन्तर हो सकता है।

आवश्यक सूत्र उतना ही पुराना होना चाहिए जितना नमस्कार महामंत्र क्योंकि आवश्यक निर्युक्ति में नमस्कार महामंत्र के पांचों पदों की लगभग १३९ गाथाओं में विस्तृत व्याख्या है। इससे पूर्ववर्ती किसी भी ग्रंथ में नमस्कार महामंत्र का इतना विस्तृत वर्णन नहीं मिलता। आवश्यक निर्युक्ति में पंच परमेष्ठी को नमस्कार पूर्वक सामायिक करने का निर्देश है।[१३] इस गाथा से यही फलित निकलता है कि नमस्कार महामंत्र उतना ही पुराना है जितना सामायिक सूत्र या आवश्यक सूत्र।

भगवान महावीर से पूछा गया–जिसे आप नित्य या शाश्वत धर्म कहते हैं वह धर्म क्या है? उन्होंने कहा–किसी भी प्राणी को मत मारो, उपद्रुत मत करो, पारिताप मत दो और किसी की स्वतंत्रता का अपहरण मत करो। उन्होंने जैन धर्म को नहीं अपितु धर्म तत्त्व को शाश्वत कहा है।

नाम और रूप शाश्वत नहीं होते, तत्त्व शाश्वत होते हैं। जैन, वैष्णव, शैव आदि सब नाम धर्म की परम्परा के सूचक हैं। इनमें धर्म की व्याप्ति नहीं है। भगवान महावीर ने अश्रुत्वा केवली, अन्यलिंग सिद्ध, गृहलिंग सिद्ध और प्रत्येक

---

* तीर्थंकर की वाणी के आधार पर उनके विशिष्ट ज्ञानी शिष्य–गणधर जिन आगमों का संकलन करते हैं वे अंग कहलाते हैं। आचारांग, सूत्रकृतांग आदि बारह अंग है, इन्हें द्वादशांगी कहा जाता है।

बुद्धसिद्ध की स्थापना कर इस बात को निरर्थक सिद्ध कर दिया कि मेरी परम्परा में आने पर ही तुम्हारा कल्याण होगा, अन्यथा नहीं। ऐसे पैंतालीस अन्यलिंगी सिद्ध हुए हैं जिनकी वाणी 'इसिभासिय सित्तं' में संग्रहीत की गई है।[18] सम्प्रदाय मुक्त, किन्तु निर्मल व्यक्ति को पूर्णत्व का अधिकारी मानकर भगवान महावीर ने धर्म को प्राधान्य दिया है, उसकी शाश्वतता को उजागर किया है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भगवान ऋषभ और भगवान महावीर के समय प्रतिदिन आवश्यक होता था। बीच के बावीस तीर्थंकरों के मुनि स्खलना होने पर आवश्यक करते थे, इस उल्लेख से यह तो स्पष्ट है कि आवश्यक की परम्परा अति प्राचीन है। लेकिन इसका स्वरूप बदलता रहा है। इतिहास का सिंहावलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि वर्तमान में उपलब्ध आवश्यक एक आचार्य की रचना न होकर आचार्य भद्रबाहु एवं उनके समकालीन अनेक बहुश्रुत, स्थविर आचार्यों के चिंतन एवं ज्ञान की फलश्रुति है। चूंकि इस ग्रंथ को आत्मालोचन का उत्कृष्ट ग्रंथ बनाना था, इसलिए अनेक आचार्यों का सुझाव और चिंतन का योग अपेक्षित था। यदि आवश्वक सूत्र किसी एक आचार्य की कृति होती तो दसवैकालिक के कर्त्ता की भांति इसके कर्त्ता का नाम भी अत्यन्त प्रसिद्ध होता, क्योंकि यह प्रतिदिन सुबह और सायं स्मरण की जाने वाली कृति है। अतः आवश्यक को अनेक आचार्यों की संयुक्त कृति स्वीकार करना चाहिए और दूसरे चतुर्विंशति आवश्यक के कर्त्ता श्रुत केवली आचार्य भद्रबाहु को ही मानना चाहिए। आचार्य हेमचन्द्र ने आवश्यक को गणधर प्रणीत माना है। श्री भिक्षु आगम विषय कोश १, ग्रंथ परिचय पृ./३१ पर लिखा है—संभव है भगवान पार्श्व के समय तक एक सामायिक आवश्यक था और उसे षडावश्यक का रूप भगवान महावीर के शासन में मिला। षडावश्यक के विषय का प्रतिपादन भगवान महावीर ने किया और उसका सूत्ररूप में गुंफन गणधरों ने किया। तत्त्वं तु केवली गम्यम्।

## लोगस्स का माहात्म्य

जैन साहित्य में तीर्थंकरों की स्तुति, अर्चा से संबंधित अनेक ग्रंथ हैं परन्तु लोगस्स सूत्र का अपना विशिष्ट महत्त्व है। कई बार मन में जिज्ञासा होती है कि लोगस्स सूत्र का इतना महत्त्व क्यों? जब समाधान खोजने का प्रयास किया तो कुछ बिंदु समझ में आए जो इस लोगस्स सूत्र की महत्ता को उजागर करते हैं—

- मंत्रात्मकता
- यथार्थवाद
- वीतराग वाणी
- सर्वशक्तिमान अर्हत् आत्माओं का गुणोत्कीर्तन

- सकल जैन समाज में इसका अभिमंडित होना।

जैन परम्परा में ६३ श्लाका पुरुष माने गये हैं। उनमें चौबीस तीर्थंकरों का भी समावेश है। श्लाका तीक्ष्ण होने के साथ-साथ स्वच्छ, निर्मल और उज्ज्वल भी होती है। इस कारण उसका लाक्षणिक प्रयोग या लक्ष्यार्थ उत्तम, श्रेष्ठ या विशिष्ट पदार्थों और पुरुषों के लिए हुआ है।

तीर्थंकर त्रिषष्ठी श्लाका पुरुषों में सर्वोत्कृष्ट उत्तम पुरुष होते हैं। वे मोक्षगामी, अनुत्तर योगी और धर्मतीर्थ के संस्थापक होते हैं अतः उनकी स्तुति कृतज्ञता के भाव से करनी उचित ही है। सामान्यतः स्तुति के दो प्रकार हैं–

१. अर्थवाद
२. यथार्थवाद

अर्थवाद में यथार्थवाद के साथ अतिशय का भाव आ जाता है, विवेचन में अतिशयोक्ति हो जाती है पर उसका उद्देश्य अन्यथा नहीं होता। यथार्थवाद में जो जैसा है वैसा ही भाव उसमें झलकता है। उसमें कृत्रिमता नहीं होती। श्रुत केवली आचार्य भद्रबाहु ने लोगस्स स्तव में यथार्थवाद का निरूपण किया है। मंत्रात्मकता के साथ यथार्थवाद का निरूपण, यह इस सूत्र की महत्ता का सशक्त आधार है।

निश्चय ही तीर्थंकरो की पूजा, अर्चना, गुणोत्कीर्तन व पर्युपासना महान निर्जरा का हेतु है तथा स्वयं को उस आलोक से आलोकित करने का उपक्रम है। तीर्थंकर हमारे आदर्श हैं। हम उनके गुणों का उत्कीर्तन कर उनके गुणों को स्वयं में संक्रान्त करने का प्रयत्न करते हैं। लोगस्स प्रमोद भावना के उत्कर्ष का ही सूत्र है। गुणियों के गुणों के प्रति प्रसन्न होना प्रमोद भावना है। तीर्थंकरों से उत्कृष्ट गुणधारी मनुष्य लोक में तो क्या तीन लोक में भी नहीं है। अतः उनके गुणों के स्मरण से अर्थात् लोगस्स-स्तव के माध्यम से प्रमोद भावना के उत्कर्ष को साधा जा सकता है।

## लोगस्स का वैशिष्ट्य

इसमें 'वंदे' और 'वंदामि' शब्द पांच बार प्रयुक्त हुआ है, जिसमें "आशीर्वस्तु निर्देश–नमस्क्रिया" के रूप में गागर में सागर की भांति आर्य संस्कृति का निचोड़ ही भर दिया गया है। वस्तुतः नमन और स्तवन अन्योन्याश्रित है। जहाँ नमन होता है, वहां स्तवन अपने आप ही हो जाता है। नमन आत्मनिवेदन रूप भक्ति का एक प्रकार है। नमन द्वारा भक्त का परमात्मा से तादात्म्य होता है। जहाँ सीमा का विसर्जन होता है, वहाँ उसी का दर्शन होता ही है।

लोगस्स में 'जिणे' (जिन) शब्द ही सम्पूर्ण गुणों का बोधक है। वास्तव में

राग-द्वेष रहित करुणामय महोत्तम पुरुष ही संसार मे पूज्य पद के योग्य है। ऐसे पुरुषोत्तम का वंदन, कीर्तन मनुष्य को अवश्य ही गुणानुरागी बनाकर योग्यता तक पहुँचा सकता है। जैन परम्परा में वीतराग के लिए जिन या जिनेन्द्र शब्द का भी प्रयोग होता है। लक्ष्य को सामने रखने की दृष्टि से एक प्रतीकात्मक शब्द है—'जय जिनेन्द्र'। जिनेन्द्र अर्थात् वीतराग का जयकार करके व्यक्ति अपनी आस्था को पुष्ट करता है और यह सूचना भी देता है कि वह जैन संस्कृति में विश्वास रखता है।

लोगस्स सूत्र में २४ तीर्थंकरों की स्तुति के अलावा २० विहरमान एवं अनंत सिद्ध-आत्माओं को वंदन करते हुए उनका आलंबन लेकर स्वयं प्रेरणा प्राप्त कर सिद्ध बनने की कामना व्यक्त की गई है। 'चउविसंपि' में 'अपि' शब्द बीस विहरमानों का प्रतीक माना गया है, ऐसा श्रुतानुश्रुत है। यह भी अपने-आप में एक रहस्य है।

## महाविदेह क्षेत्र और लोगस्स

गणित की दृष्टि से हिसाब लगाएं तो महाविदेह क्षेत्र में बीस विरहमान (तीर्थंकर) तो रहते ही हैं और उनमें से प्रत्येक त्रियासी (८३) लाख पूर्व की आयु तक गृहवास में और एक लाख पूर्व संयमावस्था में बिताते हैं। जब बीस विरहमान निर्वाण को प्राप्त होते हैं तो नए बीस विहरमान एक साथ अपने-अपने क्षेत्रों में विहरमान पद पर सुशोभित हो जाते हैं अतः स्पष्ट है कि एक समय में गृहवास में बीस विहरमान एक लाख पूर्व की आयु के, बीस ही दो लाख पूर्व की आयु के और इसी क्रम में त्रियासी लाख पूर्व तक गिन लेना चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि एक समय में गृहवास में जघन्य ८३×२०=१६,६० तथा विहरमान पद पर आसीन बीस विहरमान कुल १,६८० विहरमान होते हैं। इतने विहरमान (द्रव्य और भाव) एक समय में होने पर भी ये कभी आपस में मिलते नहीं हैं। अनादि काल से यह क्रम चल रहा है और अनंत काल तक यही क्रम चलता रहेगा।[१५]

महाविदेह क्षेत्र में बीस विहरमान शाश्वत होते हैं, इस दृष्टि से कई बार यह जिज्ञासा की जाती है कि क्या महाविदेह क्षेत्र में भी लोगस्स सूत्र हैं?

वहाँ चतुर्विंशति स्तव नहीं है किंतु उत्कीर्तन सूत्र होना संभव है। क्योंकि आवश्यक सूत्र वहां भी होता है। वस्तुतः आवश्यक सूत्र-प्रेरित आवश्यक क्रियाएं ही मोक्ष मार्ग हैं। भगवान श्री ऋषभदेव ने वज्रनाभ के भव में (महाविदेह में) बीस बोल की आराधना करके तीर्थंकर नाम गोत्र का उपार्जन किया। बीस बोलों में एक बोल आवश्यक आराधना भी है। वहाँ दूसरे आवश्यक का क्या स्वरूप है, ग्रंथों में यह कहीं देखा नहीं।

## लोगस्स में चौबीस तीर्थंकरों के नामोल्लेख का हेतु

इस अवसर्पिणी काल में भरत क्षेत्र में जो चौबीस तीर्थंकर हुए उनके नाम और चारित्र का स्मरण करने से शुद्ध तत्त्व का लाभ हो, यही इसका प्रमुख हेतु है। वैरागी का चारित्र वैराग्य का बोध देता है। अनंत चौबीसी के अनंत नाम सिद्ध स्वरूप में समग्रतः आ जाते हैं। वर्तमान काल के चौबीस तीर्थंकरों के नाम इस काल में लेने से काल की स्थिति का अतिसूक्ष्म ज्ञान भी याद आ जाता है। जैसे इनके नाम इस काल में लिए जाते हैं वैसे ही चौबीसी के नाम काल और चौबीसी बदलने पर लिये जाते रहते हैं। इसलिए अमुक, अमुक नाम लेना ऐसा कुछ निश्चित नहीं है, परंतु उनके गुण और पुरुषार्थ की स्मृति के लिए वर्तमान चौबीसी की स्मृति करना, ऐसा तत्त्व निहित है। उनका जन्म, विहार, उपदेश यह सब नाम निक्षेप से जाना जाता है। इससे हमारी आत्मा ज्ञान का प्रकाश पाती है। सर्प जैसे बांसुरी के नाद से जागृत होता है वैसे ही आत्मा अपनी सत्य ऋद्धि सुनने से मोह निद्रा से जागृत होती है।[१६]

## तीर्थंकर चौबीस ही क्यों?

जैन भूगोल में अढ़ाई द्वीप क्षेत्रों का वर्णन मिलता है—जम्बुद्वीप, धातकी खण्ड, अर्द्धपुष्कर द्वीप। इन अढ़ाई द्वीप क्षेत्रों में पन्द्रह कर्मभूमि है—पांच भरत, पांच एरभरत और पांच महाविदेह क्षेत्र। इन क्षेत्रों के एक सो सत्तर भूभाग ऐसे हैं जहाँ तीर्थंकर हो सकते हैं। एक समय में न्यूनतम २० और अधिकतम १७० तीर्थंकर हो सकते हैं किंतु सर्वज्ञों की संख्या नौ करोड़ मानी गई है। इनमें मात्र दस भू भाग (पांच भरत, पांच एरभरत) हैं जहाँ पर अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के चौबीस-चौबीस तीर्थंकर होते हैं। महाविदेह क्षेत्र में काल का यह रूप नहीं है। वहाँ एक सदृश्य (अवसर्पिणी के चौथे आरे के समान) काल रहता है। वहाँ तीर्थंकर की निरन्तर विद्यमानता है। वहाँ धर्म का स्थाई रूप रहता है। भरत-एरभरत में ऐसा नहीं होता है। इसका कारण है एक तीर्थंकर के होने के बाद दूसरे तीर्थंकर के उत्पन्न होने के बीच का समय स्वभावतः निर्धारित है। उस अन्तराल को जोड़ने से तीर्थंकरों के उत्पन्न होने का समय ही समाप्त हो जाता है। प्रत्येक अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी काल में एक कोड़ा-कोड़ी सागरोपम का समय माना गया है। इस दृष्टि से चौबीस तीर्थंकरों के ही होने का अवकाश है, ज्यादा नहीं। शेष एक सौ साठ क्षेत्र महाविदेह में आ जाते हैं। वहां अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी काल नहीं है। एक तीर्थंकर के बाद दूसरे तीर्थंकर का अभ्युदय हो जाता है।

क्षेत्र विशेष को लेकर प्रत्येक काल-चक्र में चौबीस ही तीर्थंकर होते हैं, तेईस

व पच्चीस नहीं हो सकते, ऐसा किसी शक्ति विशेष की ओर से कोई प्रतिबंध नहीं लगा हुआ है। वस्तु स्थिति यह है कि केवली भगवन्तों ने अपने ज्ञान से देखा कि अतीत के प्रत्येक काल-चक्र में चौबीस तीर्थंकर हुए हैं और भविष्य में भी चौबीस ही तीर्थंकर होंगे। इसलिए उन्होंने यह कह दिया कि प्रत्येक काल-चक्र में चौबीस ही तीर्थंकर होते हैं। यदि उनके ज्ञान में तीर्थंकर कम ज्यादा होते तो वे कम ज्यादा कह देते। परन्तु कम ज्यादा तीर्थंकर उन्होंने अपने ज्ञान में नहीं देखा इसलिए उन्होंने कम ज्यादा न बताकर चौबीस ही बताये।[१७]

तीर्थंकर चौबीस ही होते है। यह प्राकृतिक नियम है। प्रकृति के नियम या स्वभाव में मानव का कोई हस्तक्षेप नहीं हो सकता, वह तो अपने ढंग से पूर्ण होकर ही रहता है। यदि कोई कहे कि आग उष्ण क्यों होती है? तो आप क्या उत्तर देंगे यही न कि यह उसका स्वभाव है। धुआं ऊपर की ओर क्यों जाता है, नीचे की ओर क्यों नहीं जाता? इसका समाधान भी यही करना होगा कि यह उसका स्वभाव है। ऐसे ही प्रकृति स्वभावानुसार अतीत काल-चक्र में चौबीस तीर्थंकर हुए हैं और अनागत काल-चक्र में चौबीस तीर्थंकर ही होंगे। इसलिए कहा गया है कि तीर्थंकर चौबीस ही होते हैं।

ज्योतिष शास्त्रानुसार प्रत्येक अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी काल में चौबीस-चौबीस ही ऐसे श्रेष्ठतम मुहूर्त्त आते हैं, जिनमें जन्मा हुआ मनुष्य ही तीर्थंकर हो सकता है।

आचार्य सोमदेव सूरि ने इसी जिज्ञासा को समाहित करते हुए लिखा है–

**नियतं न बहुत्वं चेत कथमेते तथा विधाः ।**
**तिथितारााग्रहाभ्योधि भूभृत्यभृतयोमताः ॥**[१८]

यदि वस्तुओं की संख्या नियत न हो तो तिथि, वार, नक्षत्र, तारा, ग्रह, समुद्र पर्वत आदि नियत क्यों माने गये? जैसे ये बहुत होने पर भी इनकी संख्या नियत है।

यही प्रश्न तेरापंथ के चतुर्थ आचार्यश्री मज्जयाचार्य ने मुनि अवस्था में अपने विद्यागुरु हेमराजजी स्वामी से पूछा–तीर्थंकर चौबीस ही क्यों? हेमराजजी स्वामी ने फरमाया–यह एक अनादि नियम है। हमारे यहाँ के क्षेत्रीय कालक्रम में एक के बाद एक शृंखला में तीर्थंकर चौबीस ही होते हैं। क्यों का प्रश्न प्रकृति के साथ नहीं जुड़ता। बताओ दिन-रात के घंटा चौबीस ही क्यों, पच्चीस क्यों नहीं होते और तेईस क्यों नहीं होते, यह नैसर्गिक विश्व स्थिति है। पांचों ही महाविदेह क्षेत्र में चार-चार तीर्थंकर सदा एक साथ विहरमान रहते हैं।[१९]

## लोगस्स में पच्चीस नाम कैसे?

इस प्रश्न का उत्तर भी जयाचार्य ने मुनि अवस्था में हेमराजजी स्वामी से बद्धाञ्जलि पूर्वक पूछा—मत्थेण वंदामि। लोगस्स "उक्कित्तणं" में पच्चीस नाम क्यों? क्या चौबीसी के स्थान पर पच्चीसी नहीं हो जायेगी?

हेम मुनि ने गंभीर स्वर में कहा—पैंसठिये यंत्र* का मूल मंत्र है—लोगस्स। यह एक विचित्र प्रयोग है। यंत्र-मंत्र की साधना शक्ति जागरण के अनूठे आयाम है। पैंसठिया यंत्र देखा तुमने? उसमें पच्चीस के अंक की अपेक्षा पड़ती है। उसी अंक पूर्ति में सिद्ध योगी एक इष्ट की प्रमुख स्थापना करता है।

लोगस्स का पाठ पैंसठिये यंत्र का सिद्ध मंत्र है। उसमें तीर्थंकर पुष्पदंत की इष्ट प्रतिष्ठापना की गई है। 'उक्कित्तणं' किसकी रचना है। कोई नहीं बता सकता पर वह प्रभावी मंत्र है। बेशक इसमें शक्ति संपात है। मध्य युग में पैंसठिये के जाप मंत्रों में 'धनुष पंचविंशति' कहकर पच्चीस का अंक जमाया गया। मल्लिनाथ भगवान की पच्चीस धनुष की काया थी। पर काया के साथ यंत्रांक की क्या तुक रही होगी? लेकिन 'उक्कित्तणं' में एक तीर्थंकर के दोनों (सुविधिनाथ और पुष्पदंत) नाम का उल्लेख युक्तियुक्त है।[२०]

अनुयोग द्वार[२१] में उत्कीर्तना पूर्वी तीन प्रकार की प्रज्ञापित हुई है।

१. पूर्वानुपूर्वी
२. पश्चानुपूर्वी
३. अनानुपूर्वी

## पूर्वानुपूर्वी का स्वरूप

१. ऋषभ २. अजित.....२४. वर्धमान—इस क्रम से इन पवित्र नामों का उत्कीर्तन (उच्चारण) करना पूर्वानुपूर्वी है।

## पश्चानुपूर्वी का स्वरूप

चौबीसवें वर्धमान से प्रारंभ कर यावत् १. ऋषभ पर्यन्त (विपरीत क्रम से) उत्कीर्तन करना/नामोच्चारण करना पश्चानुपूर्वी है।

## अनानुपूर्वी का स्वरूप

ऋषभ से लेकर वर्धमान पर्यन्त एक से लेकर एक ही वृद्धि करते हुए चौबीस पर्यन्त श्रेणी को स्थापित कर परस्पर गुणा करने से प्राप्त राशि में से प्रथम

---

* देखे परिशिष्ट १/१

और अंतिम भंग को कम करने से अवशिष्ट भंग अनानुपूर्वी रूप है।*

गणित में अनुयोग द्वार में कथित तीनों ही क्रम प्रयुक्त होते हैं। वैज्ञानिक जगत् में भी जब स्पूतनिक आदि आकाश में छोड़े जाते हैं तब विपरीत गणना बोली जाती है, यथा १०, ९, ८, ७, ६, ५, ४, ३, २, १, ० और स्पूतनिक छोड़ दिया जाता है।

## निष्कर्ष

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि लोगस्स के उच्चारण से केवल चौबीस अर्हत् भगवन्तों की एवं बीस विहरमानों की ही स्तुति नहीं होती अपितु सब तीर्थंकरों का एक समान स्वरूप होने के कारण अनंत वीतराग आत्माओं, सिद्ध आत्माओं की स्तुति एक साथ हो जाती है। क्योंकि भूतकाल में अनंत चौबीसियां हो चुकी हैं और भविष्य में भी अनंत चौबीसियां होने वाली हैं। सिद्ध जीव भी अनंत हैं।

ऐसा शक्तिशाली लोगस्स महामंत्र हमें विरासत में मिला है। यह एक दिव्य साधना भी है, स्वाध्याय, स्तुति, ध्यान, मंत्र, उपासना और आराधना भी है। इस महामंत्र को हम चैतन्य करें और आत्म-सिद्धि के पथ पर अग्रसर बनें यही स्तुत्य है। निस्संदेह शास्त्र, मंत्र और साधना—तीनों ही दृष्टियों से यह शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण है।

## संदर्भ


१. भगवती—२५-७, उववाई सूत्र ४२
२. दसवैकालिक—बिइया चूलिका/१२
३. उत्तराध्ययन—६/२
४. दसवैकालिक विइया चूलिका—/१६
५. चौबीसी—१९/६
६. अनुयोग द्वार कालिका श्रुत परिणाम—संख १४७
७. जिनवाणी, प्रतिक्रमण विशेषांक पृ. १९६, श्री प्रेम चंद जैन के लेख से उधृत।
८. दसवैकालिक निर्युक्ति—१३, १४
९. आचारांग टीका—पृ.५६
१०. मूलाचार—५-८०, जयधवला, पृ. १५३, ओघनिर्युक्ति टीका पृ./३
११. विशेषावश्यक भाष्य—गा. ५५०, वृहत्कल्प भाष्य-गा. १४४, तत्त्वार्थ भाष्य १.२०, स्वार्थ सिद्धि-१.२८
१२. वृहत्कल्प भाष्य, गाथा/९६४
१३. आवश्यक निर्युक्ति—६४५/२
१४. इसिभासिय सुत्त (जैन धर्म की व्यापकता पृ./११ से उधृत)

आगम युग का जैन दर्शन पृ./8 से उधृत


* देखें परिशिष्ट १/२

१५. बड़ी साधु वंदना–प्रवचन भाग १
१६. मोक्ष माला पृ./७८
१७. तीर्थंकर चरित्र–पृ./८
१८. यशस्तिलक चम्पू–८७–वीतराग वंदना पृ./१४६ से उधृत
१९. वीतराग वंदना पृ./२१६ श्रमण सागर के लेख से उधृत
२०. वही पृ./२१६ श्रमण सागर के लेख से उधृत
२१. अनुयोग द्वार–११६

# ७. लोगस्स एक विमर्श

**चतुर्विंशति स्तव करने से दर्शन की विशुद्धि होती है। दर्शन विशुद्धि से श्रद्धा परिमार्जित होती है। श्रद्धा के परिमार्जन से सम्यक्त्व विशुद्ध होता है। उपसर्ग और परिषहों को सहन करने की शक्ति विकसित होती है एवं तीर्थंकर और सिद्ध बनने की प्रेरणा मन में उद्भूत होती है। लोगस्स में जिन तीर्थंकरों की स्तुति की गई है, उनका पवित्र स्मरण साधकों के दुर्बल मन में उत्साह, बल एवं स्वाभिमान का संचार करता है। अतएव दर्शन विशोधि, बोधि, लाभ और कर्म-क्षय के लिए तीर्थंकरों का उत्कीर्तन करना चाहिए।**

जिज्ञासा के स्वर में पूछा गया—सिद्ध स्वरूप को प्राप्त जिनेश्वर तो सभी पूज्य हैं फिर लोगस्स में नाम से भक्ति करने की क्या अपेक्षा है।

इस जिज्ञासा के समाधान में श्रीमद्राजचन्द्र का मंतव्य मननीय है। "अनंत सिद्ध स्वरूप का ध्यान करते हुए जो शुद्ध स्वरूप का विचार आता है वह तो कार्य है, परन्तु वे जिनसे उस स्वरूप को प्राप्त हुए वो कारण कौन से हैं? इसका विचार करते हुए उनके उग्र तप, महान वैराग्य, महान ध्यान, उत्कृष्ट अहिंसा—इन सबका स्मरण होगा। अपने अर्हत् तीर्थंकर पद में जिस नाम से वे विहार करते थे उस नाम से उनके पवित्र आचार और पवित्र चारित्र का अन्तःकरण में उदय होगा, जो उदय परिणाम में महान लाभदायक है। जैसे अर्हत् महावीर का पवित्र नाम स्मरण करने से वे कौन थे? कब हुए? उन्होंने किस प्रकार से सिद्धि पाई? इस चारित्र की स्मृति होगी और इससे हममें वैराग्य, विवेक—इत्यादि का उदय होगा"।[1]

## उपासना क्यों?

गणाधिपति गुरुदेवश्री तुलसी से मुमुक्षु डॉ. शान्ता जैन ने जिज्ञासा के स्वर में पूछा—श्री मज्जयाचार्य जैन परम्परा के वर्चस्वी आचार्य थे। वीतरागता और आत्मकर्तृत्व के प्रति उनकी गहरी निष्ठा थी। फिर भी अपनी रचना 'चौबीसी' में उन्होंने स्थान-स्थान पर शरणागति को अभिव्यक्ति दी है। साधना के क्षेत्र में आत्म-कर्तृत्व और शरणागति—दोनों का समन्वय कैसे किया जाये?

समाधान की भाषा में गुरुदेव ने कहा—आत्म-कर्तृत्व और शरणागति में विरोध कहाँ है? जैन परम्परा में अर्हत्, सिद्ध, साधु और धर्म—इस चतुर्विध शरण का महत्त्व है। इसमें शरणागत को क्या मिलता है? लेना देना कुछ नहीं है। यह तो आन्तरिक समर्पण और श्रद्धा की अभिव्यक्ति है। आराध्य और आराधक का अद्वैत है। आराध्य के प्रति समर्पण है, सौदा नहीं। "सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु" "आरुग्ग बोहि लाभं समाहिवर मुत्तमं दिंतु"—आदि वाक्यों का मंत्राक्षर के रूप में स्मरण किया जाता है। यह प्रक्रिया आत्म-कर्तृत्व में कहाँ बाधक बनती है? समर्पण के अभाव में होने वाला कर्तृत्व अहंकार पैदा कर सकता है। मैं सब कुछ कर सकता हूँ, फिर मैं किसी की शरण क्यों स्वीकार करूं? यह चिंतन अभिमान का सूचक है। इससे जुड़ा हुआ कर्तृत्व जीवन को संवारता नहीं, व्यक्ति को दिग्भ्रान्त बनाता है।[२]

उपासना क्यों करनी चाहिए? इसी प्रश्न का समाधान आचार्यश्री ने "ज्योति जले, मुक्ति मिले" में बहुत ही सुन्दर तरीके से दिया है—"कुछ लोग इस भाषा में सोचते हैं कि ईश्वर ने हमें पैदा किया है, वह हमारी सार संभाल करता है, इसलिए हमें उसकी उपासना करनी चाहिए। मेरी दृष्टि में यह चिंतन सही नहीं है। माता-पिता भी पैदा करते हैं, वे भी सार संभाल करते हैं। ऐसी स्थिति में यह ईश्वर की उपासना का कोई आधार नहीं बनता। इस दृष्टि से परमात्मा की उपासना करना कोई महत्त्व की बात नहीं है। ईश्वर घट-घट व्यापी है, इसलिए उसकी उपासना करनी चाहिए, यह भी कोई संगत बात नहीं है। आकाश से बढ़कर कोई व्यापक तत्त्व सृष्टि में है ही नहीं। तब प्रश्न पैदा होता है कि उपासना का उद्देश्य क्या होना चाहिए? इसका सीधा-सा समाधान है—हमारा मन व्यग्र है। वह इधर-उधर भटकता रहता है। हम ईश्वर को केन्द्र-बिंदु (आधार) मानकर अपने भटकते मन को एकाग्र बना सकें। जो परमात्मपद हमें पाना है, उस पर हमारी बुद्धि और चिंतन केन्द्रित बने। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि साधना में तल्लीनता हुए बिना सफलता प्राप्त नहीं होती। अर्जुन यदि एकाग्र और तल्लीन नहीं होता तो लक्ष्य को कैसे बेध पाता? द्रोणाचार्य की परीक्षा में उत्तीर्ण कैसे हो पाता? हम भी एकाग्रचित्त होकर ही अपने लक्ष्य को बेध सकते हैं"।[३]

## उपासना के दो रूप

उपासना के दो रूप हमारे सामने आते हैं—१. भक्ति २. आचार। इन दोनों का सामंजस्य अपेक्षित है। दोनों का समन्वित रूप ही उपासना का वास्तविक रूप है और इसी से लक्ष्य की संसिद्धि संभव है। चतुर्विंशति स्तव (लोगस्स) करने से

दर्शन की विशुद्धि होती है। दर्शन विशुद्धि से श्रद्धा परिमार्जित होती है। श्रद्धा के परिमार्जन से सम्यक्त्व विशुद्ध होता है। उपसर्ग और परिषहों को सहन करने की शक्ति विकसित होती है। एवं तीर्थंकर व सिद्ध बनने की प्रेरणा मन में उद्‌भूत होती है। अतएव भक्ति का लक्ष्य अपने आप का साक्षात्कार है, अपने में स्थित शक्ति की अभिव्यक्ति करना है। साधक के अन्तर्मानस में जिस प्रकार की श्रद्धा या भावना होगी उसी के अनुरूप उसका जीवन बनेगा। इसी निमित्त से जैन साधना में तीर्थंकरों की स्तुति का विधान अभिनिहित है।[४]

## लोगस्स : पाठ और अर्थ[५]

| पाठ | शब्दार्थ |
|---|---|
| लोगस्स | लोक में |
| उज्जोयगरे | उद्योत करने वाले |
| धम्मतित्थयरे | धर्म तीर्थ के कर्ता |
| जिणे | जिन (जिनेश्वर) का (राग-द्वेष विजेता का) |
| अरहंते | अर्हतों का |
| कित्तइस्सं | कीर्तन (स्तुति) करूगां |
| चउविसंपि | चौबीस |
| केवली | केवल ज्ञानियों का |
| उसभ | ऋषभ |
| मजियं च | और अजित को |
| वंदे | वंदन करता हूँ |
| संभव | संभव |
| मभिनंदणं च | अभिनंदन और |
| सुमइं च | सुमति |
| पउमप्पहं | पद्मप्रभ को |
| सुपासं | सुपार्श्व |
| जिणंच | जिन और |
| चंदप्पहं | चंद्रप्रभ को |
| वंदे | वंदन करता हूँ |
| सुविहिं च | सुविधि और |
| पुप्फदंतं | पुष्पदंत |
| सीअल | शीतल |

| पाठ | शब्दार्थ |
|---|---|
| सिज्जंस | श्रेयांस |
| वासुपूज्जं च | और वासुपूज्य |
| विमल | विमल |
| मणंतं च | अनंत तथा |
| जिणं | जिनेश्वर |
| धम्मं | धर्म |
| संतिं च | और शांति को |
| वंदामि | वंदन करता हूँ |
| कुंथु | कुंथु |
| अरं च | अर और |
| मल्लिं | मल्लि को |
| वंदे | वंदन करता हूँ |
| मुणिसुव्वयं | मुनि सुव्रत |
| नमिजिणं च | और नमिजिन को |
| वंदामि | वंदन करता हूँ |
| रिट्ठनेमिं | अरिष्टनेमि |
| पासं | पार्श्व |
| तह | तथा |
| वद्धमाणं च | वर्धमान को |
| एवं | इस प्रकार |
| मए | मेरे द्वारा |
| अभिथुआ | स्तुति किये हुए |
| विहूय-रयमला | रज और मल से रहित |
| पहीण-जरमरणा | जरा और मरण से मुक्त |
| चउवीसंपि | चौबीस ही |
| जिणवरा | जिणवर |
| तित्थयरा | तीर्थंकर |
| मे | मुझ पर |
| पसीयंतु | प्रसन्न हो |
| कित्तिय | किर्तित |

| पाठ | शब्दार्थ |
|---|---|
| वंदिय | वंदित |
| मए | मेरे द्वारा |
| जे ए | जो ये |
| लोगस्स | लोक में |
| उत्तमा | उत्तम |
| सिद्धा | सिद्ध हैं (वे) |
| आरोग्ग | आरोग्य |
| बोहि लाभं | बोधिलाभ |
| समाहिवरमुत्तमं | श्रेष्ठ समाधि उत्तम |
| दिंतु | दें। |
| चंदेसु | चन्द्रमाओं से |
| निम्मलयरा | निर्मलतर |
| आइच्चेसु | सूर्यों से |
| अहियं | अधिक |
| पयासयरा | प्रकाशक (प्रकाश करने वाले) |
| सागर वर गंभीरा | समुद्र से गंभीर |
| सिद्धा | सिद्ध भगवान |
| सिद्धिं | सिद्धि-मुक्ति |
| मम | मुझे |
| दिसंतु | दें |

नोट—लोगस्स के चित्र में लोगस्स पाठ के बाहर जो आत्माएं दृश्यमान हो रही हैं। वे अनंत सिद्ध आत्माओं के प्रतीक के रूप में दर्शायी गई हैं।

१५ कर्मभूमि क्षेत्रों में पांच भरत और पांच एरभरत इन दस क्षेत्रों में कालचक्र का व्यवहार चलता है। कालचक्र के उत्सर्पिणी अवसर्पिणी विभागों में चौबीस-चौबीस तीर्थंकर होते हैं। इस तरह एक कालचक्र में एक क्षेत्र में अड़तालीस तीर्थंकर होते हैं। इस तरह ५ भरत, ५ एरभरत में कुल चार सौ अस्सी तीर्थंकर एक कालचक्र में जन्म लेते हैं। महाविदेह क्षेत्र में कालचक्र का व्यवहार नहीं है परंतु वहां उत्कृष्ट हो तो १६० तथा जघन्य बीस तीर्थंकर सदैव होते हैं। इस तरह अनंत कालचक्रों में अनंत आत्माएं तीर्थंकर बन चुकी हैं और अनंत आत्माएं तीर्थंकर बनेंगी। अतएव सिद्ध आत्माएं अनंत हैं।

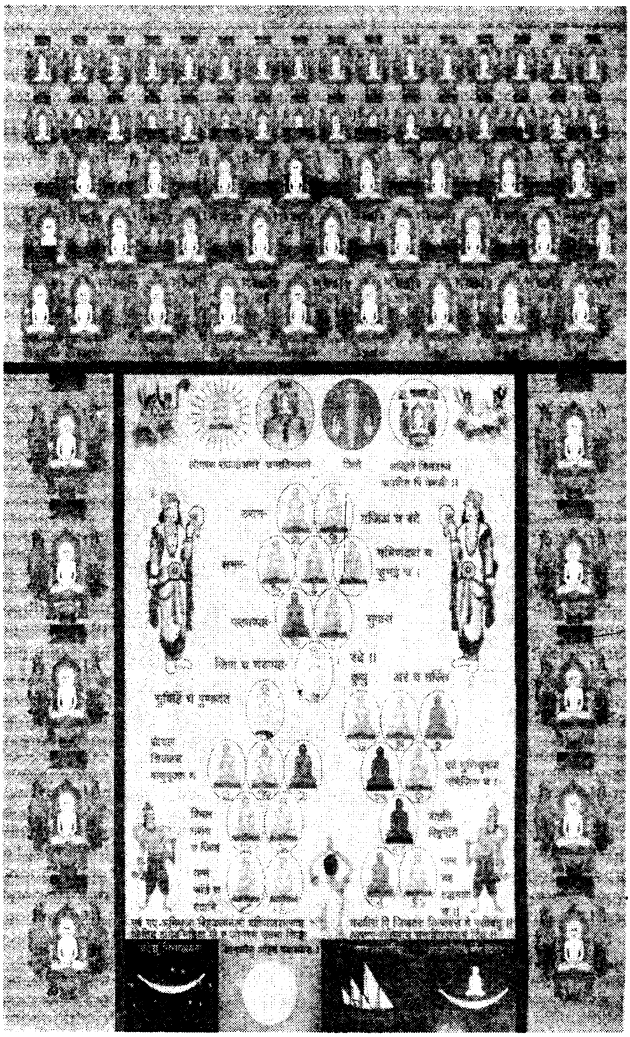

## लोगस्स : नाम मीमांसा

संध्या कर्म, उपासना, अवेस्ता, प्रार्थना एवं नमाज की तरह जैन धर्म में दोषविशुद्धि एवं गुणाभिवृद्धि के लिए आवश्यक का विधान है। जीवित रहने के लिए श्वास की अनिवार्यता वत् अध्यात्म के क्षेत्र में जीवन की पवित्रता के लिए जो क्रिया या साधना जरूरी है उसे आगम में आवश्यक की संज्ञा से अभिहित किया गया है। आवश्यक अर्थात् सामायिक, चतुर्विंशति-स्तव, वंदन, प्रतिक्रमण आदि

अवश्य करणीय कर्त्तव्य। आवश्यक के संबंध में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का मंतव्य है—"यह अध्यात्म विशुद्धि का प्रयोग, जागरूकता का दिशा सूचक यंत्र, आत्म निरीक्षण का अध्यादेश और विघ्ननिवारण का महामंत्र है।[५] आचार्यश्री तुलसी ने इसे ध्रुवयोग के अन्तर्गत माना है।[७] आवश्यक सूत्र के छह अंग निम्न प्रकार से हैं[८]—

१. सामायिक — समभाव की साधना
२. चतुर्विंशति स्तव — चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति
३. वंदना — सद्गुरुओं को नमस्कार एवं उनका गुणगान (स्तुति)
४. प्रतिक्रमण — दोषों की आलोचना
५. कायोत्सर्ग — शरीर के प्रति ममत्व का त्याग
६. प्रत्याख्यान — आहार आदि का प्रत्याख्यान (त्याग)

अनुयोग द्वार में आवश्यक के छह नाम निम्न प्रकार से उल्लिखित हैं[९]—

१. सावद्य योग विरति (सामायिक)
२. उत्कीर्तन (चतुर्विंशति स्तव)
३. गुणवत् प्रतिपत्ति (गुण उपासना अथवा वंदना)
४. स्खलित निंदना (प्रतिक्रमण—पिछले पापों की आलोचना)
५. चिकित्सा व्रण (कायोत्सर्ग—ध्यान, शरीर से ममत्त्व त्याग)
६. गुण धारण (प्रत्याख्यान—आगे के लिए त्याग, नियम ग्रहण आदि)

उपरोक्त विवेचन के निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि दूसरे आवश्यक के दो नाम दो आगमों में उपलब्ध हैं। आवश्यक सूत्र में 'चउवीसत्थव सुत्तं' (चतुर्विंशति स्तव) और अनुयोग द्वार में 'उक्कित्तणं' (उत्कीर्तन)।

उक्कित्तणं और चतुर्विंशति-स्तव—ये दो नाम तीर्थंकरों के गुणानुवाद को आधार मानकर ही रखे गये हैं। शास्त्रों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि तेइसवें तीर्थंकर तक इस स्तुति का नाम 'उक्कित्तणं' और चौबीसवें तीर्थंकर के समय चौबीसी पूर्ण होने से 'चतुर्विंशति-स्तव' कहलाता है। आम बोलचाल की भाषा में इसे 'लोगस्स' का पाठ भी कहते हैं। इस प्रकार 'लोगस्स' के तीन नाम उपलब्ध एवं प्रचलित हैं—

१. उक्कित्तणं
२. चतुर्विंशति स्तव
३. लोगस्स

## १. उक्कित्तणं

उत्कीर्तन का सामान्य अर्थ गुणगान या प्रशंसा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस आवश्यक में किसी सामान्य पुरुष के गुणगान या प्रशंसा न करके उन महापुरुषों के गुणगान या प्रशंसा की गई है जिन्होंने रागादि आत्म-रिपुओं को

समाप्त करके केवल-ज्ञान प्रकट करते हुए अपनी आत्मा को उज्ज्वल एवं प्रकाशमान बनाया है। अनुयोग चूर्णि के अनुसार दर्शन विशोधि, बोधि लाभ और कर्म-क्षय के लिए तीर्थंकरों का उत्कीर्तन करना चाहिए।[१०]

## २. चतुर्विंशति स्तव

मूलाचार में चतुर्विंशति स्तव के स्वरूप प्रतिपादन क्रम में स्तव/स्तोत्र के स्वरूप को प्रकाशित करते हुए कहा गया है–

**असहादिजिणवराणं, णामणिरुत्तिं गुणाकुत्तिं च।**
**काऊण अच्चिदूण य तिसुद्धपणमो थओ णेओ॥**

अर्थात् ऋषभ, अजित आदि चौबीस तीर्थंकरों के नाम की निरुक्ति के अनुसार अर्थ करना, उनके असाधारण गुणों को प्रकट करना, उनके चरणों को पूजकर मन, वचन, काय की शुद्धता से स्तुति करना स्तव कहलाता है। तात्पर्य यह है कि स्तव व स्तोत्र में प्रभु नाम का कीर्तन, उनके गुणों का प्राकाट्य तथा चरण श्रद्धा वांछ्य होती है। राजवर्तिकार ने स्तोत्र के गुण कीर्तन स्वरूप की ओर निर्देश किया है। "चतुर्विंशति स्तव तीर्थंकर गुणानुकीर्तनम्" अर्थात् तीर्थंकरों के गुणों का उत्कीर्तन स्तोत्र या स्तव कहलाता है।

स्तव-स्तुति में प्राकृत के कारण व्ययत्व अर्थात् क्ति प्रत्यान्त का पर निपात किया गया है। स्तव शब्द से शक्र-स्तव (णमोत्थुणं) का ग्रहण और "एकादिसप्त-श्लोकान्त स्तुतिः" के अनुसार स्तुति में चतुर्विंशति स्तव का ग्रहण माना गया है। भगवान महावीर ने स्तव-स्तुति के साथ मंगल शब्द प्रयुक्त किया है जो इसकी विशिष्टता का द्योतक है।

## ३. लोगस्स

यह स्तव लोगस्स के नाम से अधिक लोकप्रिय है। इस स्तव के प्रथम शब्द 'लोगस्स' के आधार पर इसका नाम लोक में 'लोगस्स' के नाम से रूढ़ हो गया। अनुयोग द्वार सूत्र में विवर्णित नामकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत 'आदान-पद नाम' के उल्लेखानुसार भी इस स्तव के इस रूढ़ नाम का औचित्य सिद्ध होता है।

इस प्रकार शिलोग व गाहा छंद में आबद्ध अद्भुत शब्द सौष्ठव पूर्ण इस स्तवन के एक-एक अक्षर में हिलोरे लेता हुआ भक्ति सुधा का सागर केवल उद्गाताओं को ही नहीं श्रोताओं तक के त्रिविध ताप का शमन कर उन्हें अनिवर्चनीय आनंद प्रदान करता है। मन के तार को प्रभु के साथ जोड़ने की इसमें अपूर्व क्षमता है। जिस प्रकार विद्युत-केन्द्र से किसी घर के तार का स्विच जोड़ देने

पर वह घर प्रकाश से जगमगा उठता है, उसी प्रकार इस स्तुति के माध्यम से मन का तार अनंत शक्तिशाली, अक्षय, अव्याबाध, अनंत सुख के धाम जिनेश्वर प्रभु से जोड़ देने पर वह आत्मा रूपी घर प्रकाश से जगमगा उठता है।

## लोगस्स : पद्य मीमांसा

लोगस्स का पाठ सप्तपदी मंत्र है। सात पद्यों की संख्या भी अपने-आप में एक अनूठा रहस्य समेटे हुए है। ज्योतिष शास्त्रानुसार बारह राशियों के स्वामी सात ग्रह ही हैं। भगवत् गीता में सात स्त्री शक्तियों—कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा तथा क्षमा का उल्लेख मिलता हैं।[११] जैन आगमों में तत्त्व निरूपण की पद्धति भी सात नयों के आधार पर ही चलती है। मुस्लिम सम्प्रदाय में ७८६ के अंक को अत्यन्त शुभ और समृद्धि सूचक माना है जैसे हिंदु धर्म के लोग "श्री गणेशाय नमः" लिखकर शुभ कार्य को प्रारंभ करते हैं वैसे मुस्लिम धर्म में ७८६ अंक लिखकर शुभ कार्य का प्रारंभ करते हैं। मकान, कार, स्कूटर आदि पर भी यही अंक संख्या लिखी मिलती है। जयाचार्य ने सात आगमों पर टीका लिखी तो आचार्यश्री तुलसी ने बच्चों को संस्कार देने हेतु संस्कार सप्तक की रचना की। जिस प्रकार सात बार, सात रंग, सात फेरे, सात स्वर, सात चक्र, सात धातुएं, सात समुद्घात, क्षपक श्रेणि के सात गुणस्थान, मोहनीय कर्म की सात प्रकृतियों का क्षय अपने भीतर विशिष्टता संजोये हुए समग्रता को प्रदर्शित करते हैं, उसी प्रकार चेतना के असंख्य प्रदेशों को झंकृत करने की अपूर्व क्षमता विद्यमान होने के कारण 'लोगस्स' के सात पद्य अपने आप में महत्त्वपूर्ण, अद्वितीय और विलक्षण हैं। लोगस्स में नौवें तीर्थंकर के दो नाम होने से पच्चीस नाम हो गये। दो और पांच का योग भी सात ही होता है, यह भी एक अनूठा योग है।

प्रकृति का यह नियम है कि साधना के अनुरूप उपासकों का स्मरण किया जाता है। युद्धवीर युद्धवीरों का, अर्थवीर अर्थवीरों का और धर्मवीर धर्मवीरों का स्मरण करते हैं। लोगस्स में जिन धर्मवीरों (अर्हतों) की स्तुति की गई है उनका पवित्र स्मरण साधकों के दुर्बल मन में उत्साह, बल एवं स्वाभिमान का संचार करता है। लोगस्स का प्रारंभ ही अर्हत भगवन्तों की विशेषताओं से हुआ है। प्रथम पद्य में उनको पांच दुर्लभतम विशेषणों से संबोधा है जो अन्यत्र असंभव है। दूसरे से चौथे पद्य तक नाम कीर्तन, पांचवें में अर्हत् स्तुति के कारणों का उल्लेख, छठे में अर्हत् स्तुति के लाभ तथा सातवें में अर्हत् व सिद्ध भगवन्तों के स्वरूप को प्रकट कर स्वयं की सिद्धि की भावना व्यक्त की गई है।

१. प्रथम पद्य में समागत अर्हतों की विशेषताएं–

१. लोक के उद्योत कर्त्ता
२. धर्म तीर्थ के संस्थापक
३. जिन
४. अरिहंत
५. केवली

२, ३, ५ प्रथम पद्य में गुण रूप स्तुति के पश्चात द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ पद्य में चौबीस अर्हतों की नामोल्लेख पूर्वक स्तुति की गई है। इनमें सभी अर्हतों के एक-एक नाम का उल्लेख हैं पर नवमें सुविधि नाथ के एक द्वितीय नाम पुष्पदंत का भी उल्लेख किया गया है। चरम तीर्थंकर महावीर का इसमें वर्धमान नाम (जन्म नाम) दिया गया है।

यदि पापियों का चिंतन मन को कलुषित बनाता है तो महापुरुषों का नाम सुमिरन, स्तुति, कीर्तन भी मन को पवित्र बनाये बिना नहीं रह सकता। अतः भगवत् नाम को जड़ अक्षर माला ही समझना भ्रांति है। ये अक्षर द्रव्य श्रुत द्वारा भाव श्रुत जगाने का कारण है। इन चंद अक्षरों में कर्म क्षय की अद्भूत शक्ति है। श्रुत केवली आचार्य भद्रबाहु ने ग्रह-शांति निवारणार्थ भी इन सब नामों का मंत्राक्षर के रूप में रंगों के साथ प्रयोग करने का विधान प्रस्तुत किया है। आचार्य मानतुंग ने भी वर्ण साम्य के साथ नक्षत्रों के वर्ण मिलाकर नवकार जप की विधि का उल्लेख किया है।[१२]

सचमुच शब्द शक्ति का स्रोत है। शब्दों में असीम तरंगें हैं। शब्द-शक्ति, मानस्-शक्ति और भगवत्-शक्ति–ये तीनों शक्तियां मिलकर महाशक्ति को प्रकट करती हैं। इसी तथ्य को उजागर करने वाली गोस्वामी तुलसीदास की निम्नोक्त पंक्तियां बहुत ही मार्मिक और श्रद्धा को पुष्ट करने वाली हैं–

**नाम निरूपण नाम जतन ते।**
**सोउ प्रकटत जिमि मोल रतन ते॥**

नाम निरुपण करके (नाम के यथार्थ स्वरूप, महिमा, रहस्य और प्रभाव को जानकर) नाम का जतन करने से (श्रद्धापूर्वक नाम जपने से) वह ब्रह्म ऐसे प्रकट होता है जैसे रत्न को जानने से उसका मूल्य। संत कबीर ने भी नाम स्मरण के विषय में कहा है कि वह स्मरण ऐसा हो कि रोम-रोम में रम जाए–

**तू तू करता तू भया, मुझ में रही न हूँ।**
**वारि फेरी बलि गई, जित देखो तित तूं॥**

५. पांचवें पद्य में समागत स्तुति का कारण–

६. १. विहूयरयमला–आप रज (बंधते हुए कर्म) और मल (बंधे हुए कर्म) से रहित हैं।

२. पहीणजरमरणा–आप जरा और मृत्यु से रहित हैं।

इस पद्य में स्तुतिकार ने अपने द्वारा कृत स्तुति के कारणों का उल्लेख करते हुए कहा है–भंते! मैं आपकी स्तुति क्यों कर रहा हूँ क्योंकि आप उपरोक्त दोनों विशिष्ट महागुणों से युक्त जिनेश्वर हैं। आप मुझ पर प्रसन्न हो अर्थात् मुझमें मोक्ष प्राप्ति की योग्यता विकसित हो।

६. छठे पद्य में उधृत स्तुति के लाभ–

१. आरोग्य (आत्मशांति)

२. बोधि लाभ

३. श्रेष्ठ उत्तम समाधि की प्राप्ति

उपरोक्त पद्य में समाधि के साथ वरं और उत्तमं शब्द रहस्यात्मक है। इस रहस्य को आवश्यक सूत्र-मुनि तोषणीय नामक टीका के हिंदी अनुवाद में निम्न प्रकार से दर्शाया गया है–निदान रहित बोधि लाभ ही मोक्ष का कारण है। इस रहस्य को समझाने हेतु 'समाहिवरं' कहा है। समाधि दो प्रकार की होती है–

१. द्रव्य समाधि

२. भाव समाधि

इसमें शारीरिक सुख रूप समाधि को न लेकर केवल रत्नत्रय भाव रूप समाधि का ग्रहण करने के लिए 'वरं' शब्द दिया है। अतः सनिदान बोधि लाभ का निवारण हो गया। क्योंकि ज्ञानादि रत्नत्रय की प्राप्ति मोक्ष का साक्षात् कारण है। इसलिए इस अवस्था में केवल अनिदान (निदान-रहित) बोधि लाभ रहता है। भाव समाधि भी द्रव्य आदि भेदों से अनेक प्रकार की हैं उसमें से जघन्य और मध्यम को हटाने के लिए उत्तमं शब्द का प्रयोग किया गया है।[१३]

७. सातवें पद्य में समागत अर्हतों व सिद्धों का स्वरूप

१. चंद्रमा से अधिक निर्मल सिद्ध भगवान मुझे सिद्धि देवें।

२. सूर्य से अधिक प्रकाशक सिद्ध भगवान मुझे सिद्धि देवें।

३. सागर सम गंभीर सिद्ध भगवान मुझे सिद्धि देवें।

सकल कर्म-मुक्त होने के कारण सिद्ध भगवन्त को चन्द्रमा से अधिक निर्मल कहने का औचित्य स्वयं सिद्ध है। आचार्य मानतुंग ने आदिनाथ भगवान की स्तुति में–आप चन्द्रमा से अधिक निर्मल क्यों हैं? इसकी बहुत सुन्दर व्याख्या की है[१४]–

१. आपका अनंत ज्योतिर्मय मुख अपूर्व चन्द्रबिंब के रूप में विश्व को आलोकित करता हुआ चमकता है। क्योंकि चन्द्रमा तो केवल रात्रि में ही उदित होता है पर आपका मुख चंद्र सदैव उदयमान रहता है, कभी भी अस्त नहीं होता।
२. चन्द्रमा साधारण अंधकार का नाश करता है किंतु आपका मुख चंद्र अज्ञान तथा मोहनीय कर्म रूप महा अंधकार को नष्ट करता है।
३. चंद्रमा को राहु ग्रसता है, बादल छिपा लेता है परन्तु आपके मुख चंद्र को ढकने वाला कोई नहीं है।
४. चंद्रमा पृथ्वी के कुछ भागों को प्रकाशित करता है परंतु आपका मुख तीनों जगत् को प्रकाशित करता है।
५. चंद्रमा अल्पकांति युक्त है किंतु आपके मुख की कांति अनंत है।

केवल ज्ञान रूपी आलोक से सम्पूर्ण लोकालोक के प्रकाशक होने के कारण अरिहंत व सिद्ध भगवन्तों को सूर्य से अधिक प्रकाशक कहा है, इसी तथ्य की पुष्टि में आचार्य मानतुंग की निम्नोक्त पंक्तिया विमर्शनीय हैं[१५]–

१. सूर्य संध्या को अस्त हो जाता है पर आपका केवलज्ञान रूप सूर्य तो सदैव प्रकाश देता रहता है, कभी अस्त नहीं होता।
२. सूर्य एक जम्बुद्वीप को ही प्रकाशित करता है वह भी क्रम से परन्तु आप तो तत्काल एक ही समय में तीनों जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों को प्रकाशित करने की अपूर्व क्षमता रखते हैं।
३. सूर्य को राहु ग्रहण लगता है परन्तु आपको तो किसी भी प्रकार का दुष्कृत प्राप्त नहीं होता।
४. सूर्य के प्रताप को तो एक साधारण मेघ भी आच्छादित कर देता है पर आपका महाप्रताप ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि कर्मों से रहित है। इस प्रकार के मुनिवर! आप सूर्य से भी बड़े सूर्य हैं।

## सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु

लोगस्स के इस अंतिम चरण में सिद्धि प्राप्ति की भावना अभिव्यक्त की गई है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं–भिखारी बनकर प्रभु की प्रार्थना नहीं की जा सकती।[१६] आचार्यश्री तुलसी ने भी एक गीत में कहा है–"प्रभु बनकर के ही हम प्रभु की पूजा कर सकते हैं।" वैदिक साहित्य भी इसका साक्षी है–"देवोभूत्वा देवं यजेत्"–देवता होकर ही देवता की पूजा करो। 'चंदेसु.....दिसंतु'–सिद्धि प्राप्ति का यह मंत्र है। जो व्यक्ति चन्द्रमा जैसी निर्मलता, सूर्य जैसी तेजस्विता और सागर जैसी गंभीरता को प्राप्त नहीं करता उसको सिद्धि नहीं मिल सकती। सिद्धि उसे

ही मिल सकती है जो सिद्धमय बन जाता है। प्रार्थना आत्मा की शक्ति है और वह तभी सफल होती है जब प्रार्थना करने वाला स्वयं प्रभुमय हो जाता है।[१७] प्रार्थना का सूत्र है—तन्मयता, प्रभुमय होने की शक्ति का जागरण। जो व्यक्ति अपने पुरुषार्थ को प्रदीप्त करता है, प्रभुमय होने की शक्ति को जगाता है उसकी प्रार्थना सफल हो जाती है।[१८] प्रभु का आदेश है—पवित्र रहो, बुरे आचरण मत करो, ईमानदार रहो—इनका अनुसरण करने वाला ही 'सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु' पद को सार्थक करने का अधिकारी है। संसार में जितने भी विशिष्ट व्यक्ति हुए हैं—राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा आदि, उन्होंने वही रास्ता चुना जो ऊँचाई की ओर ले जाता है। मोक्ष या निर्वाण की ओर ले जाता है। इसी रास्ते पर चलकर ही वे महापुरुष बने।[१९] तन्मयता का अभ्यास करना, प्रभु के मार्ग और आदेश का अनुसरण करना ही वास्तव में प्रार्थना है।

## निष्कर्ष

जैन साधना में स्तुति का स्वरूप बहुत कुछ भक्तिमार्ग की जप साधना या नाम स्मरण से मिलता है। इसके माध्यम से साधना के आदर्श-तीर्थंकर या सिद्ध भगवन्त किसी उपलब्धि की अपेक्षा को पूरा नहीं करते। वे तो मात्र हमारी साधना के आदर्श या प्रकाश स्तंभ हैं जिनका अनुसरण कर साधक आत्मोत्कर्ष तक पहुँच सकता है।

जयाचार्य ने चौबीसी में वीतराग आत्माओं के प्रति सर्वात्मना समर्पित होकर किस तरह भक्तिरस को उभारा है वह सचमुच पठनीय है। वे अर्हत् के प्रति सर्वात्मना समर्पित सोद्देश्य हुए क्योंकि उन्हें अर्हत् की भूमिका तक पहुँचना था। जो जैसा होना चाहता है उसे उसी की शरण में जाना होता है। जैसा कि उन्हीं के शब्दों में, अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ के प्रति भावना अभिव्यक्त करते हुए लिखा है—

**"शरणै आयो स्वाम रै जी, अविचल सुख ने काज"।**[२०]

अर्थात् मैं शाश्वत सुखों की प्राप्ति के लिए तुम्हारी शरण में आ रहा हूँ, जिन शाश्वत सुखों को आपने पा लिया है। इस तरह दसों गीतों में शरण/समर्पण के भाव प्रकट किये हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आवर्त्तन में उत्पन्न आस्था शब्दों की यात्रा बनकर अविनाशी आत्म प्राप्ति का साधन बन जाती है। क्रिया के दीपक में भावों की ज्योति होनी चाहिए। आचार्य सिद्धसेन ने भी कहा है—"तस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्याः"[२१] भाव शून्य क्रिया सफल नहीं होती। शब्द, अर्थ और

भाव की तन्मयता के साथ लोगस्स को एक दिव्य आत्म-साधना के रूप में चेतन किया जा सकता है। सचमुच यह सत्यं, शिवं व सुन्दरम् की ही साधना और उपासना है।

## संदर्भ


१. मोक्षमाला–पृ./७७, ७८
२. वीतराग वंदना विशेषांक–पृ./७४
३. ज्योति जले, मुक्ति मिले–पृ./२२५
४. उत्तराध्ययन–२९/१०
५. आवश्यक–२
६. जैन धर्म के साधन सूत्र–पृ./
महाप्रज्ञ का रचना संसार–पृ./२६६
७. व्यवहार बोध (ध्रुवयोग) श्लोक/३३
८. आवश्यक सूत्र, अनुयोग द्वार–६०
९. अनुयोग द्वार–५९
१०. अनुयोग द्वार चूर्णि पृ./१८, मूलाचार ५७१
११. तीसरी शक्ति–पृ./४१
१२. नवकार सार स्तवन–१६-१८
१३. आवश्यक सूत्र–मुनितोषणीय टीका का हिंदी अनुवाद, पृ./१४०
१४. भक्तामर–श्लोक/१८
१५. वही–श्लोक/१७
१६. अपने घर में–पृ./२२६
१७. वही–पृ./२२६
१८. वही–पृ./२२७
१९. वही–पृ./२२७
२०. चौबीसी–१८/६
२१. कल्याण मंदिर–श्लोक/३८

# ८. लोगस्स देह संरचना के रहस्य

**लोगस्स में ऐसे अपूर्व मंत्राक्षर हैं जिनमें समस्त भय, विघ्न, बाधा, रोग, शोक, दुःख, दारिद्रय और अन्तस् के विकारों को नष्ट कर सर्व मनोरथ सिद्ध करने की अद्भूत क्षमता विद्यमान है। ग्रहों की शांति, पारिवारिक कलह निवारण, शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक स्वास्थ्य के साथ आध्यात्मिक शक्तियों का विकास इस रहस्य को उजागर करता है कि लोगस्स शांति, शक्ति, संपत्ति तथा बुद्धि के रूप में विश्व में पूजित शक्तियों का आधार है। इसकी अर्हत्ता अचिन्त्य है। यह अलौकिक सिद्धियों का भंडार है। इसके अक्षर-अक्षर में मंत्रत्व ध्वनित होता है।**

ज्ञान, शक्ति व आनंद की समन्वित धारा ही चेतना की निर्मल धारा है। इसकी संप्राप्ति ही साधना का लक्ष्य है। विकसित आत्म-स्वरूप से तादात्म्य होना ही साधना का उत्कृष्ट स्वरूप है। इसलिए भक्त पहले अपने इष्ट के स्वरूप को समझने की कौशिश करता है फिर उनसे तादात्म्य साधता है। स्वरूप का ज्ञान न हो तो तादात्म्य किससे साधेगा।

लोगस्स आत्मोदय की यात्रा है। आत्मोदय में आस्था, ज्ञान व पुरुषार्थ की अहं भूमिका रहती है। लोगस्स में इन तीनों को प्राण ऊर्जा के रूप में प्रतिपादित किया गया है। यह कोई सिद्धान्त या शास्त्र नहीं अपितु साधना का संबोध है, शाश्वत एवं सामयिक जीवन मूल्यों का समन्वय है। इसमें तत्त्व ज्ञान की गूढ़ता है और उन गूढ़ तत्त्वों को सीधी सरल भाषा में कह देने की विशिष्ट रचनाधर्मिता है। यह काव्यात्मक ज्ञेय रचना है, स्वराभिव्यंजना है।

## बाह्य स्वरूप

प्रत्येक अक्षर, शब्द, मंत्र, स्तोत्र एवं सूत्र का अपना-अपना स्वरूप होता है। अक्षर देह उसका बाह्य स्वरूप होता है तो अर्थदेह आभ्यन्तर स्वरूप होता है। इस पाठ में लोगस्स के बाह्य स्वरूप अर्थात् देह संरचना के विषय में चर्चा की जा रही

है। लोगस्स का बाह्य स्वरूप, इसमें अभिमंडित सात गाथा, साढ़े तीन अन्तराल, प्रत्येक गाथा के चार चरण, अट्ठाइस संपदा एवं दो सौ छप्पन अक्षर सहित एक शक्ति पुञ्ज अक्षर विन्यास के रूप में प्रतिष्ठित है तथा आभ्यन्तर स्वरूप अर्हतों व सिद्ध भगवन्तों के गुणातिशयों से महिमा मंडित है। इस प्रकार रात को आकाश गंगा के चमकते सप्तऋर्षि के नक्षत्रों की भांति यह महासूत्र सर्वसूत्रों में अपना अपूर्व स्थान रखता है। इसकी देह संरचना में अभिमंडित २५६ अक्षरों में लघु अक्षर २२९ तथा गुरु अक्षर २७ हैं, जिनकों निम्न रेखाचित्र के माध्यम से भलिभांति समझा जा सकता है।

| पद्य | लघु | गुरु | कुल अक्षर |
|---|---|---|---|
| १. | २६ | ६ | ३२ |
| २. | ३७ | २ | ३९ |
| ३. | ३२ | ४ | ३६ |
| ४. | ३१ | ४ | ३५ |
| ५. | ४० | १ | ४१ |
| ६. | ३० | ६ | ३६ |
| ७. | ३३ | ४ | ३७ |
| कुल योग | २२९ | २७ | २५६ |

नोट—कहीं-कहीं २९ संपदा और २६० अक्षरों की मान्यता भी है पर इसका रहस्य क्या है? मैं नहीं समझ पाई। संपदा का सामान्यतः अर्थ है—विश्राम लेने का स्थान। अर्थात् पद्यों को बोलते समय बीच में कितने विश्राम लेने चाहिए? लोगस्स के एक चरण की एक संपदा होने से एक पद्य की चार संपदाएं और सात पद्यों की अट्ठाईस संपदाएं ही उपयुक्त लगती हैं।

## वर्ण विन्यास

ऐसे-ऐसे मंत्र पद जो उनके योजक महर्षि महानुभावों के अलौकिक तप, त्याग तथा तेज के त्रिविध शक्ति संपुट द्वारा परिवेष्टित हुए होते हैं। उसी शक्ति को लेकर उन मंत्र पदों में अद्भूत सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है। जिस प्रकार जड़ जैसी गिनी जाने वाली रसायन विद्या के एक सामान्य नियमानुसार ऋणात्मक एवं धनात्मक स्वभाव की दो धातुओं के टुकड़ों को जब योजक यथोचित प्रकार से जोड़ देता है तो उसमें अद्भूत एवं अलौकिक शक्ति का आश्चर्य जनक संचार हो जाता है। उस शक्ति के द्वारा या उसके बल पर लाखों मनुष्यों के शारीरिक बल से या दीर्घकालिक परिश्रम से, उद्योग से भी नहीं हो सकता, वही कार्य बहुत ही

सरलता से और क्षणमात्र में भलिभांति बन जाता है। इसमें किसी भी प्रकार का संदेह नहीं है। यह आज के विज्ञान के जगत् में देखा जा रहा है।

इसी प्रकार आध्यात्मिक विद्या के नियमानुसार पृथक-पृथक स्वभाव वाले वर्णों अथवा अक्षरों का उनकी सामर्थ्य को भलिभांति जानने वाले योगीजन विशिष्ट रीति से मिलान कर देते हैं तो उसमें विद्युत शक्ति के अनुसार किसी अगम्य शक्ति का संचार हो जाता है। उसी शक्ति के द्वारा साधक अपना अभिष्ट कार्य सरलता से सिद्ध कर लेता है।

लोगस्स की देह-संरचना में ऐसे माधुर्य व्यंजक वर्णों का विन्यास एवं विनियोग है जिससे श्रुति मधुरता की सृष्टि हो, रसोत्कर्ष हो, वस्तु की प्रभावशीलता हो, ओज गुण की स्थिति हो। वर्ण-विन्यास, वाक्य-रचना, अभिव्यक्ति, सौष्ठव, मंत्रात्मकता इत्यादि अनेक कारणों से यह स्तव अभिप्रिय और सतत स्मरणीय रहा है। काल का अन्तराल इसे कभी व्यवहित नहीं कर सका। सचमुच यह अमृत रसायन स्वरूप है। इसकी बाह्य देह संरचना में निर्मित ऐसे कुछ महत्त्वपूर्ण वर्ण विन्यास जो चामत्कारिक ढंग से प्रयुक्त हैं जिनके कुछ नमूने उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये जा रहे हैं–

## १. माधुर्य व्यंजक वर्ण विन्यास वक्रता

माधुर्य व्यंजक वर्ण विन्यास से पूर्व विन्यास वक्रता को समझ लेना अपेक्षित है। वर्ण विन्यास वक्रता को परिभाषित करते हुए ऐसा कहा गया है–वर्णों का ऐसा विनियोग जिसे श्रुति मधुरता (नाद-सौन्दर्य) की सृष्टि हो, रसोत्कर्ष हो, वस्तु की प्रभावशीलता कोमलता, कठोरता, कर्कशता आदि की व्यंजना हो, शब्द अर्थ में सामंजस्य स्थापित हो, भाव-विशेष पर बलाधान हो तथा अर्थ का विशदीकरण हो, वह वर्ण विन्यास वक्रता कहलाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि–जब एक, दो या अनेक वर्णों की आवृत्ति व्यवधान पूर्वक या व्यवधान रहित हो, उसे वर्ण विन्यास वक्रता कहते हैं।[1]

माधुर्य व्यंजक वर्णों की आवृत्ति युक्त या आवृत्ति रहित प्रयोग से माधुर्य की व्यंजना होती है। चित्त या अन्तःकरण आनंद से द्रवित हो जाता है। चित्त का द्रवीभूत बनाने वाले आह्लाद को ही माधुर्य की संज्ञा से अभिव्यक्त किया गया है। वर्ण, सानुनासिक वर्ण तथा छोटे-छोटे समासों के प्रयोग से माधुर्य की उत्पत्ति होती है। आचार्य मम्मट ने माधुर्य व्यंजक वर्णों का निर्देश दिया है, जो निम्न प्रकार से उपलब्ध है–

**मध्नि वर्गान्त्यगा स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू ।**
**अवृत्तिर्मध्यवृत्तिवा माधुर्ये घटना तथा ॥**[२]

अर्थात्

१. ट वर्ग ट ठ, ड ढ़ को छोड़कर क से लेकर म तक स्पर्श वर्ण जब वे पूर्व भाग में अपने वर्ग के अन्तिम वर्ग से युक्त होते हैं।
२. ह्रस्व स्वर युक्त रकार और णकार।
३. समास रहित मध्यम समासादि पदों के प्रयोग से माधुर्य की अभिव्यंजना होती है।

वक्रोक्तिकार ने द्विरुक्त त, ल, न और र, ह आदि से संयुक्त य और ल को माधुर्य व्यंजक माना है, यथा–

**वर्गान्त योगिनः स्पर्शा द्विरुक्तास्तलनादयः ।**
**शिष्टाश्च रादि संयुक्ताः प्रस्तुतौचित्य शोभिनः ॥**[३]

लोगस्स में इन वर्णों का प्रभूत प्रयोग हुआ है। जिनको कुछ उदाहरणों से समझा जा सकता है–स्पर्श वर्ण अपने वर्ग के अन्त्य वर्ण के साथ–

१. अरहंते (१ पद्य) में 'न्त' माधुर्य व्यंजक संयुक्ताक्षर है। अरिहंत जैसी वीतरागता इन वर्णों से उत्पन्न हो रही है। इसी तरह–
२. चउविसंपि (१ पद्य) में 'म्प'
३. वंदे (२ पद्य) में 'न्द'
४. संभव (२ पद्य) में 'म्भ'
५. मभिनंदणं (२ पद्य) में 'न्द'
६. वंदे (२ पद्य) में 'न्द'
७. पुष्पदंतं (३ पद्य) में 'न्त'
८. मणंतं (३ पद्य) में 'न्त'
९. संतिं (३ पद्य) में 'न्त'
१०. वंदामि (३ पद्य) में 'न्द'
११. कुंथु (४ पद्य) में 'न्थ'
१२. वंदे (४ पद्य) में 'न्द'
१३. वंदामि (४ पद्य) में 'न्द'
१४. पसीयंतु (५ पद्य) में 'न्त'
१५. चउविसंपि (५ पद्य) में 'म्प'
१६. वंदिय (६ पद्य) में 'न्द'

१७. दिंतु (६ पद्य) में 'न्त'
१८. चंदेसु (७ पद्य) में 'न्द'
१९. गंभीरा (७ पद्य) में 'म्भ'
२०. दिसंतु (७ पद्य) में 'न्त'

इस प्रकार लोगस्स के प्रत्येक पद्य में माधुर्य व्यंजक संयुक्ताक्षरों का प्रयोग हुआ है।

## २. ओजो व्यंजक वर्ण विन्यास वक्रता

ओज का शाब्दिक अर्थ है—प्रताप, तेज या दीप्ति। दीप्ति, वीरता, उत्साह और आवेग के भाव को ओज कहते हैं। ओज गुण वीर, वीभत्स, रौद्र एवं भयानक रसों में होता है। मम्मट ने बताया है—

**दीप्तयात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररस स्थितिः ।**
**वीभत्स रौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च ॥**[४]

इसकी अभिव्यक्ति कठोर तथा परुष वर्णों—ट, ठ, ड, ढ़ द्वित्व वर्णों, रेफ एवं लम्बे-लम्बे समासादिक पदों द्वारा होती है। काव्य प्रकाशकार[५] ने ओजो व्यंजक वर्णों का निर्देश किया है—

१. वर्ग के प्रथम व तृतीय वर्ण के साथ क्रमशः द्वितीय और चतुर्थ वर्णों का योग
२. रेफ के साथ किसी भी वर्ण का पूर्व में, पर में अथवा दोनों ओर संयोग,
३. द्विरुक्त वर्ण
४. संयुक्त या असंयुक्त ट ठ, ड ढ़, तथा श ष।

लोगस्स भक्ति काव्य है। भक्ति रस काव्य को शाश्वत मूल्यवत्ता प्रदान करता है साथ ही हृदय स्पर्शिता भी। मानवीय चेतना को उर्ध्वगामी बनाकर परम अगम शक्ति के साथ तदाकार करने की क्षमता है भक्ति में। भक्ति ही वह शक्ति है, वह सेतु है जो चेतना को असीम के साथ, लघु को विराट के साथ और क्षणभंगुर जीवन को अनंत आनंदमय परम तत्त्व के साथ जोड़ती है। भक्ति ही काव्य को अमरता व शाश्वत सौन्दर्य प्रदान करती है।

यद्यपि भक्ति काव्य होने के कारण लोगस्स में आवेगादि का भाव नहीं है, सामान्य रूप से प्रसिद्ध युद्ध आदि के लिए उत्साह भी नहीं है लेकिन विचारणा विश्लेषण करने से यह स्पष्ट उभरकर सामने आता है कि ओजत्व के बिना समर्पण हो ही नहीं सकता। एकनिष्ठता और विश्वास की बात तो बहुत दूर है।

ओज का मानसिक भाव है दीप्ति, चित्त विस्तार और उत्साह जो लोगस्स के प्रत्येक पद्य में विद्यमान हैं, यथा—

१. वर्ग संयोग–वर्ग के प्रथम वर्ण का द्वितीय के साथ, तृतीय का चतुर्थ के साथ संयोजक ओज व्यंजक माना गया है। लोगस्स में उदाहरण स्वरूप द्रष्टव्य हैं–

| | |
|---|---|
| तित्थयरे में–त् थ् | (प्रथम+द्वितीय) |
| रिट्ठनेमिं में–ट् ठ् | (प्रथम+द्वितीय) |
| तित्थयरा में–त् थ् | (प्रथम+द्वितीय) |
| पुण्फदंतं में–प् फ् | (प्रथम+द्वितीय) |
| वद्धमाणं में–द् ध् | (तृतीय+चतुर्थ) |
| सिद्धा में–द् ध् | (तृतीय+चतुर्थ) |
| सिद्धिं में–द् ध् | (तृतीय+चतुर्थ) आदि। |

## ३. द्विरुक्त वर्ण

द्विरुक्त वर्णों को भी ओज व्यंजक वर्ण माना है। लोगस्स में द्विरुक्त ओज व्यंजक वर्णों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ हैं, उदाहरणार्थ–

| | |
|---|---|
| लोगस्स में 'रुस' | धम्मं में 'म्म' |
| उज्जोयगरे में 'ज्ज' | मल्लिं में 'ल्ल' |
| धम्मतित्थयरे में 'म्म' | निम्मलयरा में 'म्म' |
| कित्तइस्सं में 'त्त', 'स्स' | मुणिसुव्वयं में 'व्व' |
| पउमप्पहं में 'प्प' | कित्तिय में 'त्त' |
| समाहिवरमुत्तं में 'त्त' | लोगस्स में 'स्स' |
| चंदप्पहं में 'प्प' | उत्तमा में 'त्त' |
| सिज्जंस में 'ज्ज' | आरोग्ग में 'ग्ग' |
| वासुपूज्यं में 'ज्ज' | आइच्चेसु में 'च्च' |

उपरोक्त वर्ण विन्यास को देखकर निस्संदेह कहा जा सकता है कि लोगस्स में ओज व्यंजक वर्णों का प्राचुर्य होने से नाद सौन्दर्य प्रभूत मात्रा में पाया जाता है।

## ४. श्रुत्यानुप्रास

जब कंठ, तालु आदि एक ही स्थान से उच्चरित वर्णों की आवृत्ति या समानता हो तो श्रुत्यानुप्रास होता है। कविराज विश्वनाथ ने तालु आदि में से किसी एक उच्चारण स्थान से उच्चरित वर्णों की समता को श्रुत्यानुप्रास कहा है–

**उच्चार्यत्वाद्यदेकर स्थाने तालु–रदादिके।**
**सादृश्यं व्यंजनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते ॥**[६]

एक ही स्थान में उच्चरित वर्णों के प्रयोग से नाद-सौन्दर्य (श्रुति-सुखदता) का संवर्धन होता है–

**एष सहृदययानामतीव श्रुतिसुरवावहत्वाच्छुत्यनुप्रासः।**[७]

लोगस्स में श्रुत्यानुप्रास का नाद सौन्दर्य अनेक स्थलों पर विद्यमान है–

**लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे।**
**अरहंते कित्तइस्सं, चउविसंपि केवली ॥**

उपरोक्त पद्य में लोगस्स में स् स्, धम्म तित्थयरे में ध, त्, त्, थ, अरहंते में न् त् कित्तइस्सं में त् त् स् स् आदि एक स्थानीय वर्णों के संयोजन के श्रुत्यानुप्रास अलंकार है। इन सबका उच्चारण स्थान दंत है।

इसी पद्य में तालव्य वर्णों के संयोग की भी आवृत्तियां हैं–उज्जोयगरे में ज् ज् य इसके अलावा च् ज् य् इ–ये सारे एक स्थानीय वर्ण होने से श्रुत्यानुप्रास अलंकार है। इस प्रकार पूरे लोगस्स में एक स्थानीय वर्णों की कई आवृत्तियां हैं तथा एक-एक पद्य में भी अनेक एक स्थानीय वर्णों का संयोग भी श्रुत्यानुप्रास अलंकार में हुआ है। जिससे श्रुति सुखदता बढ़ती है। इस प्रकार लोगस्स की देह संरचना में सभी बीजाक्षरों, मातृका वर्णों आदि के उचित, आलंकारिक एवं प्रभावी समन्वय से इसका वर्ण संयोजन अनूठा और अचिन्त्य शक्तिमय बन जाता है।

## लोगस्स देह संरचना एक रहस्य

यह एक अत्यन्त गंभीर और अनेक उत्तम गुणों से आप्लावित महामंत्र है। जैसे सागर गर्भ में अनेक रहस्य आवृत्त रहते हैं, गहराई में रहते हैं। उसी प्रकार इस स्तव में अनेक शक्तियां अन्तर्निहित हैं। शुद्ध उच्चारण, अर्थबोध के साथ भावपूर्ण तन्मयता से शनैः-शनैः वे रहस्य स्वयमेव उजागर एवं अनावृत्त होने लगते हैं। बचपन से हम सुनते आ रहे हैं कि सोने से पूर्व चार बार अथवा सात बार लोगस्स का पाठ बोलने से अच्छी नींद आती है, अनिद्रा रोग का निवारण होता है, नींद में दुःस्वप्न नहीं आते, भय नहीं लगता, मोह कर्म की तीव्रता का अल्पीकरण होता है। जैन धर्म के साधना सूत्र में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अपनी अनुभव पूर्ण लेखनी में लिखा है–"वि.सं. २०३५, गंगाशहर चातुर्मास, संवत्सरी का दिन। मैं एकान्त में प्रतिक्रमण कर रहा था। मैंने श्वास के साथ चालीस लोगस्स का ध्यान किया। समय तो लगा किंतु इतना अच्छा ध्यान हुआ कि शायद मेरे लिए वह

अपूर्व था। इसे कोई भी करके देख सकता है। चालीस लोगस्स का ध्यान और प्रत्येक पद श्वास के साथ। समय चाहे आधा घंटा लग जाये पर इतना निश्चित है कि फिर कभी नींद की गोलियों की जरूरत नहीं पड़ेगी। ज्यादा नहीं तो श्वास में चार लोगस्स का ही ध्यान कर लें फिर देखें मस्तिष्क में कितनी शांति की अनुभूति होती है। पूरे दिन एक विचित्र सी मस्ती रहेगी।''[८] लोगस्स की पूरी विधि है शुद्ध उच्चारण, अर्थबोध, रंगों के साथ मानसिक चित्र का निर्माण और श्वास के साथ लोगस्स का जप—इस विधि से लोगस्स का पाठ किया जाये, तो वह शक्तिशाली बन जायेगा, बहुत प्रभावी सिद्ध होगा।[९] जब मैंने इसकी अर्थात्मा को जानने की कोशिश की तो इसकी बाह्य देह संरचना में प्रयुक्त शब्दों से भी अनेक रहस्य हस्तगत होते गये। मुझे भी लगा सचमुच लोगस्स से बड़ा कोई शांतिप्रदाता नहीं है।

किसी व्यक्ति को नींद नहीं आ रही है, नसें तन रही हैं, नसों में खिंचाव व तनाव है, उस समय ''णमो सिद्धाणं/सिद्धाणं'', ''णमो लोए सव्व साहूणं/णमो सव्व साहूणं'' अथवा लोगस्स का जप तनाव मुक्ति हेतु अत्यन्त प्रभावशाली माना गया है। इसका प्रमुख कारण है इसमें विवर्णित 'स' वर्ण। 'स' वर्ण शांति प्रदायक व जल बीज होने से साधना में परमोपयोगी है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने उत्तराध्ययन की निम्नोक्त गाथा को भी अत्यन्त शांतिदायक बताया है—

**चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महिड्ढिओ ।**
**संती संतिकरे लोए, पत्तो गइ मणुत्तरं ॥**[१०]

इस गाथा में भी 'स' वर्ण तीन बार अपने योजक शब्दों के साथ प्रयुक्त है। इस गाथा का लयबद्ध उच्चारण अल्फा तरंगों को निर्मित करता है। एक बार के उच्चारण में 'स' की तीन आवृत्ति १११ गुण शक्तिशाली होकर शांति प्रदान करने की क्षमता रखती है। इस शक्ति संवर्धन का प्रमुख कारण है—योजक शब्दों के साथ 'स' का नियोजन। जिस प्रकार भौतिक जगत् में कैल्शियम, कार्बन और ऑक्सीजन—इन तत्त्वों के एक निश्चित अनुपात में मिलने पर चॉक बनती है, जो लिखने के काम आती है। इन तत्त्वों की तरह ही उष्ण, शीत, मृदु, कर्कश आदि शब्दों के भौतिक संयोग से, उनके पुनरावर्त्तन से और साथ में भावना व एकाग्रता का योग होने से एक विशेष प्रकार की ऊर्जा का निर्माण होता है। जिसका संबंध आरोग्य, बोधि, समाधि, कर्म निर्जरा और आध्यात्मिक शक्तियों के विस्फोट से जुड़ा है।

यदि गहराई से अध्ययन किया जाये तो ज्ञात होता है कि जितने भी शांति प्रदाता मंत्र अथवा स्तोत्र निर्मित हैं, जैसे उवसग्गहर स्तोत्र, शांति नाथ स्तोत्र,

नमिऊण स्तोत्र, अ सि आ उ सा मंत्र, संति कुंथु अरहो.....पणासेह मंत्र रूप गाथा—इन सबमें 'स' वर्ण अपने योजक शब्दों के साथ कई बार प्रयुक्त हुआ है।

उपरोक्त सारे संदर्भों में मैं जब 'लोगस्स' का पर्यवेक्षण करती हूँ तो लोगस्स में 'स' वर्ण अपने योजक शब्दों के साथ तीस बार प्रयुक्त हुआ है। यह अल्फा तरंगों के निर्माण व शांति का बहुत बड़ा रहस्य है। मंत्र शास्त्र में 'स' बीज को कर्म विनाशक भी माना गया है और शक्तिशाली भी माना है।

## कर्ण अगोचर तरंगें

वैज्ञानिक ने एक यंत्र का अविष्कार किया है जिसे पिजो-इलेक्ट्रिक ओसीलेटर कहा जाता है। इस यंत्र में स्फटिक (विल्लोर-क्वार्टज) की एक प्लेट होती है। इस प्लेट का संबंध बिजली की ए.सी. धारा के साथ जोड़ा जाता है तो उसकी तरह कंपन करने लगती है। इस प्लेट के कंपन प्रति सैंकण्ड कई लाख से कम नहीं होते। इस कंपन के कारण चारों ओर वायु में शब्द की सूक्ष्म तरंगें उत्पन्न हो जाती हैं। ये ही तरंगें कर्ण अगोचर (अल्ट्रा सॉनिक साउंड) कहलाती हैं।

इन कर्ण अगोचर ध्वनि तरंगों को यंत्र के सहारे जब किसी दिशा में भेजा जाता है तो इन तरंगों के मार्ग में मनुष्य यदि अपना हाथ कर दें तो उसके हाथ में से रक्त की बूंदे टपकने लगती हैं। उसे ऐसी वेदना का अनुभव होने लगता है मानों कि उसके हाथ में सहस्र सुइयां चुभ रही हों। जर्मनी में इन यंत्रों का उपयोग कृषि कार्य के लिए किया जाता है, तब इनमें से निकलती हुई तरंगें सब कीड़ों को नष्ट कर देती हैं, ऐसा माना जाता है।[११]

इस वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में जब हम प्राचीनकाल की शब्द संबंधी धारणाओं को मूल्यांकित करते हैं तो यह आसानी से समझ में आ जाती है कि शब्द में प्रहारक शक्ति भी है, धारक शक्ति भी है, स्तंभन शक्ति भी है, मारक शक्ति भी है और रक्षक शक्ति भी है। शब्द शक्ति का चमत्कार आधुनिक मोबाईल, इन्टरनेट आदि आविष्कारों से स्वयं सिद्ध है। अतः मंत्र के उच्चारण से होने वाली असीम शक्ति पर विश्वास करने में कोई संदेह नहीं। शब्द की शक्ति, ध्वनि और पराध्वनि की शक्ति अचिन्त्य होती है।

## मानसिक चित्र का निर्माण

जैन दर्शन में मन के दो प्रकार बतलाएं गये हैं—द्रव्य मन और भाव मन। भाव मन चित्त/चेतना है। द्रव्य मन मनोवर्गणा का पुद्गल है। मन का कार्य है विचार करना। वैज्ञानिक दृष्टि से भी विचार भौतिक है, पदार्थ रूप है। डॉक्टर

एडिग्टन कहते हैं—विचार भी पदार्थ है (Thoughts are things)। अमेरिका का एक व्यक्ति है—टेडसिरियो। वह ध्यान में इतना एकाग्र हो जाता है कि जिस चीज का वह ध्यान करता है उस वस्तु का स्पष्ट चित्र उसके मस्तिष्क में उभर जाता है। ध्यानावस्था में सूक्ष्म संवेदी केमरा से उसके हज़ारों फोटो लिये जा चुके हैं। हर फोटों में उसकी कल्पना सच में बदली है। एक बार वह ताजमहल के ध्यान में एकाग्र हुआ किंतु फोटो हिल्टन होटल का आया। समीक्षा के दौरान उसने स्वीकार किया कि उस समय मैं चूक गया था, मेरी एकाग्रता भंग हो गई थी। मन हिल्टन होटल में घूम रहा था।[१२] इस प्रकार वैज्ञानिक जगत् में भी यह सिद्ध हो चुका है कि प्रत्येक स्वर, प्रत्येक कंपन तथा प्रत्येक नाद एक विशेष आकार को जन्म देता है।

उपरोक्त वैज्ञानिक संदर्भ में यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारी भावना की तरंगें एकाग्र होकर हमारे मस्तिष्क में भी वैसी तस्वीर को निर्मित करती हैं। इसी प्रकार लोगस्स के निमित्त से हमारे मस्तिष्क में अर्हत् स्वरूप पर एकाग्र होने से अर्हत् का मानसिक चित्र बनता है। यदि अर्हत् के रंगों के अनुसार हम मन को एकाग्र करते हैं तो अभ्यास सधने के बाद जिस तीर्थंकर का नाम आता है तत्काल उस तीर्थंकर से संबंधित रंग का चित्र अपने आप मस्तिष्क में बन जाता है। आचार्य हेमचन्द्र ने अभिधान चिंतामणि में चौबीस तीर्थंकरों के रंगों का उल्लेख किया है—

**रक्तौ च पद्मप्रभवासुपूज्यौ, शुक्लौ च चन्द्रप्रभपुष्पदंतौ ।**
**कृष्णौ पुनर्नेमि मुनि विनीलौ, श्री मल्लिपार्श्वो कनकच्विषौन्ये ॥**[१३]

पद्मप्रभ और वासुपूज्य—इन दो तीर्थंकरों का रंग लाल, चन्द्रप्रभु और पुष्पदंत—इन दो तीर्थंकरों का रंग सफेद, नेमि और सुव्रत—इनका रंग काला, मल्लि और पार्श्व का रंग नीला है। शेष तीर्थंकरों का रंग स्वर्णमय है। इस प्रकार सभी तीर्थंकरों के अलग-अलग रंग हैं। इसका भी पूरा विज्ञान है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि जैसा रंग, जैसा भाव, जैसा व्यक्तित्व अथवा पदार्थ का हम चिंतन करते हैं वैसी तस्वीर हमारे मस्तिष्क में निर्मित होती है और वैसा व्यक्तित्व भी निर्मित होने लगता है।

## लोगस्स में सकार की तीस गुणा शक्ति

लोगस्स देह संरचना एक रहस्य, कर्ण अगोचर तरंगें, मानसिक चित्र का निर्माण—इन सारे संदर्भों के निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि एक बार लोगस्स के उच्चारण से 'स' की आवृत्ति १११११११११११११११११११११११११११११ गुणा शक्तिशाली होकर योजक वर्णों के साथ शांति और शक्ति प्रदान करती है।

तीस बार 'स' का उच्चारण निम्नोक्त तीस आध्यात्मिक शक्तियों के साथ अनंत शक्तियों के जागरण की अपूर्व एवं अद्भूत क्षमता रखता है, जो निम्न हैं–

| | |
|---|---|
| १. स्वत्त्व की पहचान | १६. सत्य |
| २. सम्यक्त्व की स्थिरता | १७. सद्चिन्तन |
| ३. स्थितप्रज्ञता | १८. सद्भावना |
| ४. सद्ज्ञान | १९. सामंजस्य |
| ५. सदाचरण | २०. सौहार्द |
| ६. सद्गति | २१. सुरक्षा |
| ७. स्वतंत्रता | २२. सफलता |
| ८. सृजनशक्ति | २३. सक्रियता |
| ९. सकारात्मकता | २४. सांस्कृतिक मूल्य |
| १०. स्वास्थ्य | २५. सिद्धान्त |
| ११. सौन्दर्य | २६. सत्सकंल्प |
| १२. सुव्रत | २७. स्मरणशक्ति |
| १३. सरलता | २८. संयम |
| १४. स्खलना संशोधन | २९. संतुलन |
| १५. संबोध | ३०. सिद्धि |

'स' का घर्षण पाचन तंत्र को सुदृढ़ और स्वस्थ बनाता है। पाचन के साथ नींद, शांति, स्वास्थ्य, सुन्दरता, सद्चिन्तन आदि का संबंध जुड़ा हुआ है। 'स' का चन्द्रबिंदु सहित एक हजार बार उच्चारण लीवर में ऐसा घर्षण करता है कि कुछ दिनों के अभ्यास से बढ़ा हुआ लीवर भी ठीक हो जाता है।

जब लोगस्स में समागत एक 'स' वर्ण भी शक्ति जागरण का महत्तम और शक्तिशाली प्रयोग है तो हम अनुमान ही नहीं लगा सकते हैं जिसका प्रत्येक अक्षर मंत्राक्षर के रूप में गुंथित है, उस लोगस्स महामंत्र व महासूत्र की असीम व अनंत शक्ति का।

इस प्रकार कर्म निर्जरा व रोगोपशमन का दोहरा लाभ होता है। यदि दर्द के स्थान पर मन को ध्यान के रूप में केन्द्रित कर नमस्कार महामंत्र, लोगस्स, णमो लोए सव्व साहूणं अथवा आरोग्ग बोहि लाभं समाहिवर मुत्तमं दितुं का जप किया जाता है तो इनके वर्णाक्षरों की विद्युत चुम्बकीय तरंगें पहले तो उस स्थान को संज्ञाशून्य करती हैं, फिर दर्द खींच लेती हैं और वह स्थान दर्द शून्य हो जाता है। इसको ऐसे समझे जैसे दर्द मिटाने के लिए डॉक्टर इलेक्ट्रिक शॉक लगाता है और चुम्बकीय प्रणाली का चिकित्सक चुम्बक के उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों का प्रयोग करता है।

लोगस्स के प्रत्येक पद्य में 'स' वर्ण कई बार प्रयुक्त है। इसके आराध्य अर्हत् व सिद्ध हैं। जिनमें सिद्ध में 'स' प्रयुक्त है ही और वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौबीस अर्हतों में बारह अर्हतों के नामों में स वर्ण प्रयुक्त हैं—ऋषभ, संभव, सुमति, सुपार्श्व, सुविधि, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, शांति, मुनिसुव्रत, अरिष्टनेमि, पार्श्व। जब हम प्राकृत भाषा बोलते हैं तब सर्वत्र दन्त्य 'स' का ही प्रयोग होता है। लोगस्स के तीन नामों में से दो नामों में 'स' वर्ण है—चतुर्विंशति स्तव और लोगस्स।

इसी संदर्भ में यदि 'रकार' का अवलोकन करें तो 'रकार' अग्नि के समान दीप्त तथा सब अक्षरों के सिर पर स्थित है। जिस देवता के नाम के मध्य में यह स्थित हो जाता है, तत्त्वदर्शियों का यह कथन है कि यह पूजनीय रकार तद्नुरूप पुण्य, पवित्र, मांगलिक सिद्ध होता है। इसलिए राम, हरि, हर, पीर, पार्श्व, वर्धमान आदि शक्ति संपन्न नामों में 'र' का अस्तित्त्व विद्यमान है।

लोगस्स में सोलह बार अपने योजक शब्दों के साथ 'र' का प्रयोग शक्ति जागरण का अनूठा प्रयोग कहा जा सकता है। लोगस्स में जिन अर्हतों की स्तुति की गई है उनके भी सात नामों में रकार स्थित है।

## लोगस्स—दो घटना प्रसंग[१४]

घटना प्रसंग लगभग ५०-६० वर्षों पूर्व का है। टोहाना में मुनि छगनलालजी का चातुर्मास था। उन्होंने व्याख्यान में एक अद्भूत घटना सुनाई। इंदौर निवासी लाला हुकमचंद ने अपने पुत्र का विवाह किया परन्तु जब वधु उसके घर आई, तब से रात्रि के समय उसकी छत पर एक उल्लू बेठने लगा। तीन दिन उसके घर वधु रही, तीनों ही दिन उल्लू घर के ऊपर मुँडेर पर बैठकर बोलता रहा। वधु को भी चिंता सताने लगी। तीन दिन पश्चात जब वह अपने पीहर गई, सारा घटना प्रसंग अपनी माँ को कह सुनाया। माँ उसे एक जैन यति के पास ले गई। यतिजी ने उसे उपाय सुझाते हुए कहा—ससुराल जाने पर तुम प्रतिदिन 'लोगस्स' की एक माला फेरना। प्रत्येक अष्टमी, चतुर्दशी व पूर्णिमा को आयम्बिल तप करना। पूर्णिमा की रात्रि को वह उल्लू तुम्हारे सुसराल के मकान पर बैठेगा। तुम छत पर जाकर उसके मस्तक पर सिंदूर का तिलक कर देना। वह लोगस्स के प्रभाव के कारण वहीं बंधा हुआ बैठा रहेगा और तिलक करवा लेगा। जब तक वह न उड़े तुम लोगस्स का पाठ करते रहना। इसके पश्चात तुम्हारे सुसराल का घर धन धान्य से भरपूर हो जायेगा। उसने वैसा ही किया। साहस करके पूर्णिमा को रात्रि में उसने उल्लू के तिलक कर ही दिया। अगले दिन से ही चमत्कार होना प्रारंभ हो गया। अगले दिन लाला हुकमचन्द ने अपने पुराने मकान को गिराना शुरू किया। सायंकाल के समय उन्हें दीवार के नीचे एक स्वर्ण मुद्राओं से भरा हुआ घड़ा प्राप्त हुआ। उस धन से उन्होंने अपने व्यापार को आगे बढ़ाया और इंदौर का नामी सेठ बन गया।

नरवाना की एक बहन अपने पीहर टोहाना आई हुई थी। उसने भी प्रवचन के दौरान उपरोक्त घटना प्रसंग को सुना और साथ में यह भी सुना कि घर पर उल्लू बोल रहा हो, बिल्लियां रो रही हों अथवा कुत्ते रो रहे हों तब लोगस्स का पाठ करने से समृद्धि की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त सूर्य ग्रहण, चन्द्र ग्रहण को आयम्बिल की तपस्या करके लोगस्स की माला फेरने से धन-धान्य, सुख-समृद्धि का लाभ होता है। संयोग वश एक दिन उस बहन को कुत्तों के रोने की आवाज सुनाई दी। उसने तुरंत लोगस्स का पाठ शुरू कर दिया। जब तक कुत्ते रोते रहें, वह लोगस्स बोलती रही। उस बहन का ऐसा मानना है कि उसी दिन से हमारी निर्धनता समाप्त हो गई।

उपरोक्त घटना-प्रसंग इस तथ्य को दर्शाते हैं कि लोगस्स में ऐसे अपूर्व मंत्राक्षर हैं जिनमें समस्त भय, विघ्न-बाधा, रोग, शोक, दुःख, दारिद्रय और अन्तस् के विकारों को नष्ट कर सर्व मनोरथ सिद्ध करने की अद्भूत क्षमता विद्यमान है। ग्रहों की शांति, पारिवारिक कलह निवारण, शारीरिक, मानसिक व भावनात्मक स्वास्थ्य के साथ आध्यात्मिक शक्तियों का विकास इस रहस्य को उजागर करता है कि लोगस्स शांति, शक्ति, सम्पत्ति तथा बुद्धि के रूप में विश्व में पूजित शक्तियों का आधार है। इसकी अर्हता अचिन्त्य है। निस्संदेह यह अलौकिक सिद्धियों का भंडार है। इसके अक्षर-अक्षर में मंत्रत्व ध्वनित होता है।

## निष्कर्ष

मंत्र बीजाक्षर मय होते हैं। इनमें शक्तितत्त्व भरा रहता है। लोगस्स का संबंध मंत्र-साधना, ध्यान-साधना तथा अर्हत् व सिद्ध भगवन्तों की आराधना से है। अतः इनमें बीज तत्त्वों का संयोजन एक विशिष्ट आधार पूर्वक किया गया प्रतीत होता है। इसके सब अक्षर यौगिक हैं। यौगिक अक्षर अणु और परमाणु से भी अधिक सूक्ष्म होते हैं। इसके प्रत्येक अक्षर से निकलते हुए प्रकाश को आत्मव्यापी बना दें, रोम-रोम में बसा लें। इससे अज्ञान रूपी अंधकार अपने आप आत्मा से पलायन कर देगा। वास्तव में जड़ता मिटने से ही चैतन्यता के प्रवाह की गति बढ़ती है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है उपरोक्त देह संरचना के रहस्यों के साथ-साथ लोगस्स के प्रत्येक अक्षर में कोटि-कोटि महान आत्माओं की प्रतिध्वनियों, शुभाकांक्षाएं व मंगल भावनाएं झंकृत हैं। पाप पुञ्ज पलायिनी, अशुभ कर्म नाशिनी एवं वेदना निग्रह कारिणी शक्तियों का भंडार इसमें निहित है। ऐसे अपरिमित शक्ति वाले इस स्तव के उच्चारण से ही सूक्ष्म शरीर में छिपे अनेक शक्ति-केन्द्र जागृत होते हैं। इसका उच्चारण, जिह्वा, दंत, कंठ, तालु, औष्ठ, मूर्धा आदि स्थानों से होने के कारण एक विशेष प्रकार के स्पन्दन होते हैं जो विभिन्न प्रकार के शक्ति व

चेतना-केन्द्रों को जागृत करते हैं। इस प्रकार जो कार्य वृहद् तपस्या अथवा दीर्घकालिक साधना से बहुत समय में पूर्ण होता है वह इस महामंत्र की आराधना से स्वल्प समय में ही आसानी से पूर्ण हो सकता है। अपेक्षा है गुरु के उचित मार्गदर्शन की।

लोग रेडियम के बारे में जानने के लिए मेडम क्यूरी के पास जाते हैं। वे अणु स्वरूप समझने के लिए रदरफोर्ड के पास जाते हैं। जिस प्रकार प्रकृति विज्ञानों में एक सक्षम गुरु की आवश्यकता है उसी प्रकार अध्यात्म विज्ञान में आत्म साक्षात्कार की पद्धति सीखने के लिए गुरु का मार्ग-दर्शन नितान्त आवश्यक है।

## संदर्भ


१. वक्रोक्ति जीवित–२/१
२. काव्य प्रकाश–८/७४
३. काव्यालंकार, सूत्र वृत्ति, वामन–१३.१५ वृत्ति
४. काव्य प्रकाश–८.७०
५. वही–८.७५
६. साहित्य दर्पण–१०/५
७. वही–१०/५
८. जैन धर्म के साधना सूत्र–पृ./१४६
९. वही–पृ./१४७
१०. उत्तराध्ययन–१८/३८
११. तीर्थंकर दिसम्बर १९६० प्रो.जी.आर जैन के लेख से उधृत
१२. स्वागत करे उजालों का–पृ./३१
१३. अभिधान चिंतामणि
१४. साधना पद–पृ./५३, ५४

# ६. लोगस्स के संदर्भ में ध्वनि की वैज्ञानिकता

**भावना संपृक्त ध्वनि तरंगें आध्यात्मिक शक्ति और अत्यन्त तीव्र गति से लोगस्स पर केन्द्रित होकर प्रकंपन करने लगती हैं। उससे ऊर्जा का स्फोट होता है। परिणाम स्वरूप मिथ्यात्व के अंधकारमय कृष्णवर्णीय कर्म परमाणु छिन्न-भिन्न होकर निर्जरित हो जाते हैं तत्पश्चात् वे आत्म-प्रदेशों से पृथक हो जाते हैं और यही वह क्षण होता है जब सम्यक्त्व के महाप्रकाश से आत्मा ज्योतिर्मान हो उठता है।**

लोगस्स के संदर्भ में ध्वनि की वैज्ञानिकता को समझने से पूर्व शब्द क्या है? शब्द कितने प्रकार का होता है? शब्द की उत्पत्ति के स्थान कौन-कौन से हैं? शब्द की उपयोगिता क्या है? शब्द के विषय में जैन दर्शन का क्या मन्तव्य है? आदि तथ्यों को समझना अत्यन्त अपेक्षित है। इन तथ्यों को समझने के बाद शब्द ध्वनि की वैज्ञानिकता तथा उसका मंत्राक्षर के रूप में शक्तिशाली प्रकंपनों के निर्माण की प्रक्रिया का रूप स्वतः सिद्ध हो जाता है।

एक स्कन्ध के साथ दूसरे स्कन्ध के टकराने से जो ध्वनि होती है, वह शब्द है। पुद्गल से उत्पन्न होने के कारण ध्वनि पौद्गलिक है। जैन दर्शनानुसार शब्द पुद्गल द्रव्य की एक पर्याय है। ध्वनि विज्ञान के संदर्भ में पुद्गल का शब्द अधिक महत्त्वपूर्ण है। शब्द में ध्वनि, भाषा आदि भी गर्भित है।

## शब्द के प्रकार

आगमों में तीन प्रकार के शब्द (ध्वनि) विवर्णित हैं[1]–

१. जीव शब्द
२. अजीव शब्द
३. मिश्र शब्द

१. **जीव शब्द**–हृदय, कंठ, सिर, जिह्वामूल, दांत, नासिका, होठ और तालू–ये आठ स्थान हैं जहां से शब्द की उत्पत्ति होती है। इन आठ स्थानों का सीधा संबंध

जीव से है, इसलिए इनसे होने वाला शब्द जीव शब्द कहलाता है।

२. **अजीब शब्द**—पुद्गलों के संघर्षण से जो ध्वनि होती है, वह अजीव शब्द है। झालर, ताल, कांस्य—इनसे होने वाला शब्द अजीव शब्द है। खटपट करना, चुटकी बजाना, पांव पटकना आदि क्रियाओं से जो शब्द होता है, वह भी अजीव शब्द है।

३. **मिश्र शब्द**—उपर्युक्त आठ स्थानों और वाद्यों का योग होने पर जो शब्द निकलता है, वह मिश्र शब्द है।

## शब्द की उपयोगिता

शब्द सार्थक भी होते हैं और निरर्थक भी। निरर्थक शब्दों का कोई उपयोग नहीं होता पर सार्थक शब्द फिर चाहे वे शब्दात्मक हों या ध्वन्यात्मक, प्राणी जगत् की भावनाओं को व्यक्त करते हैं। समूह चेतना में एक दूसरे को समझने के लिए शब्द ही एक सशक्त माध्यम बनता है।

## शब्द के संदर्भ में जैन दर्शन का मन्तव्य

शब्द इंद्रियों द्वारा ग्रहित होते हैं, इसलिए वे पुद्गल हैं। पुद्गलों के मिलने और बिछुड़ने से शब्द पैदा होता है। दो कपाट मिलते हैं और खुलते हैं तो शब्द होता है। वस्त्र को बनाते समय और फाड़ते समय भी शब्द होता है। किसी पात्र को जल या दूध से भरते समय और खाली करते समय भी शब्द होता है। वस्त्र पहनते समय और उतारते समय भी शब्द होता है। इन सब उदाहरणों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि शब्द की उत्पत्ति में पुद्गलों का भेद और संघात प्रमुख कारण है।[२]

ध्वनित शब्द में पौद्गलिकता का विद्यमान होना जरूरी है। यह जैन दर्शन की महत्त्वपूर्ण देन है जो विज्ञान सम्मत है। जब से रेडियों ने ध्वनि तरंगों को पकड़ना शुरू कर दिया जैन दर्शन की शब्दावली में भाषा वर्गणा के पुद्गलों को पकड़ना शुरू कर दिया, तब से ध्वनि शब्द की पौद्गलिकता असंदिग्ध रूप से प्रमाणित हो गई।

जैन दर्शन का एक अभिमत यह भी है कि जब कोई व्यक्ति तीव्र प्रयत्न से बोलता है तब उसकी भाषा वर्गणा के पुद्गल सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो जाते हैं। इन शब्दों की ध्वनि यंत्र के सहारे हज़ारों मील की दूरी पर पकड़ ली जाती है। कुछ वैज्ञानिक तो यह दावा करते हैं कि हजारों वर्ष पूर्व बोले गये शब्द भी आज इस वायुमंडल में उपस्थित हैं। ऐसी स्थिति में जैन दर्शन में ध्वनि शब्द के संदर्भ में जो

विश्लेषण प्राप्त होता है उसे युक्तियुक्त और विज्ञान सम्मत कहने में कोई कठिनाई नहीं है।

## ध्वनि की वैज्ञानिकता

जीव, अजीव और मिश्र—इन तीनों प्रकार की ध्वनियों पर विज्ञान का अनुसंधान कार्य चल रहा है। पुद्गल की पर्याय होने से ध्वनि में स्पर्श, रस, गंध और वर्ण—ये चारों होते हैं तथा तरंगें भी होती हैं। इन सबकी सत्ता विज्ञान भी स्वीकार कर चुका है। रेडियों, टेलीफोन आदि दूर संचार साधन ध्वनि तरंगों के कारण ही संभव हो सके हैं। मौन ध्वनि से भी अत्यधिक शक्तिशाली स्फोट होता है और भावनायुक्त ध्वनि में चुंबकीय लहरें उत्पन्न होती हैं जो ध्वनि तरंगों को अधिक शक्ति-संपन्न और भेदक शक्ति युक्त बनाती हैं। इन तीव्रतम प्रकंपनों से असंभव सी लगने वाली घटनाएं भी घटित हो जाती हैं। सामान्यतया ध्वनि प्रकंपन ३२ से ६६ तक प्रति सैकण्ड होते हैं। लेकिन जब ये प्रकंपन प्रति सैकण्ड खरबों की संख्या तक पहुँच जाते हैं तब उनसे प्रकाश उत्सर्जित होने लगता है और ये एक ही बिंदु पर स्थिर होकर घूर्णन orbicular whirling करें तो तीव्रतम प्रकाश फैल जाता है।[३]

सन् १९९५ में सौरमंडल में एक घटना घटित हुई। उसका संक्षिप्त परिचय एक लेख के रूप में प्रकाशित हुआ जिसका सार यह है कि ब्लैक हॉल (Nabulai नेबुली—अंधकार से भरे पुद्गल) पिण्ड में नाभिकीय संयोजन (Neuclear fusion न्यूक्लियर फ्यूजन होने लगे (जो किसी केन्द्रिय बिंदु—स्कन्ध के अति तीव्र से घूर्णन करने के कारण होता है) तो वह अपनी ऊर्जा से चमकने लगता है।

इसे वैज्ञानिकों ने नये तारे का जन्म कहा है।[४]

इसी तथ्य को पन्नवणा[५] में बहुत अच्छे ढंग से समझाया गया है। जीव पहले भाषा द्रव्यों को ग्रहण करता है। तत्पश्चात वह उस भाषा को बोलता है अर्थात् ग्रहीत भाषा द्रव्यों का त्याग करता है। जीव काययोग से भाषा योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है तथा वाचिक योग से उन्हें निकालता है। जिन-जिन द्रव्यों को भाषा के रूप में ग्रहण करता है, उन्हें सानन्तर (बीच में कुछ का व्यवधान डालकर अथवा रूककर) भी ग्रहण करता है। अगर जीवभाषा द्रव्यों को सानन्तर ग्रहण करें तो जघन्य एक समय और उत्कृष्ट असंख्यात समयों का अन्तर करके ग्रहण करता है। यदि कोई लगातार बोलता रहे तो उसकी अपेक्षा से जघन्य एक समय का अन्तर समझना चाहिए। जैसे कोई वक्ता प्रथम समय में भाषा के जिन पुद्गलों को ग्रहण करता है, दूसरे समय में उनको निकालता है तथा दूसरे समय में ग्रहीत

पुद्गलों को तीसरे समय में निकालता है। इस प्रकार प्रथम समय में सिर्फ ग्रहण होता है और बीच के समयों में ग्रहण और निसर्ग दोनों होते हैं। अंतिम समय में सिर्फ निसर्ग होता है, जैसे–

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ० | नि | नि | नि | नि | नि | नि | नि |
| ग्र | ग्र | ग्र | ग्र | ग्र | ग्र | ग्र | ० |

इनमें जो अन्तर है उसे ही कंपन रूप में हम अनुभूत करते हैं। रेडियो आदि इसी पद्धति की विज्ञान आविष्कृत और यांत्रिक योजना है।

निस्संदेह पुद्गल में अनंत शक्ति है। एक परमाणु यदि तीव्र गति से प्रकंपन करे तो काल के सबसे छोटे अंश अर्थात् एक समय में लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच सकता है। यहाँ बैठे-बैठे हम अमेरिका, रूस आदि विदेशों के समाचार सुन लेते हैं इसका कारण ध्वनि (शब्द) के पुद्गलों की गति है। यंत्र तो मात्र ध्वनि के पुद्गलों को व्यवस्थित रूप से पकड़ने का काम करते हैं।

## ध्वनि की वैज्ञानिकता लोगस्स के संदर्भ में

चुंबक ऐसा प्राकृतिक पत्थर या पदार्थ है जिसे क्षैतिक समतल में निर्बाध घूर्णन की स्वतंत्रता देकर लटका दिया जाये तो वह स्थिरता की स्थिति में आने पर अपने दोनों सिरों से निश्चित दिशाओं (उत्तर-दक्षिण) को सूचित करता है। उत्तर दिशामुख सिरा उत्तरी ध्रुव और दक्षिण दिशामुख सिरा दक्षिणी ध्रुव कहलाता है। साहित्य में चुंबक शक्ति का आकर्षण शक्ति के प्रतीक के रूप में प्रयोग होता है। चुंबक के आस-पास चतुर्दिक उसकी बाल-रेखाओं का जाल-सा बिछ जाता है। इस क्षेत्र को चुंबक का प्रभाव क्षेत्र या चुंबकीय क्षेत्र कहते हैं। जप, स्तवन आदि के द्वारा भी हमारी प्राण ऊर्जा जहाँ अधिक सक्रिय होती है, जिस चेतना-केन्द्र को प्रभावित करती है, वह स्थान विद्युत चुंबकीय क्षेत्र बन जाता है। अर्थात् वहाँ चेतना के प्रदेश अधिक सक्रिय हो जाते हैं। वहाँ से आत्मा के प्रकाश की किरणें अनावृत्त होने लगती हैं।

उपरोक्त वैज्ञानिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों को हम लोगस्स के जप, ध्यान, कायोत्सर्ग अथवा स्तुति के संदर्भ में समझें। जब हम एक आसन में स्थिर होकर लोगस्स का संपूर्ण पाठ, एक पद्य, एक चरण अथवा एक शब्द मौन अवस्था में तन्मय होकर उच्चरित करते हैं अथवा तेज आवाज़ में लयबद्ध उच्चरित करते हैं और उनमें भावना संयोजित कर तन्मय हो जाते हैं तब तीव्र गति से ध्वनि तरंगें उठने लगती हैं। भावना संपृक्त ध्वनि तरंगें, आध्यात्मिक शक्ति और अत्यन्त तीव्र गति से लोगस्स पर केन्द्रित होकर घूर्णन (प्रकंपन) करने लगती हैं। उससे ऊर्जा

का स्फोट होता है परिणाम स्वरूप मिथ्यात्व में अंधकारमय कृष्णवर्णीय कर्म परमाणु छिन्न-भिन्न होकर निर्जरित होते हैं, तत्पश्चात वे आत्म-प्रदेशों से पृथक हो जाते हैं और यही वह क्षण होता है जब सम्यक्त्व के महाप्रकाश से आत्मा ज्योतिर्मान हो उठता है।

इसी तथ्य को वैज्ञानिक उद्धरण से आसानी पूर्वक स्वीकार किया जा सकता है। जैसे पृथ्वी के तीन-चौथाई भाग को घेरे रहने वाला जल दो तत्त्वों—हाइड्रोजन और ऑक्सीजन का यौगिक है। यौगिकों में तत्त्व सदैव एक निश्चित अनुपात में मिलते हैं। यौगिकों में अपने अलग ही गुण धर्म होते हैं। जैसा कि हम सब जानते हैं, जल के लाभ हैं। इन्हीं लाभों में से एक लाभ यह है कि वह आग को बुझा सकता है। लेकिन जल को बनाने वाले दो तत्त्वों में से हाइड्रोजन एक ऐसी गैस है जो ज्वलनशील है और साथ वाली ऑक्सीजन गैस आग को उत्तेजित करती है। परन्तु जब दोनों गैसों का एक निश्चित अनुपात में मिश्रण होता है तो पानी का रूप बन जाती हैं और आग को भड़काने के बजाय बुझाने का काम करती हैं।

जल का एक अणु हाइड्रोजन के दो परमाणुओं और ऑक्सीजन के एक परमाणु से मिलकर बना होता है। एक अणु कितना छोटा होता है, उसकी कुछ कुछ कल्पना भी की जा सकती है। जैसे कि वर्षा की एक बूंद में अणुओं की लगभग उतनी ही संख्या होती है जितनी की भूमध्य सागर में जल की बूंदों की संख्या।[६]

अतः स्पष्ट है कि प्रभावशाली शब्द ध्वनि तरंगों के स्फोट एवं विशुद्ध भावों की एकाग्रता से जो प्रकाश विकीर्ण होता है, जो अनिर्वचनीय आनंदानुभूति होती है, वह शब्दों में नहीं बांधी जा सकती केवल अनुभव गम्य ही होती है। ऐसा आनंद जिस आत्मा को एक क्षण भी प्राप्त हो गया तो समझ लेना चाहिए उसने मोक्ष महल की सीढ़ियों पर कदम रख दिया है। उसका मुक्ति रूपी महल का वज्र कपाट खुल गया है।

## लोगस्स एक दिव्य साधना

लोगस्स एक दिव्य साधना है। विशिष्ट एकाग्रता और साधना के उत्कर्ष की दृष्टि से इसके पूरे पाठ की तथा इसमें से निस्सृत कई अन्य मंत्रों की अनेक जप विधियां, ध्यान विधियां, अध्यात्म विधियां उपलब्ध हैं जो अपने भीतर छिपे अनेकों रहस्यों को आवृत्त करने की अद्‌भूत क्षमता रखती हैं। चैतन्य जागरण की दृष्टि से लोगस्स को एक दिव्य साधना के रूप में अनुभूत किया जा सकता है। एक प्रयोग विधि जिसको निम्न प्रकार से चैतन्य-केन्द्रों पर करने से चैतन्य-केन्द्र जागृत होने लगते हैं।

प्रयोग विधि[9]

प्रथम आरोह क्रम
द्वितीय अवरोह क्रम
तृतीय आवर्त्त क्रम

## प्रथम आरोह क्रम

शरीर को स्थिर, शिथिल और तनाव मुक्त करें। मेरुदण्ड सीधा रहे। सुखासन, वज्रासन अथवा पद्मासन—जिस आसन में आसानी से बैठ सकते हैं उस एक आसन का चुनाव करें। ब्रह्ममुद्रा या ज्ञानमुद्रा लगाएं। आँखें कोमलता से बंद। दो-तीन दीर्घ श्वास के साथ प्रयोग को प्रारंभ करें।

प्रथम आरोह क्रम में नीचे से एक-एक चैतन्य केन्द्र पर लोगस्स के एक-एक पद्य का स्तवन करें। सबसे पहले चित्त को शक्ति-केन्द्र (मूलाधार चक्र) पर ले जाएं। लोगस्स का प्रथम पद्य-लोगस्स से केवली तक बोलें, कुछ क्षण रूकें, वहाँ पर इस पद्य का अनुचिंतन करें। इस विधि से दूसरा पद्य स्वास्थ्य केन्द्र (स्वाधिष्ठान-चक्र) पर, तीसरा पद्य तैजस-केन्द्र (मणिपूर-चक्र) पर, चौथा पद्य आनंद-केन्द्र (अनाहत-चक्र) पर, पांचवां पद्य विशुद्धि केन्द्र (विशुद्धि चक्र) पर, छठा पद्य दर्शन-केन्द्र (आज्ञा-चक्र) पर, सातवां पद्य ज्ञान-केन्द्र (सहस्रार-चक्र) पर बोलें।

## दूसरा अवरोह क्रम

दूसरे अवरोह क्रम में सातवां पद्य पुनः ज्ञान-केन्द्र पर, छठा दर्शन-केन्द्र पर, पांचवाँ विशुद्धि-केन्द्र पर, चौथा आनंद केन्द्र पर, तीसरा तैजस-केन्द्र पर, दूसरा स्वास्थ्य-केन्द्र पर और पहला शक्ति-केन्द्र पर प्रथम आरोह क्रम की तरह बोलें, रूकें और अनुचिंतन करें।

## तीसरा आवर्त्त क्रम

तीसरे आवर्त्त क्रम में साढ़े तीन आवर्त्त होंगे। आवर्त्त निम्न प्रकार से रहेगा—

प्रथम आवर्त्त में दूसरा पद्य जिसमें प्रथम सात तीर्थंकरों के नाम बोलते सभय एक-एक केन्द्र पर एक-एक तीर्थंकर का नाम स्मरण करें, जैसे—

| | |
|---|---|
| उसभ | — शक्ति-केन्द्र पर |
| मजियं च वंदे | — स्वास्थ्य-केन्द्र पर |
| संभव | — तैजस-केन्द्र पर |
| मभिनंदणं च वंदे | — आनंद-केन्द्र पर |
| सुमइं च | — विशुद्धि-केन्द्र पर |
| पउमप्पहं | — दर्शन-केन्द्र पर |
| सुपासं | — ज्ञान-केन्द्र पर बोलें। |

उसके बाद 'जिणं' कहते हुए चित्त को ज्ञान-केन्द्र से शक्ति-केन्द्र पर लाएं फिर दूसरा आवर्त्त प्रारंभ करें।

च चंदपप्हं वंदे — शक्ति-केन्द्र पर
सुविहिं च पुप्फदंतं— स्वास्थ्य-केन्द्र पर
सीअल — तैजस-केन्द्र पर
सिज्जंस — आनंद-केन्द्र पर
वासुपूज्जं च — विशुद्धि-केन्द्र पर
विमल — दर्शन-केन्द्र पर
मंणंत च — ज्ञान-केन्द्र पर

उसके बाद 'जिणं' कहते हुए चित्त को पुनः ज्ञान-केन्द्र से शक्ति-केन्द्र पर लाएं। इस प्रकार दो आवर्त्त पूरे हुए। अब तीसरा आवर्त्त प्रारंभ करें।

धम्मं — शक्ति-केन्द्र पर
संतिं च वंदामि — स्वास्थ्य-केन्द्र पर
कुंथु — तैजस-केन्द्र पर
अरं च — आनंद-केन्द्र पर
मल्लिं — विशुद्धि-केन्द्र पर
वंदे मुणिसुव्वयं — दर्शन-केन्द्र पर
नमि — ज्ञान-केन्द्र पर

उसके बाद 'जिणं' कहते हुए पुनः चित्त को ज्ञान-केन्द्र से शक्ति-केन्द्र पर लाएं इस प्रकार तीन आवर्त्त पूरे हुए। फिर

वंदामि रिट्ठनेमिं — शक्ति-केन्द्र पर
पासं तह — स्वास्थ्य-केन्द्र पर
वद्धमाणं च — तैजस्-केन्द्र पर

दो-तीन दीर्घ श्वास के साथ प्रयोग संपन्न करें।

**परिणाम–**

१. आनंद की अनुभूति
२. चैतन्य-केन्द्रों का जागरण
३. श्रद्धा की दृढ़ता
४. ज्ञान-चेतना का जागरण
५. भेद विज्ञान (आत्म व शरीर की भिन्नता व बोध) का अनुभव।

## निष्कर्ष

जिस प्रकार सूर्य की किरणों को आत्मसात् करने वाला दर्पण तेजोमय बन जाता है। उसी प्रकार जो ध्यान, स्मरण के माध्यम से परमात्मा की परम ज्योति आत्मा में प्रज्जवलित करता है; वह भी लोकोत्तर तेज निधान बन जाता है। जिस प्रकार दर्पण को चमकाने के लिए सूर्य की किरणें साधन बनती हैं उसी प्रकार आत्मा रूपी दर्पण को चमकाने के लिए अर्थात् अन्तःकरण को ज्योतिर्मान बनाने के लिए वीतराग प्रभु का स्मरण, ध्यान, चिंतन एवं स्तवन भी एक साधन है। आचार्य मानतुंग ने आदिनाथ भगवान की स्तुति में कहा कि जो बुद्धिमान आपके इस स्तोत्र को भक्तिपूर्वक पढ़ता है उसके मदोन्मत्त हाथी, सिंह, अग्नि, सर्प, संग्राम, समुद्र, जलोदर रोग, कारागर—इन आठ कारणों से उत्पन्न होने वाला भय स्वयं ही भयभीत होकर शीघ्र ही नाश को प्राप्त हो जाता है।

संभव है आचार्य मानतुंग ने इन सांकेतिक शब्दों को प्रतीकात्मक शैली में प्रयुक्त किया हो। जैसे अहं रूपी हाथी, क्रोध रूपी अग्नि, मन रूपी सिंह, वासना रूपी सर्प, कषाय रूपी संग्राम, शरीर रूपी कारागार, संसार रूपी समुद्र, जलोदर रोग रूपी भव-भ्रमण रोग—इन सबका अपनयन होने से आत्मा अभय हो मोक्ष रूपी संपत्ति को प्राप्त होता है।

कर्म निर्जरा के साथ प्रासंगिक रूप से होने वाले ये सारे प्रसंग हैं। जब एक आदिनाथ भगवान की स्तुति का इतना महत्त्व है तो 'लोगस्स' में तो चौबीस तीर्थंकर, बीस विहरमान तथा अनंत सिद्धों की स्तुति है। इसकी अपार महिमा का वर्णन किन शब्दों में किया जा सकता है! निष्कर्ष के रूप में इतना ही कहा जा सकता है कि अर्हत् व सिद्धों के गुणगान करने से वे गुण जो हमारे भीतर भी विद्यमान है, धीरे-धीरे प्रकट होने लगते हैं और निष्पत्ति के रूप में एक दिन सिद्धत्त्व साकार हो उठता है।

## संदर्भ


१. पच्चीस बोल, १२वां बोल
२. जैन सिद्धान्त दीपिका—१/१५
३. शांति एवं शक्ति का स्रोत नमस्कार महामंत्र—पृ./१११
४. अन्तरिक्ष विज्ञान की ताजा उपलब्धि अमर उजाला आगरा के जून १९९५ से प्रकाशित लेख का सार
५. पन्नवणा
६. कर्मबंध और मुक्ति की प्रक्रिया—पृ./२६
७. लोगस्स सूत्र एक दिव्य साधना—पृ./५३ से ५७
८. भक्तामर—43

# १०. लोगस्स स्वरूप मीमांसा

**लोगस्स को एक महाशक्ति के रूप में महामंत्र की संज्ञा दी गई है। इस महामंत्र के सर्वाधिक शक्तिशाली और लोकोत्तर होने का प्रमुख कारण है–इस महामंत्र के अधिनायकों की परम विशुद्धि। क्योंकि सरागी की शक्ति कितनी ही अधिक क्यों न हो तो भी वीतराग की अचिन्त्य शक्तिमत्ता और प्रभावशीलता रूप सागर के सम्मुख वह एक बिंदु जितनी भी नहीं होती है।**

- आत्मा रूपी नेवले को डस रहे आधि, व्याधि और उपाधि रूपी भयंकर सर्प के विष को दूर करने वाली नोलबेल (वनस्पति) है लोगस्स।
- आत्मा में छिपे हुए कोषागार को प्रकट करने वाली दिव्य ज्योति है लोगस्स।
- आत्मा को परमात्मा बनाने का महामंत्र है लोगस्स।
- आत्म शोधक, पोषक और भव रोग विनाशक महारसायन है लोगस्स।
- आत्म विकास का मनोहर मंदिर है लोगस्स।
- आत्म कमल को विकसित करने वाला सहस्रांसु है लोगस्स।
- आध्यात्मिक गुण-रत्नों की प्राप्ति का अगाध रत्नाकर है लोगस्स।
- भव संताप निवारक संजीवनी है लोगस्स।
- भव्य जीवों को भव समुद्र में मुक्ति रूपी तट को दिखाने वाला दीपस्तम्भ है लोगस्स।
- साध्य को सिद्ध करने का सुन्दर साधन है लोगस्स।
- अनादि काल से स्व-पर के आत्म जीवन का केवल-ज्ञान के द्वारा साक्षात्कार करवाने वाला दर्पण है लोगस्स।
- मुक्ति नगर का प्रवेश द्वार है लोगस्स।
- आत्मा के पराक्रम को प्रस्फुटित करने की महान दिव्य शक्ति है लोगस्स।

चौबीस तीर्थंकरों का गुण संकीर्तन जैन साधना का एक आवश्यक अंग है। उन्हीं तीर्थंकरों की स्तुति का साधन होने से लोगस्स को एक महाशक्ति के रूप में महामंत्र की संज्ञा दी गई है। इस महामंत्र के सर्वाधिक शक्तिशाली और

लोकोत्तर होने का प्रमुख कारण है—इस महामंत्र के अधिनायकों की परम विशुद्धि। क्योंकि सरागी की शक्ति कितनी ही अधिक क्यों न हो, तो भी वीतराग की अचिन्त्य शक्तिमत्ता और प्रभावशीलता रूप सागर के सम्मुख वह एक बिंदु जितनी भी नहीं होती है। निस्संदेह कामकुंभ, कल्पतरु, कामधेनू और चिन्तामणि रत्न से भी अधिक मनवांछित फल देने वाली यह महाशक्ति है।

शक्ति विस्फोट की दृष्टि से अणुबम, हाइड्रोजन बम एवं परमाणु बम से भी यह महामंत्र अधिक शक्तिशाली है। क्योंकि यह आत्मा के असंख्य प्रदेशों में व्याप्त कर्मों की निर्जरा कर उन्हें सर्वथा विनिष्ट करने की अद्भूत क्षमता रखता है। भव्य आत्मा के भव रोग को सदा-सर्वदा के लिए दूर करने हेतु यह लोगस्स महासूत्र धन्वन्तरी वैद्य के समान है।

## आभ्यन्तर स्वरूप

लोगस्स के पाठ में तीर्थंकरों का स्वरूप सूत्र रूप में वर्णित किया गया है। जब इसके अर्थदेह अर्थात् आभ्यन्तर स्वरूप में अवगाहन करते हैं तो सभी अर्हतों के गर्भ प्रवेश से लेकर मोक्ष प्राप्ति तक के तीर्थंकर जीवन की कुछ घटनाओं का परम्परागत विवरण विस्तार से मिलता है, जो सभी अर्हतों के जीवन में समान रूप से बताया गया है।

सामान्यतः अर्हतों के स्वरूप को दो भागों में बांटा गया है—

1. बाह्य
2. आन्तरिक

अर्हतों के अतिशय और प्रातिहार्य को बाह्य गुण और अनंत-ज्ञान, अनंत-दर्शन, अनंत-चारित्र तथा अनंत-वीर्य को आभ्यन्तर/आन्तरिक गुण माना है।

अतिशय प्रमुख रूप से चार विभागों में विभक्त हैं[1]—

१. अपायापगमातिशय
२. वचनातिशय
३. पूजातिशय
४. ज्ञानातिशय

१. अपायापगमातिशय—स्वयं और पर के आश्रित (स्वाश्रयी और पराश्रयी) उपद्रव, रोगों, आतंकों का नाश हो जाना।

२. वचनातिशय—अर्हतों की वाणी ३५ गुणों से युक्त होती है, उसे देव, दावन, मनुष्य, पशु सभी अपनी-अपनी भाषा में समझ जाते हैं।

३. पूजातिशय—असुरों, देवों, पशुओं, मनुष्यों सभी के द्वारा पूजनीय होते हैं।

४. ज्ञानातिशय—अरिहंत सम्पूर्ण लोकालोक को हस्तामलक् की भांति जानते हैं।

नोट—वैसे सामान्य रूप से अर्हतों के चौंतीस अतिशय माने जाते है।

## पंच कल्याणक

यद्यपि तीर्थंकरों का समग्र जीवन ही एक मंगल महोत्सव होता है फिर भी जीवन की पांच घटनाओं को अत्यन्त कल्याणकारी मानकर उन्हें पंच कल्याणक कहा गया है।

पूर्व भव का आयुष्य पूरा होने पर वहां से च्यवन कर तीर्थंकरों के माता के गर्भ प्रवेश पर जो उत्सव मनाया जाता है, उसे च्यवन कल्याणक कहा जाता है।

जन्म के अवसर पर मनाया जाने वाला उत्सव जन्म कल्याणक कहलाता है।

जिस समय तीर्थंकर सन्यस्त होने हेतु संयम, धारण करते हैं उस समय मनाया जाने वाला उत्सव दीक्षा कल्याणक कहलाता है, इसे तप कल्याणक भी कहा जाता है।[२]

साधना/तपस्या काल में जब तीर्थंकरों को दिव्य-ज्ञान/केवलज्ञान की प्राप्ति होती है उस समय मनाये जाने वाले उत्सव को केवलज्ञान कल्याणक कहते हैं।

तीर्थंकरों के मोक्ष प्राप्ति के अवसर पर मनाया गया उत्सव निर्वाण कल्याणक कहलाता है। उपरोक्त कल्याणकों का विवरण बड़े ही चामत्कारिक ढंग से किया गया है।

इन सभी उत्सवों में इन्द्रों और देवों की भूमिका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

### १. च्यवन कल्याणक

तीर्थंकरों के जन्म से पन्द्रह माह पूर्व सौधर्मेन्द्र अपने अवधि ज्ञान से यह जान लेता है कि तीर्थंकर च्यवन करके अमुक नगर के राजा के यहाँ जन्म लेंगे। उसके बाद वह कुबेर को बुलाकर उस नगरी को नगरवधू की तरह सजाने का और रत्नवर्षा करने का आदेश देता है। इन्द्र की आज्ञा पाकर कुबेर नगरी को अलंकृत और रत्नवृष्टि करने में लग जाता है।[३]

उसके बाद इन्द्र देवियों को बुलाकर कहता है "तीर्थंकर स्वर्ग से छह माह बाद अमुक नगर के महाराज की रानी के गर्भ में पहुँचेंगे। जाओं, माता की सेवा में अप्रमत्त होकर लगो। ध्यान रहे, एक क्षण का भी प्रमाद न हो। तीर्थंकर जननी को तनिक भी कष्ट न हो पाये।"[४]

तथाऽस्तु कह देवियां माता की सेवा में पहुँच जाती हैं। छह माह बाद एक रात्रि के अंतिम प्रहर में तीर्थंकर की माता मंगल स्वप्न देखती है। यह तीर्थंकर के स्वर्ग से च्यवकर गर्भ प्रवेश का समय होता है। जैन शास्त्रों में उन स्वप्नों की संख्या चौदह[५] मानी गई हैं। जो विशेष महत्त्व एवं अर्थ को अपने में संजोये हुए होते हैं अथवा भावी के संकेत रूप होते हैं।

## चौदह स्वप्न

१. हाथी—हाथी महानता का प्रतीक है। जिसका संकेत बालक विश्व का उद्धारक होगा।

२. वृषभ—पराक्रम धर्म का प्रतीक है। जिसका संकेत बालक धर्मनिष्ठ तथा धर्मतीर्थ का प्रवर्त्तक होगा।

३. सिंह—पराक्रम और ऊर्जा का प्रतीक है जिसका संकेत बालक अतुल बलशाली और पराक्रमी होगा।

४. श्री अभिषेक—अभिषिक्त लक्ष्मी राज्याधिकार की प्रतीक है। जिसका संकेत देवगण सुमेरु पर्वत पर ले जाकर बालक का अभिषेक करेंगे।

५. दाम (माला)—पुष्पमालाएं बालक की सुगन्धित और कान्तिमान देह की सूचक है।

६. दिनकर—सूर्य बालक की तेजस्विता का प्रतीक है। जो इस बात का संकेत करता है कि वह अज्ञान अंधकार को दूर करेगा।

७. राशि—पूर्णचन्द्र इस बात का प्रतीक है कि बालक चन्द्रमा की तरह आनंद और शांतिदायक होगा।

८. ध्वजा—धर्मध्वजा को वह सम्पूर्ण लोक में फैलायेगा।

९. कुंभ—स्वर्ण कलश बालक को अनेक निधियों का स्वामी व्यक्त करते हैं।

१०. सागर—समुद्र उनके अनंत ज्ञान (केवलज्ञान) को व्यक्त करता है।

११. पद्मसर—कमल सरोवर बालक के अनेक शुभ लक्षणों का प्रतीक है।

१२. देव विमान/भवन—देव विमान यह व्यक्त करता है कि बालक स्वर्ग सें आया है, वह असंख्य देव देवियों की पूज्यता प्राप्त करेगा तथा लोकोत्तर गरिमा का धारक होगा।

नोट—रत्न प्रभा, शर्करा प्रभा और बालुका प्रभा नामक पृथ्वी से आने वाले तीर्थंकर की माता भवन तथा स्वर्ग से आगमन करने वाले तीर्थंकर की माता देव विमान देखती है।

१३. रत्न उच्चय—रत्नों की राशि अतिशय गुणों की सूचक है। यह इस बात का भी संकेत है कि बालक ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप तीन रत्नों से सुशोभित होगा।

१४. शिखि (अग्नि)—ज्योतिर्मय धर्म का वह आराधक होगा। निर्धूम अग्नि मोक्ष की प्रतीक है।

उपरोक्त सारे स्वप्न असाधारण और प्रशस्त हैं। असामान्य हैं। ऐसे स्वप्न हर किसी को नहीं दिखाई देते हैं। इनमें से यदि एक भी स्वप्न दिख जाये तो

समझना चाहिए अवश्य ही कोई कल्याणकारी घटना होगी। दिगम्बर ग्रंथ महापुराण में आचार्य जिनसेन ने मत्स्य युगल और सिंहासन—ये दो अतिरिक्त स्वप्न बतलाये हैं। आवश्यक निर्युक्ति में ऐसा उल्लेख मिलता है जब मरुदेवा माता ने नाभि को स्वप्नों की बात कही तब नाभि ने कहा—देवी! तुम्हारा पुत्र महान कुलकर होगा। उस समय इन्द्र का आसन चलित हुआ और वह शीघ्र ही वहाँ आ पहुँचा। उसने आते ही कहा—"देवानुप्रिये! तुम्हारा पुत्र समस्त विश्व के लिए मंगलकारी होगा। वह प्रथम नृपति और प्रथम धर्म चक्रवर्ती होगा।"[६]

## २. जन्म कल्याणक

तीर्थंकरों का जब जन्म होता है तब सम्पूर्ण लोक में उद्योत होता है। तीर्थंकर की माताएं प्रच्छन्न गर्भ वाली होती हैं। उनके जरा, रूधिर, कल्मषआदि नहीं होते। गर्भकाल पूरा होने पर तीर्थंकरों का अद्भूत शिशु के रूप में जन्म होता है। इस समय सारे संसार में सुख की किरणें फैल जाती हैं। तीर्थंकर जन्म के समाचार विभिन्न माध्यमों से सर्वत्र फैलते हैं। उस समय भी इन्द्र का सिंहासन कम्पायमान होता है तब वह अवधि ज्ञान से जान लेता है कि प्रभु का जन्म हो गया। वह देवों को बुलाकर जन्मोत्सव में चलने को कहता है। तीर्थंकर की नगरी में पहुँचकर वह इन्द्राणी से कहता है—"प्रिये! माता को सुख की नींद सुलाकर बालक को ले आओ। सुमेरु की पांडुशिला पर दिव्य अभिषेक करेंगे।"[७]

इन्द्राणी माता को अस्वापिनी निद्रा दिलाकर बालक को ले आती है। इन्द्र ऐरावत हाथी* पर बालक को बिठाकर अपूर्व समारोह के साथ सुमेरु पर ले जाकर पाण्डुशिला पर बिठाता है। ६४ इन्द्र और देव क्षीर सागर से स्वर्णकलशों में जल भरकर लाते हैं और बालक का मंगल अभिषेक करते हैं। अभिषेक के पश्चात दिव्य वस्त्राभूषण पहनाकर शोभायात्रा से इन्द्र वापस लौटकर बालक को माता के साथ सुलाकर कहता है—"हे रत्नकुक्षी धारिके! हे विश्वदीपिके! तुम्हें प्रणाम/ शत शत प्रणाम।' इतना कह इन्द्र शिशु के पास कुंडलयुगल, रत्नजड़ित गेंद तथा देवदूष्य वस्त्र रखकर विदा लेता है।[८]

## ३. दीक्षा कल्याणक

राज्य शासन से विरक्त हो जब तीर्थंकर सन्यस्त होने की इच्छा व्यक्त करते

---

* यह सौधर्म इन्द्र का वाहन है। देव विक्रिया से एक लाख उत्सेध योजन प्रमाण दीर्घ एरावत नामक हाथी बनता है। उसके 32 मुख होते हैं। एक-एक मुख में चार-चार दांत होते हैं। एक-एक दांत में एक एक सरोवर होता है। एक-एक सरोवर में एक-एक उत्तम कमलवन खण्ड होता है। एक-एक वनखण्ड में 32 महापद्म होते हैं। जो एक-एक योजन प्रमाण होते हैं। एक-एक महापद्म पर एक-एक नाट्यशाला होती है। एक-एक नाट्यशाला में उत्तम 32-32 अप्सराएं नृत्य करती हैं।

हैं तब लोकान्तिक देव आकर उनके विरक्त होने की सराहना करते हैं। उसके बाद तीर्थंकर एक वर्ष तक वर्षीदान देते हैं। कर्मभूमि से दीक्षित होने वाले सभी तीर्थंकरों के लिए सौधर्मेन्द्र द्वारा दीक्षा के एक वर्ष पूर्व वर्षीदान की व्यवस्था की जाती है। वर्षीदान के प्रभाव से बारह वर्षों तक इन्द्रों में परस्पर संघर्ष नहीं होता। चक्रवर्ती का भंडार अक्षय रहता है। श्रेष्ठी लोगों की कीर्ति इस धन के प्रभाव से बढ़ती है। बीमार स्वस्थ हो जाते हैं तथा बारह वर्षों तक इस धन के प्रभाव से घर में बीमारी नहीं आती। बीमार बच्चे स्वस्थ रहते हैं ऐसी और भी कुछ धारणाएँ प्रचलित हैं। एक वर्ष पश्चात पुनः लोकान्तिक देव उपस्थित होते हैं और जिनका जीत आचार अर्थात् कर्मभूमि के सभी भावी तीर्थंकरों को तीर्थ प्रवर्तन की प्रेरणा देना है। उसी विधि का अनुसरण करते हुए कहते हैं–

अरहा बुज्झह बुज्झह – जागों, भन्ते! जागों
अरहा अट्ठाहि अट्ठाहि – उठो, प्रभो! उठो
अरहा पवट्ठाहि पवट्ठाहि – प्रस्थान करो, प्रभो! प्रस्थान करो।

–प्रभो! आपकी जय हो, विजय हो! अब आप तीर्थ का प्रवर्त्तन करो। सबका कल्याण हो, मंगल हो।[६]

शुभ समय में तीर्थंकर अपने नगर के निकट उद्यान में दीक्षा हेतु अभिनिष्क्रमण करते हैं। अपूर्व समारोह मनाया जाता है। तीर्थंकर पालकी में बैठते हैं। पालकी को पहले तो राजा, महाराजा उठाते हैं फिर देव अपने कंधों पर ले जाते हैं।

उद्यान में पहुँचकर तीर्थंकर अपने हाथ से केशों का पंचमुष्ठि लुञ्चन करते हैं, सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार कर यावज्जीवन सावद्य योग का प्रत्याख्यान अर्थात् दीक्षा स्वीकार कर लेते हैं। दीक्षा संस्कार के साथ ही वे कुछ विशेष अभिग्रह (संकल्प) स्वीकार करते हैं। "मैं केवल ज्ञान प्राप्ति तक व्युत्सृष्ट देह रहूँगा। यानि देव, मनुष्य तथा तिर्यञ्च (पशु जगत्) की ओर से जो भी उपसर्ग उत्पन्न होंगे, उनको समता भाव से सहन करूंगा।

## ४. केवलज्ञान कल्याणक

दीक्षित होने के बाद कठोर तपस्या, ध्यान तथा परिषहों को सहन करते-करते चार घनघाती कर्म क्षय होने से तीर्थंकरों को अपूर्व ज्ञान की प्राप्ति होती है, उसे केवलज्ञान कहते हैं। केवलज्ञान प्राप्ति से पूर्व तीर्थंकर धर्म देशना नहीं देते, तपस्या व साधना में लीन रहते हैं। केवलज्ञान की प्राप्ति के समय जो समारोह मनाया जाता है, देवों द्वारा, उसे केवलज्ञान कल्याणक कहते हैं। केवल्य प्राप्ति के पश्चात

तीर्थंकरों की धर्मसभा का आयोजन होता है, उसे समवसरण कहते हैं।* इन्द्र इसकी रचना करता है इसमें आने की किसी को भी रोक-टोक नहीं होती। आबाल-वृद्ध, नर-नारी, देव-दानव, पशु-पक्षी सब आ जा सकते हैं। सबके लिए समुचित व्यवस्था की जाती है। तीर्थंकर के उपदेश को दिव्य-ध्वनि कहते हैं। तीर्थंकर के प्रमुख शिष्य गणधर कहलाते हैं। तीर्थंकर के प्रथम प्रवचन में साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका चार तीर्थ की स्थापना होती है और वे भाव तीर्थंकर कहलाने के अधिकारी हो जाते हैं।

तीर्थंकर की अनेक विशेषताओं के साथ चौबीस अतिशय, पैंतीस वचनातिशय, आठ प्रातिहार्य (देवकृत अतिशय) होते हैं। कुछ अतिशय केवलज्ञान की प्राप्ति से पूर्व और कुछ केवलज्ञान के साथ प्रकट होते हैं। उनके आगे-आगे धर्मचक्र चलता है। तीर्थंकर के उपदेश अर्द्धमागधी भाषा में होते हैं।

तीर्थंकरों के अष्ट महाप्रातिहार्य जो केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद सदैव उनके साथ ही रहते हैं। ये प्रातिहार्य अरिहंत की पहचान के विलक्षण चिह्न हैं।[१०]

१. अशोक वृक्ष
२. पुष्प वृष्टि
३. दिव्य ध्वनि
४. चामर
५. सिंहासन
६. भामंडल
७. देव दुन्दुभि
८. छत्र

तीर्थंकर अशोक वृक्ष के नीचे स्फटिक सिंहासन पर आसीन होते हैं। उनके ऊपर तीन छत्र तथा पीछे भामंडल* लगाया जाता है। मुख से दिव्य ध्वनि होती है, देव पुष्प वृष्टि करते हैं, चामर ढुलाते हैं तथा दुंदुभि बजाते हैं।

उपरोक्त प्रातिहार्य तीर्थंकरों के पवित्र आन्तरिक गुणों के प्रतीक के रूप में होते हैं जिनको निम्न रूप में समझा जा सकता है—

अशोक वृक्ष शोक मुक्ति का प्रतीक है।

---

* सौधर्म देव की आज्ञानुसार कुबेर के द्वारा बनाई गई विशेष सभा को 'समवसरण' कहते हैं। यह पृथ्वी से 500 योजन धनुष ऊपर लगता है। इस पर चढ़ने की 20,000 सीढ़ियां होती हैं। देव शक्ति से निर्मित होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति को चढ़ने में अन्तर्मुहूर्त लगता है।

* ऐसी भी मान्यता है कि भामंडल में सात भव दिखते हैं। तीन अतीत के, तीन भविष्य के और एक वर्तमान का।

स्फटिक सिंहासन निर्भयता का प्रतीक है।
चौषठ प्रकार के चमर चौसठ कलाओं के प्रतीक हैं।
तीन छत्र रत्नत्रय के प्रतीक हैं।
देव दुंदुभि धर्म की शरण की प्रतीक है।
पुष्पवृष्टि बसंत की शोभा और शांति की प्रतीक है।*
भामंडल शुक्ल लेश्या का प्रतीक है।

दिव्यध्वनि उन वचनों की प्रतीक है, जिससे द्वादशांग वाणी का सृजन हुआ।

## ५. निर्वाण कल्याणक

आयुष्य कर्म पुरा होने पर तीर्थंकर शेष अघाती कर्मों को क्षय कर मोक्ष प्राप्त करते हैं अर्थात् सर्वथा कर्मों से मुक्त हो शाश्वत सुखों को प्राप्त हो जाते हैं। मोक्ष प्राप्ति पर निर्वाण कल्याणक मनाया जाता है।

जैन धर्म में प्रत्येक आत्मा को स्वतंत्र माना गया है। वह अपना विकास करके आत्मा से परमात्मा बन जाता है। तीर्थंकर भी अपनी आत्मा का विकास कर परमात्मा बनते हैं। वे कई जन्मों तक आत्म-विकास के लिए सद्गुणों की साधना करते हैं तीर्थंकरत्व प्राप्त कर वे अपना कल्याण करते हैं तथा प्राणीमात्र को कल्याण का उपदेश देते हैं। अन्त में मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

सिद्ध भगवन्त निरंजन, निराकार, शिव, मुक्तात्मा, परमात्मा, अजर एवं अमर है। उनकी स्तुति से स्तोता निर्मल, प्रसन्न, स्वस्थ, सरल एवं ऋजुचित्त होता है। अर्हत् त्याग, वैराग्य व संयम साधना की दृष्टि से महान् हैं। उनके गुणों का उत्कीर्तन साधक के अन्तःकरण में आध्यात्मिक बल का संचार करता है। साधक को साधना के उच्च शिखर पर आरोहण करने का मनोबल देता है। इस प्रकार तीर्थंकरों की स्तुति मानव को अपने पौरुष को जागृत करने की प्रेरणा देती है। तीर्थंकर तो साधना मार्ग में प्रकाश स्तंभ है। प्रकाश स्तम्भ जहाज का पथ प्रदर्शन करता है चलने का कार्य तो जहाज का ही है। वैसे ही साधना में गति प्रगति साधक की कार्य क्षमता ही है।

साधक लोगस्स की साधना से अपनी आत्मा का उत्कर्ष करता है। क्योंकि लोगस्स की साधना जैसा कि बताया जा चुका है कि आत्मस्वरूप की प्राप्ति एवं चेतन आत्मा की ही साधना एवं आराधना है। तत्त्व मनीषी आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के शब्दों में–

---

* ये पुष्प जिनके पल्लवों के भाग नीचे और डंठल ऊपर हैं, मानों कह रहे हैं कि भगवान की शरण में आने वाला पतित जन भी उर्ध्वमुखी बनकर मुक्ति मंजिल की ऊँचाइयों को पा सकता है।

मैंने सुना है, अनुभव किया है
स्वतंत्रता की कुंजी मैं स्वयं हूँ
मैंने सुना है, अनुभव किया है
फूलों की सुगन्ध और कांटों की चूभन स्वयं मैं हूँ
मैंने सुना है, अनुभव किया है
प्रलय और सृजन स्वयं मैं हूँ
मैंने सुना है, अनुभव किया है
सागर की बूँद और सागर मैं स्वयं हूँ ॥

जब हम लोगस्स महासूत्र के आभ्यन्तर स्वरूप में गहराई से अवगाहन करते हैं तो प्रारम्भिक अभ्यास में कुछ जिज्ञासाएं मानस पटल को आन्दोलित करती हैं। क्योंकि इसमें अनंत रहस्य छिपे हैं। जिनकी थाह पाना सामान्य साधक के सामर्थ्य से परे है, जैसे–

- निर्गुण निराकार की स्तुति कैसे हो सकती है?
- क्या वीतराग की स्तुति उन्हें प्रसन्न करने के लिए की जाती है? यदि नहीं तो लोगस्स में तित्थयरा में पसीयंतु क्यों कहा?
- क्या स्तुति/प्रशंसा सुनकर वे प्रसन्न होते हैं?
- क्या 'आरोग्ग बोहिलाभं' 'समाहिवरमुत्तमं दिंतु' कहने से वे हमें आरोग्य, बोधि और समाधि प्रदान करते हैं?
- क्या 'सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु' कहने से सिद्ध हमें सिद्धि देते हैं? इत्यादि।

## तित्थयरा में पसीयंतु

जैन दर्शनानुसार वीतराग प्रभु न किसी पर प्रसन्न होते हैं और न ही रूष्ट। वे निर्मोह हैं, राग-द्वेष से मुक्त हैं तो फिर प्रसन्नता और अप्रसन्नता का तो प्रश्न ही नहीं उठता। खुशी और नाराजगी लाना तो मोहयुक्त आत्मा का लक्षण है। यहाँ 'तित्थयरा में पसीयंतु' कहने का तात्पर्य है कि जिस प्रकार सूर्य की प्रथम किरण से कमल खिल जाता है वैसे ही वीतराग आत्माओं के गुणानुवाद से मुझे आत्मिक आह्लाद प्राप्त हो, मेरे भाव शुद्ध बने, मेरी लेश्या विशुद्ध बने, मेरी प्रसन्नता मुझ में प्रकट हो, मैं शिवपथगामी बनूं–इत्यादि। यही 'तित्थयरा में पसीयंतु' का रहस्य है।

## आरोग्ग बोहिलाभं

स्तोता के द्वारा आरोग्य, बोहि लाभं और श्रेष्ठ समाधि की अभिलाषा करने पर अर्हत् उन्हें ये देते नहीं हैं तो भी भावों की उत्कृष्ट श्रद्धा से इस प्रकार की

प्रार्थना उचित ही है। क्योंकि अर्हत् सिद्ध कुछ भी न देवें पर भक्तिमान भव्यों की अपनी अटल भक्ति के कारण प्रार्थना के अनुसार फल हो जाता है। यह प्रार्थना मोक्ष प्राप्ति के लिए है अतः इसे निदान सहित नहीं कह सकते हैं। जिस प्रकार अंजन नहीं जानता कि मैं आँख की ज्योति बढ़ाऊं पर उसे आंजने से नेत्र ज्योति स्वतः बढ़ती है वैसे ही निस्पृह, निष्काम, वीतराग परमात्मा के स्तवन से स्वतः लाभ होता है। क्योंकि बार-बार अर्हत् स्तवन से कर्म मल दूर होते हैं। कर्मफलों का अपनयन होने से भाव निर्मल बनते हैं और निर्मल भावों से ही गुणों की प्राप्ति संभव है। निर्मल भावों का आरोग्य, बोधि और समाधि के साथ घनिष्ठ संबंध है।

समाधि का सामान्य अर्थ है—चित्त की एकाग्रता। यह समाधि मनुष्य का अभ्युदय कर अन्तरात्मा को पवित्र बनाती है एवं सुख-दुःख तथा हर्ष-शोक आदि प्रसंगों में शांत व स्थिर रखती है। सर्वोत्कृष्ट समाधि दशा पर पहुँचने के पश्चात आत्मा का पतन नहीं होता।

## सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु

इसी प्रकार सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु कहने से सिद्ध भगवान हमें सिद्धि नहीं देते पर यह स्तुत्य के गुणों को अपने में धारण करने की प्रक्रिया है। यह कामना सिद्धि का मंत्र है। नमस्कार महामंत्र में पांचों तत्त्व हैं। पूरा स्वर योग महामंत्र के दो ही पदों 'णमो सिद्धाणं' और 'णमो उवज्झायाणं' में समाहित हो जाता है। यदि व्यक्ति में उत्साहहीनता है तो 'णमो सिद्धाणं' का जप एकाग्रता से करने पर उत्साह तो बढ़ता ही है पर साथ-साथ में रक्त का 'हीमोग्लोबीन' भी बढ़ जाता है।[११] यदि शरीर में उष्मा का प्रकोप है तो णमो उवज्झायाणं पद का जप या ध्यान करने से शरीर में शीतलता व्याप्त होती है। मन, मस्तिष्क, शरीर सभी शीतल हो जाते हैं तथा परिश्रम से हुई थकावट भी दूर हो जाती है।[१२]

जिस प्रकार चिंतामणि रत्न से वांछित फल की प्राप्ति होती है उसी प्रकार अर्हतों व सिद्धों का ध्यान, गुण स्मरण, कीर्तन तथा वंदन करने से चित्त शुद्धि के द्वारा अभिलक्षित फल की प्राप्ति होती है।

सिद्ध भगवन्तों के ध्यान से मुख्यतः उनके आनंदमय, आरोग्यमय, अव्याबाध (बाधा रहित) स्वरूप का चिंतन किया जाता है। इस चिंतन से आनंद प्राप्ति के साथ-साथ सर्व रोग, बाधाएं दूर होकर कार्य सिद्धि की क्षमता का विकास होता है। अनुभव गम्य है कि इक्कीस बार सिद्ध प्रभु का स्मरण करने से अथवा 'सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु'—इस मंत्र पद का स्मरण करने से प्रायः कार्य निर्विघ्न और सानंद होता है। 'सिद्ध' भगवान का स्मरण विघ्न-विनाशक, सिद्धि दायक, सफलता

प्रदायक और आरोग्य देता है। अतएव णमो सिद्धाणं पद का स्मरण अथवा 'सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु' पद का जप करते समय उनके निर्मल स्वरूप का मन में चिन्तन करना चाहिए।

जिस प्रकार नदी या सरोवर के तट पर स्थित व्यक्ति को जल की शीत लहर से ही शांति मिलती है, बगीचे की शीतल छाया और हरे-भरे वृक्षों के पास बैठने वालों की दृष्टि में तरावट व मस्तिष्क में शांति प्राप्त होती है। उसी प्रकार सिद्धों के स्वरूप का स्मरण, चिंतन, ध्यान स्तोता की ज्ञान चेतना को झंकृत और जागृत करता है। उसे अपने शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हेतु चरणन्यास करने की बलवती प्रेरणा मिलती है।

यदि परमात्मा की भक्ति पर कोई परमात्मा नहीं बन सकता तो उसकी भक्ति का प्रयोजन ही क्या? आचार्य मानतुंग ने बहुत ही सारगर्भित बात कही है[१३]—

**नात्यद्भुतं भुवनभूषण! भूतनाथ!**
**भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः।**
**तुल्या भवंति भवतो ननु तेन किंवा**
**भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति?**

अर्थात् हे जगत् के भूषण! हे जगत् के जीवों के नाथ! आपके यथार्थ गुणों के द्वारा आपका स्तवन करते हुए भक्त यदि आपके समान हो जाये तो हमें कोई अधिक आश्चर्य नहीं है, ऐसा तो होना चाहिए। क्योंकि स्वामी का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने आश्रित भक्त को अपने समान बना ले अथवा उस मालिक से लाभ ही क्या जो अपने आश्रित को वैभव से अपने समान नहीं बना लेता?

इसी तथ्य को कबीर की साखी में भी दर्शाया गया है—

**सबै रसाइया मैं किया, हरि सा ओर न कोई।**
**तिल इक घट में संचरै, तो सब तन कंचन होई॥**

अर्थात् सभी रसायनों का सेवन कर लिया है मैंने, मगर हरि रस जैसी कोई ओर रसायन नहीं पाई, एक तिल भी घट में, शरीर में यह पहुँच जाए, तो वह सारा ही कंचन में बदल जाता है। कहने का तात्पर्य है हरि रसायन से वासनाओं का मैल नष्ट हो जाता है और जीवन अत्यन्त निर्मल हो जाता है।

श्रीमज्जयाचार्य ने चौबीसी में अनेक स्थलों पर अर्हत् भक्ति के महत्त्व को दर्शाया है। उन्होंने भगवान श्री चन्द्रप्रभु की स्तुति में कहा—प्रभु तुम सही अर्थ में वीतराग हो। जो अपने चित्त को एकाग्र बना तुम्हारा ध्यान करते हैं वे परम

मानसिक संतोष को प्राप्त होने पर ध्यान चेतना के द्वारा तुम्हारे समान बन जाते हैं।[१४]

## अरहंतों को सिद्ध कहने का प्रयोजन

यहाँ एक जिज्ञासा का होना स्वाभाविक है कि लोगस्स अर्हत् स्तुति का पाठ है फिर इस अन्तिम पद्य में उन्हें सिद्ध क्यों कहा गया है?

समाधान की भाषा में कहा जा सकता है कि जो भूतकाल में तीर्थंकर थे वे वर्तमान काल में सिद्ध गति को प्राप्त कर चुके हैं। जो वर्तमान काल में तीर्थंकर होते हैं, चार घातीकर्मों का क्षय होने से उनका संसार प्रायः समाप्त-सा होता है, शेष चार अघाती कर्म उनके लिए बाधा रूप नहीं होते। इस प्रकार भावी सिद्धत्व का वर्तमान में उपचार करके भी कहा जा सकता है, अतः उन्हें सिद्ध कहना अयुक्ति संगत नहीं कहा जा सकता। उत्तराध्ययन नौवें अध्ययन में नमिराज को संसार अवस्था में भगवान शब्द से कहा है—'जाइं सरितु भयवं' अर्थात् उन भगवान ने जाति स्मृति को पाकर...।[१५] इसी आगम के उन्नीसवें अध्ययन में मृगापुत्र को 'जुवराया दमीसरे' अर्थात् युवराज पद भोगते हुए भी दमीश्वर, ऋषिश्वर कहा है।[१६] यह कथन भावी भाव को वर्तमान रूप में कथन करने वाले द्रव्य-निक्षेप की अपेक्षा से है। इसी प्रकार अरिहंत भगवान भविष्य में सिद्ध होने वाले होते हैं अतः इसी द्रव्य-निक्षेप की अपेक्षा से उनको सिद्ध कहा गया है।

अनुयोग द्वार में अर्हतों को सिद्ध भी कहा गया है। अन्तरात्मा की पवित्रता की दृष्टि से अरिहंत व सिद्ध में कोई अन्तर नहीं है, अन्तर केवल प्रारब्ध कर्मों के भोग का है। देहधारी होने के कारण अर्हतों को प्रारब्ध कर्मों का भोग रहता है जबकि देह-रहित कर्म मुक्त सिद्धों को प्रारब्ध कर्म नहीं रहते।

भगवती सूत्र में सिद्धों के दो प्रकार बतलाए गये हैं[१७]—

१. भाषक सिद्ध—बोलने वाले सिद्ध (अर्हत्)
२. अभाषक सिद्ध—नहीं बोलने वाले सिद्ध (चौदहवें गुणस्थान के अर्हत् व सिद्ध भगवन्त)

भाषक-सिद्ध की वाणी में निम्नांकित अतिशय प्रकट होते हैं[१८]—

१. सर्व प्राणियों के प्रति तुल्यता का भाव
२. ऋद्धि विशेष—सबके संशय एक साथ विच्छिन्न
३. अकालहरण—संशय विच्छित्ति से पूर्व मृत्यु नहीं
४. अचिंत्य गुण संपदा

उपरोक्त विवेचन के निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि अभाषक

सिद्ध में चौदहवें गुणस्थान वर्ती अर्हतों का समावेश है तथा भाषक सिद्ध में तेरहवें गुणस्थान वर्ती अर्हतों का समावेश है, इस दृष्टि से भी उन्हें सिद्ध कहना निर्विवाद है।

## निष्कर्ष

उपास्य की भव्यता, उदात्तता और शब्द ग्राह्यता को जानकर भक्त प्रभु के चरणों में सब कुछ समर्पण कर देता है। समर्पण के होते ही महाशक्ति का आविर्भाव भक्त हृदय में होने लगता है। महामनस्वी आचार्य महाप्रज्ञजी लिखते हैं जब तक भेद रेखा/भेद प्रणिधान रहता है तब तक शक्ति पर प्रश्न चिह्न बना रहता है। जब अभेद प्रणिधान हो जाता है, तब शक्ति अपने आप जाग जाती है।

जब हम लोगस्स साधना को मंत्राक्षर के रूप में स्वाध्याय व ध्यान का विषय बनाते हैं तो उसको एकाग्र होकर दर्शन-केन्द्र में पहुँचाना होता है। क्योंकि मंत्र की वास्तविक परिणति का मूर्धन्य परिणाम तब आता है जब कण्ठ की क्रिया समाप्त हो जाती है। तब मंत्र हमारे दर्शन-केन्द्र में पहुँच जाता है।[१९] यह मानसिक क्रिया है। जब मंत्र की मानसिक क्रिया होती है, मानसिक जप होता है तब न कण्ठ की क्रिया होती है न जीभ हिलती है, न होंठ और दांत ही हिलते हैं। स्वर यंत्र का कोई प्रकंपन नहीं होता...। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अपनी अनुभव पूरित भाषा में लिखा है—जो व्यक्ति मंत्र का मानसिक अभ्यास करना चाहे वे अपनी आँखों की कीकी को थोड़ा ऊपर उठाएं, भृकुटि को भी ऊपर उठाएं, मन की पूरी शक्ति को दर्शन-केन्द्र पर केन्द्रित करें और इसी स्थान से मंत्र का जप चले। उच्चारण नहीं केवल मंत्र का दर्शन, मंत्र का साक्षात्कार, मंत्र का प्रत्यक्षीकरण...। मंत्र इस भूमिका तक पहुँचकर ही कृतकृत्य होता है।[२०]

## मंत्र साक्षात्कार के निम्न लक्षण हैं[२१]

१. तेजः परमाणुओं का ग्रहण अथवा ज्योति का आभास
२. मंत्र के अक्षर और शब्द मनस की धारा में प्रवाहित होने लगे
३. मन के संकल्प-विकल्पों की उपशांति
४. मानसिक और वाचिक स्थिरता
५. मंत्र की आत्मा—भावों की धारा में प्रवाह

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि भीतरी शक्ति को जगाने के लिए हर व्यक्ति को आलंबन की अपेक्षा रहती है। शरण व्यक्ति की विचारधारा को स्वस्थ बनाती है। वह कठिन से कठिन समय में शांति का अनुभव कराती है। यह

निर्विवाद है कि ध्येय जितना बड़ा होगा उसका रास्ता उतना ही लम्बा और बीहड़ भी होगा पर मजबूत आलंबन व्यक्ति को पार पहुँचा देता है। वीतराग स्वरूप की प्राप्ति अथवा सिद्धि प्राप्ति का लक्ष्य सचमुच बहुत विराट है। यह एक जन्म की नहीं कई जन्मों की साधना की निष्पत्ति से ही संभव है। अतः वीतराग आत्माओं का नाम, अर्हत भगवन्तों का नाम और स्वरूप हमारे मन, वाणी और काया में, श्वास-श्वास में अनुगूंजित रहे, कब तक? जब तक लक्ष्य सिद्धि हो तब तक, यही अर्हत् स्वरूप मीमांसा अर्थात् लोगस्स के आभ्यन्तर स्वरूप मीमांसा का रहस्य है।

## संदर्भ


१. शक्ति एवं शांति का स्रोत णमोकार महामंत्र–पृ./३६
२. चौबीस तीर्थंकर–पृ./८
३. वही–पृ./८
४. वही–पृ./८
५. आवश्यक भाष्य–४६, श्री भिक्षु आगम विषय कोश, पृ./३०२, कल्पसूत्र–सूत्र ३३
६. भद्रबाहु कृत आवश्यक निर्युक्ति खण्ड १ परिशिष्ट ३ पृ./३४६
७. चौबीस तीर्थंकर–पृ./१२
८. पर्युषण साधना–पृ./६०
९. आवश्यक निर्युक्ति–२१५
१०. नंदी मलयागिरी वृत्ति–पृ./४१
११. शक्ति एवं शांति का स्रोत णमोक्कार महामंत्र–पृ./१३६
१२. वही–पृ./१३५
१३. भक्तामर–श्लोक/१०
१४. चौबीसी–८/३
१५. उत्तराध्ययन–६/२
१६. उत्तराध्ययन–१६/२
१७. प्रज्ञापना–सिद्ध प्रज्ञापना पद, भगवती, इक्कीस द्वार–१५वां द्वार
१८. पर्युषण साधना–पृ./७
१९. महाप्रज्ञ का रचना संसार–पृ./२५७
२०. वही–पृ./२५७
२१. शक्ति एवं शांति का स्रोत णमोक्कार मंत्र–पृ./६२

# ११. लोगस्स एक धर्मचक्र-१

**अर्हत् सम्पूर्ण लोक के रहस्यों को केवलज्ञान रूपी प्रकाश से प्रकट करते हैं जो हमारी बोधि, समाधि और सिद्धि में सहायक बनते हैं। मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ इसका बोध भी अर्हत् की शरण स्वीकार करने से ही होता है। अर्हत् मोक्ष मार्ग रूप रत्नत्रयी के उपदेष्टा हैं। इस रत्नत्रयी पर चलने वाले भव्य जीवों की ही मुक्ति संभव है अतः लोगस्स उज्जोयगरे अर्हतों के लिए यह विशेषण अपनी सार्थकता रखता है।**

विश्व में प्रमुखतः सात चक्र प्रतिष्ठित माने जाते रहे हैं–

१. संसार चक्र
२. अशोक चक्र
३. सुदर्शन चक्र
४. काल चक्र
५. कर्म चक्र
६. धर्म चक्र
७. सिद्ध चक्र

सातों चक्रों में अन्तिम दो चक्र–धर्म चक्र एवं सिद्ध चक्र, मोक्ष प्राप्ति में सहायक होने से सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं। कहा जाता है कि जब देव तीर्थंकरों के समवसरण की रचना करते हैं तब समवसरण के चारों मुख्य द्वारों पर अद्भूत कांति वाला एक-एक 'धर्म चक्र' स्वर्ण-कमल में स्थापित करते हैं।[1] यह है धर्म चक्र का द्रव्य रूप–आकार रूप रचना।

लोगस्स देवाधिदेव अधिष्ठित भाव धर्म चक्र है। इस चक्र के द्वारा कर्म-चक्र के व्यूह का भेदन होता है। चक्र के प्रथम पद्य में चक्र अधिष्ठित देवाधिदेव की पांच प्रमुख विशेषणों से स्तवना एक विशेष लक्ष्य पूर्वक की गई प्रतीत होती है। क्योंकि बहु अर्थात्मक होने के कारण एक शब्द के अनेकों अर्थ हो सकते हैं। भगवान महावीर के समय में भी पूरणकश्यप, अजित केशकंबलि, गोशालक आदि

पांच व्यक्ति स्वयं को तीर्थंकर कहते थे परन्तु वे अन्य निम्नोक्त विशेषताओं से अभिमंडित नहीं थे। इसलिए 'लोगस्स स्तव' में चौबीस ही केवलज्ञानी अर्हतों का कीर्तन करूंगा—ऐसा कहकर उनकी स्वरूपगत प्रमुख विशेषताएँ जो अन्यत्र नहीं हैं, को उजागर किया गया है जो लोगस्स के प्रथम पद्य में निम्न प्रकार से विश्लेषित हैं—

**लोगस्स उज्जोयगरे, धम्म तित्थयरे जिणे ।**
**अरहंते कित्तइस्सं, चउविसंपि केवली ॥**

१. लोगस्स उज्जोयगरे — लोक के उद्योतकर
२. धम्म तित्थयरे — धर्म तीर्थंकर
३. जिणे — जिन
४. अरहंते — अरिहंत
५. केवली — केवलज्ञानी

उपरोक्त क्रम भी रहस्यात्मक है। एक ही व्यक्ति में पांचों विशेषणों का युगपत् होना जरूरी है। इसमें प्रथम विशेषण लोक के उद्योतकर दिया गया है। लोक के उद्योतकर अवधि ज्ञानी, विभंग ज्ञानी, चन्द्र, सूर्य आदि भी होते हैं अतएव उनकी निवृत्ति हेतु धम्म तित्थयरे पद का महत्त्व है। नदी तालाब आदि जलाशयों में उतरने के निमित्त धर्मार्थ तीर्थ (घाट) बनाने वाले भी धर्म-तीर्थंकर कहला सकते हैं। यहाँ उनका ग्रहण न हो इसलिए लोगस्स उज्जोयगरे विशेषण दिया गया है। लोक के उद्योतकर तथा धर्म तीर्थंकर अन्य ज्ञानी भी हो सकते हैं जैसा कि कतिपय शास्त्रों में कहा गया है—"धर्म तीर्थ को करने वाले धर्म तीर्थ की हानि देखकर परमपद पर आरूढ़ होकर पुनः संसार में लौट आते हैं, उन सबके निवृत्यार्थ 'जिणे' विशेषण दिया गया है। क्योंकि रागादि शत्रुओं को जीते बिना कर्म-बीज का क्षय नहीं होता और कर्म-बीज का क्षय हुए बिना भव रूपी अंकुर का नाश नहीं होता। इसलिए 'जिणे' कहकर अन्य जिन कहलाने वाले तथा श्रुत जिन, अवधि जिन, मनः पर्यव ज्ञानी जिन और छद्मस्त वीतरागों की निवृत्ति की गई है।

उपर्युक्त सब विशेषणों से युक्त आत्मा अर्हत् ही हो सकती हैं। इससे आगे 'अरहंते' शब्द जो देव (देवाधिदेव) विशेष्य वाचक है। केवलज्ञान होने के पश्चात ही तीर्थंकर धर्म तीर्थ के प्रवर्त्तक होते हैं, छदमस्थ अवस्था में नहीं। इस तथ्य को दर्शित करने हेतु 'केवली' विशेषण की महत्ता स्वयंसिद्ध है।

उपरोक्त स्वयंभूत विशेषणों को विस्तार पूर्वक समझे बिना तीर्थंकरों के स्वरूप का अवगाहन अधूरा ही रह जाता है अतएव प्रत्येक विशेषण की चुंबक रूप में व्याख्या अपेक्षित एवं मननीय है। इस अध्याय में केवल 'लोगस्स उज्जोयगरे' इस एक चरण को ही व्याख्यायित किया जा रहा है।

## १. लोगस्स उज्जोयगरे (लोग उद्योतकर)

यहाँ लोक और उद्योत—ये दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं जिन्हें साधना की दृष्टि से भी समझना उपयुक्त है। इस दृष्टि से पहले 'उद्योत' शब्द की मीमांसा कर 'लोक' शब्द की मीमांसा को समझना उचित रहेगा।

### उद्योत

सामान्यतः उद्योत का अर्थ प्रकाश माना जाता है पर उद्योत शब्द दो शब्दों की अभिव्यंजना प्रस्तुत करता है—

१. सूर्योदय
२. अरूणोदय

* दृश्यमान होकर जो निकलता है वह प्रकाश है, सूर्य के साथ इसका प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है।
* अदृश्य रहकर जो अंधेरा हरता है वह उद्योत कहलाता है। जैसे अरूणोदय का आगमन सूर्योदय की पूर्व प्रस्तावना है। अतः सूर्य से इसका महत्त्व कम नहीं है। अंधकार का हटना प्रकाश के आगमन की महत्त्वपूर्ण घटना है। इस पूर्व घटना में ही पूर्व दिशा का राज है।

सुप्त व्यक्ति को अंधेरे की तरह जागृतचेता को उद्योत चाहिए, जैसे मृगावती को केवलज्ञान, चण्डकौशिक को जाति स्मृतिज्ञान आदि। आचार्य मानतुंग ने बहुत यथार्थ कहा है कि सूर्योदय से पूर्व फैलने वाली प्रभा (अरूणोदय) से ही जब कमल खिल उठते हैं तो सूर्य की प्रभा से कमल खिलेंगे उसका तो कहना ही क्या? इसी प्रकार हे जिनेन्द्र!

**आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं ।**
**त्वसंकथापि जगतां दूरितानी हंति ॥**[२]

"समस्त दोष रहित आपका स्तवन तो दूर आपकी उत्तम कथा (चर्चा नाम आदि) ही जगत् के प्राणियों के पापों का नाश कर देती है।"

भगवान महावीर ने दो प्रकार के प्रकाश बतलाए—

१. पुद्गल परिणामी प्रकाश
२. आत्म परिणामी प्रकाश

१. पुद्गल परिणामी प्रकाश अपनी सीमा में प्रकाश करते हैं। सहारे से प्रकाश देने वाले पदार्थ तो संसार में अनेक हैं। प्राणी जगत् में जुगनू, मछली आदि कुछ प्राणियों के देह पर्याय ही ऐसे होते हैं कि जब वे चलते हैं तो उनके शरीर से प्रकाश रश्मियां फूटती हैं। प्रस्तर जगत् में सूर्यकांत, चन्द्रकान्त मणि आदि भी

प्रकाश करते हैं। सृष्टि जगत् में सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि प्रकाशपिण्ड हैं।

२. आत्म परिणामी प्रकाश सीमातीत होता है, सर्वत्र होता है। सूर्य सीमित क्षेत्र को प्रकाशित करता है। परन्तु तीर्थंकर भगवन्त अपने केवलज्ञान रूप सूर्य से सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करते हैं क्योंकि केवलज्ञान का विषय है—सर्वद्रव्य, सर्वक्षेत्र, सर्वकाल और सर्वभाव।

उपरोक्त विवेचन के पश्चात तीर्थंकरों को 'लोगस्स उज्जोयगरे' कहने का कारण सुगमता से समझा जा सकता है।

तीर्थंकरों के पंच कल्याणक के समय स्वर्गीय देव महोत्सव मनाते हैं। इन कल्याणकों के समय सम्पूर्ण लोक में द्रव्य प्रकाश के साथ-साथ सर्वत्र आनंद की लहर दौड़ती है।[3] इसलिए कहा है—"नरकाऽपि मोदन्ते यस्य कल्याण पर्वसु"। ज्ञाता सूत्र के अनुसार च्यवन कल्याणक के समय पक्षी विजय सूचक शब्द उच्चारते हैं। सुरभियुक्त शीतल मंद पवन भी प्रदक्षिणावर्त्त होकर बहता हुआ भूमि का स्पर्श करता है। सम्पूर्ण पृथ्वी शस्य से आच्छादित एवं हरी-भरी रहती हैं। जनपद पुलकित होता है। जहाँ शाश्वत अंधकार है, सूर्य आदि का प्रकाश नहीं पहुँचता है उन नरक भूमियों में भी दो घड़ी (४८ मिनट) के लिए प्रकाश हो जाता है। इतने समय के लिए नैरयिक भी आनंद की अनुभूति करते हैं। वहाँ के परमाधार्मिक देव भी नारकीय जीवों को यातना नहीं देते। सब दिशाएं झंझावत रजकण आदि से रहित होकर निर्मल हो जाती हैं।

चौदह रज्जू प्रमाण सम्पूर्ण लोक में प्रकाश[4]

प्रथम नरक में सूर्य जैसा प्रकाश
दूसरी नरक में मेघाच्छादित सूर्य जैसा प्रकाश
तीसरी नरक में पूर्ण चाँद जैसा प्रकाश
चौथी नरक में मेघाच्छादित चाँद जैसा प्रकाश
पांचवीं नरक में ग्रह जैसा प्रकाश
छठी नरक में नक्षत्र जैसा प्रकाश
सातवीं नरक में तारक जैसा प्रकाश

तीर्थंकर अध्यात्म जगत् के दिव्य सूर्य हैं। जब वे अध्यात्म साधना के उत्कर्ष रूप केवलज्ञान व केवलदर्शन को प्राप्त कर अपना अलौकिक प्रकाश यत्र-तत्र बिखेरते हैं तब भव्य जीवों के मिथ्यात्व व अज्ञान रूप अंधकार का निवारण होता है। इस प्रकार तीर्थंकरों के भाव प्रकाश से भव्य जीवों को जो प्रकाश की किरणें मिलती हैं उसके प्रमुख रूप में पांच प्रकार हैं—

१. बोधि लाभ – सुलभ बोधित्व आदि की प्राप्ति
२. दृष्टि लाभ – सम्यक्त्व (रत्नत्रय) की प्राप्ति
३. चारित्र लाभ – सामायिक यावत् यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति
४. समाधि लाभ – समभाव की प्राप्ति
५. सिद्धि लाभ – मोक्ष की प्राप्ति

वेदों का प्रकाण्ड विद्वान, मर्मज्ञ इन्द्रभूति ब्राह्मण (गौतम) ज्ञान से अहं से भारी बनकर भगवान महावीर को अपनी शरण में लेने के लिए स्वयं को सर्वज्ञ मानता हुआ भगवान महावीर के समवसरण में पहुँचा पर घटित कुछ ओर ही हुआ। वह स्वयं सर्वज्ञ भगवान महावीर की शरण में चला गया। उनकी सर्वज्ञता के समक्ष नत मस्तक हो गया। भगवान महावीर ने उसे संबोध दिया और एक दिन वह स्वयं भी सर्वज्ञ बनने में सफल हो गया।

इस प्रकार तीर्थंकर लोक में द्रव्य और भाव (धर्म का उद्योत)–दोनों प्रकार का उद्योत करते हैं। इस प्रथम पद्य की अन्तर्यात्रा लोक से प्रारंभ हो लोकान्त तक पहुँचाने में सक्षम है। इस दृष्टि से लोक के स्वरूप की मीमांसा और लोक भावना का चिंतन विशिष्ट महत्त्व एवं वरेण्य स्थान रखता है।

## लोक मीमांसा

उन्नत जीवन एवं विकास का एक बहुत बड़ा रहस्य है–जिज्ञासा। गणधर गौतम ने भगवान महावीर से अनेक जिज्ञासाएं की। परिणाम स्वरूप छत्तीस हजार प्रश्नों का समाधान के रूप में भगवती सूत्र प्रकाश स्तंभ सदृश हमारा आधार स्तंभ है। विश्व व्यवस्था के भी सार्वभौम नियम होते हैं। जगत् की वस्तुओं की खोज कर आइंस्टीन जैसे व्यक्ति विश्वविख्यात बन गये। न्यूटन जैसे अन्वेषी जिज्ञासा बल से ही विश्व विश्रुत बन पाये थे। ढक्कन का उछलना-कूदना एक सामान्य रसोइये के लिए आश्चर्य की बात नहीं पर एक अन्वेषक ने उसके कूदने से वाष्प के नियम को खोजकर 'वॉयलर पद्धति' खोज ली और रेलगाड़ी चलाई। वृक्ष से फलों का गिरना एक कृषक के लिए सामान्य बात हो सकती है पर एक जिज्ञासु ने इस प्रक्रिया को देखकर गुरुत्वाकर्षण का नियम खोजकर न जाने कितनी सारी उपलब्धियां प्राप्त की थीं। यह निर्विवाद सिद्ध है कि सम्पूर्ण ऊँची खोजें चाहे वे भौतिक जगत् की हों चाहे धार्मिक जगत् की हों अथवा तात्विक जगत् की–ये सब खोजें जिज्ञासा से ही संभव हो सकी हैं।

मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? कहाँ जाऊँगा? इत्यादि जिज्ञासाओं के समाधान हेतु साधक अन्तर्जगत् में प्रवेश करता है तब वह बाह्य जगत् की तरह अन्तर्जगत् के अनेकों रहस्यों को हस्तगत करने में सफल होता है। 'कोऽहं' जिज्ञासा का योग-साधना की दृष्टि से चिंतन करने पर ज्ञात होता है कि जब प्राण

प्रवाह सुषुम्ना में प्रवाहित होता है तब दृष्टि की अन्तर्मुखता पारदर्शी बनती है। साधक का चिंतन पर से हटकर स्व की ओर अभिमुख होता है। सुषुम्ना का कालमान बहुत कम होता है। साधना की सहायता से जब श्वास सुषुम्ना में बहने लगता है तब शुद्ध तत्त्व भाव का उदय होता है, प्रज्ञा जागती है। अनेक व्यक्तियों का मानना है कि परमात्मा की कृपा से कोऽहं का भाव जागृत होता है। कुछ तत्त्व चिंतकों का मानना है कि कारण शरीर से आगे जो महाकारण शरीर है उसके प्रभाव से व्यक्ति में 'कोऽहं' का भाव जागता है। जैन तत्त्व मनीषी मानते हैं कि मोह कर्म के उपशांत, क्षय तथा क्षयोपशम की अवस्था में जब मोह कर्म का आवरण शिथिल होता है, तब जीवन में इस नई दृष्टि का जन्म होता है। व्यक्ति सोचने लगता है—मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? कहाँ जाऊँगा? मेरा स्वरूप क्या है? ऐसा विचार आत्मा की निर्मल अवस्था में ही संभव है।

भगवान महावीर ने कहा—आत्मा, लोक, कर्म, क्रियाएं—इन चारों को जानने वाला प्रबुद्ध आत्मा कहलाता है।[५] क्योंकि लोकस्वरूप का चिंतन वही व्यक्ति करता है जिसमें चारों गतियों में भव भ्रमण रूप संसार, पुनर्जन्म, आत्मा तथा लोक पर दृढ़ श्रद्धान होता है। अर्थात् जो यह जानता है कि परलोक है। इस लोक में मैं शुभ व अशुभ जैसा भी कार्य करूंगा उसका फल मुझे अवश्य मिलेगा। जिसे अपनी आत्मा पर श्रद्धा है वह लोक पर अवश्य श्रद्धा करेगा। जो अपनी आत्मा पर विचार करता है वह लोक के स्वरूप का भी अवश्य विचार करेगा। हमारे आवास तथा आत्म-विकास की आधारभूमि यह लोक है। अतः लोक का स्वरूप, आकार, प्रकार क्या है? इसकी रचना के मूल तत्त्व क्या हैं? शाश्वत व नित्य क्या है? अशाश्वत व अनित्य क्या है? इत्यादि जिज्ञासाएं व्यक्ति को अन्तर्लोक की यात्रा के सोपान पर आरोहण करने का मार्ग प्रशस्त करती हैं।

डार्विन का विकासवाद पेड़-पौधों से प्रारंभ होकर मानव तक आकर समाप्त हो जाता है जबकि जैन विकासवाद सूक्ष्म निगोदिय जीवों से प्रारंभ होकर आत्मा की मुक्ति तक का विकास क्रम वर्णित करता है। जैन विकासवाद का केन्द्र आत्मा है पुद्गल, षट्द्रव्य, नो/सात तत्त्व, नौ पदार्थ तथा कर्म आदि का वर्णन तो है ही किंतु उसका मूल्य लक्ष्य आत्मा की मुक्ति है।

जैन तत्त्व ज्ञान की मान्यतानुसार जीव सूक्ष्म निगोद-अव्यवहार राशि से निकलकर व्यवहार राशि में आता है। फिर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय, पशु, पक्षी तथा मानव के रूप में विकसित होकर रत्नत्रय, तप, संयम आदि की साधना करके मुक्त हो जाते हैं। जीव क्रमशः उन्नति व विशुद्धि प्राप्त करता है। भगवान महावीर की वाणी "जीवा सोहीमणुप्पत्ता"[६] सम्पूर्ण विकास की प्रक्रिया को द्योतित कर रही है।

## लोक क्या है?

लोक शब्द के अनेक अर्थ हैं—विश्व, देखना, संसार, मनुष्य आदि। जैन वाङ्मय में षट् द्रव्यात्मक सम्पूर्ण दुनिया को लोक माना गया है। यहाँ लोक शब्द 'षट् द्रव्यात्मको लोकः'[७] अर्थ रूप में प्रयुक्त हुआ है। भगवान महावीर ने वनस्पति को दीर्घलोक और अग्नि को दीर्घलोक शस्त्र कहा है।[८] इस आधार पर आचारांग का दूसरा अध्ययन लोक विजय (विचय) है। इस शब्द का अर्थ है संसार की मोह-माया पर विजय। इस प्रकार इस नाम से पराक्रम और पुरुषार्थ की प्रेरणा मिलती है। यह अध्ययन आत्मचिंतन एवं वैराग्य मूलक चिंतन युक्त होने से इसका नाम भी सार्थक है। इस प्रकार विषय और कषाय रूपभाव लोक पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा देना भी इस अध्ययन का मुख्य घोष है। बारह भावनाओं में भी एक लोक स्वरूप भावना है। पुण्य, पाप, बंध, मोक्ष आदि का ज्ञान एवं चिंतन लोक स्वरूप भावना में किया जाता है।[९]

इसको इस प्रकार भी समझा जा सकता है—लोक का अर्थ है—जीव समूह तथा उसके रहने का स्थान। जिसमें हम भी एक हैं। जैसे एक घर में रहने वाला सदस्य अपने घर के संबंध में विचार करता है, उसके आधार, उत्थान की चिंता करता है। वैसे ही सभी मनुष्य इस लोक रूपी गृह के सदस्य हैं। अतएव अन्य सभी जीव समूहों के साथ उसका भी यहाँ दायित्व है। जो जीव धर्म का आचरण करते हैं वे इस लोक में सुखी बनते हैं, उच्च जाति व उच्च कुल में जन्म लेते हैं। जो अधर्म का आचरण करते हैं वे नरक निगोद आदि दुर्गतियों को प्राप्त कर असह्य कष्ट पाते हैं।

## लोक का स्वरूप

यहाँ अंतरिक्ष विज्ञान संबंधी वैज्ञानिक धारणा का उल्लेख भी आवश्यक है। एक बार सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्स्टीन ने कहा था—नक्षत्र, तारे दूर-दूर भागते दिखाई देते हैं अतः लोक विस्तृत होता जा रहा है। काफी समय तक यह धारणा चलती रही लेकिन वर्तमान युग के भौतिक विज्ञानी स्टीफेन हाकिंग ने सन् १९८८ में दृढ़ स्वर में यह निश्चय किया था कि लोक शाश्वत और सीमित है। उसका आकार घटता-बढ़ता नहीं है। सदा एक-सा रहता है। न इसका कभी प्रारंभ हुआ और न अन्त होगा।[१०] यही सिद्धान्त जैन आगमों में वर्णित है।

जैन दर्शनानुसार सृष्टि चक्र अनादि काल से चल रहा है। विश्व की व्यवस्था स्वयं उसी में समाविष्ट नियमों के अनुसार होती है। ये नियम जीव और अजीब से विविध जाति संयोग से स्वतः निष्पन्न हैं।[११] इसमें ईश्वर कर्तृत्व का अस्वीकार स्वतः स्फुट है। स्थानांग सूत्र में विश्व व्यवस्था के संचालक दस नियमों का उल्लेख है जैसे जीव का अजीव व अजीव का जीव नहीं बनना, जीवों का बार-बार

जन्म-मरण, लोक का अलोक में प्रविष्ट नहीं होना और अलोक का लोक में प्रविष्ट नहीं होना, इत्यादि।[१२]

भगवती सूत्र में द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव–इन चार प्रकार के लोक का कथन है। लोक के आकार का संबंध क्षेत्र लोक से है। लोक सुप्रतिष्ठित आकार वाला है। तीन स्रावों में से एक स्राव ओंधा, दूसरा सीधा और तीसरा उसके ऊपर ओंधा रखने से जो आकार बनता है, उसे सुप्रतिष्ठित संस्थान या त्रिसरावसंपुट संस्थान कहा जाता है। इसकी ऊँचाई नीचे से ऊपर चौदह रज्जू है। नीचे जहाँ सातवीं नरक है, वहां यह सात रज्जू चौड़ा है। वहां से क्रमशः घटता-घटता सात रज्जू ऊपर आने पर दोनों सिकोरों की संधि के स्थान में जहाँ मध्य लोक है, वहाँ एक रज्जू चौड़ा है। फिर क्रमशः बढ़ता-बढ़ता साढ़े तीन रज्जू ऊपर पहुँचने पर दूसरे-तीसरे सिकारों की संधि स्थान में जहाँ पाँचवा स्वर्ग है, वहाँ पांच रज्जू चौड़ा है। उसके बाद फिर क्रमशः घटता-घटता साढ़े तीन रज्जू ऊपर जाने पर वहाँ तीसरे सिकोरे का अन्तिम भाग अर्थात् सिद्धशिला है, वहाँ पर एक रज्जू चौड़ा है। इसको निम्न चित्र के माध्यम से समझा जा सकता है–

## लोक का स्वरूप

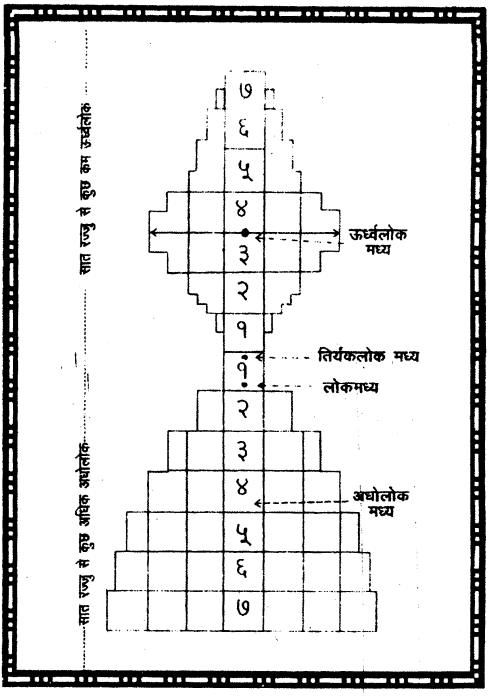

क्षेत्र लोक तीन भागों में विभक्त हैं[13]—

१. उर्ध्व लोक
२. मध्य लोक
३. अधोलोक

उर्ध्व लोक के ऊपर सिद्धशिला है। उत्तराध्ययन और औपपातिक में सिद्धों के संबंध में चार प्रश्न प्रतिपादित हैं। वे भी लोक के स्वरूप को प्रतिष्ठित करने वाले ही हैं।[14]

१. सिद्ध कहाँ जाकर रूके हैं?
२. सिद्ध कहाँ अवस्थित हैं?
३. सिद्ध कहाँ शरीर का त्याग करते हैं?
४. सिद्ध किस जगह सिद्ध होते हैं?

उपरोक्त प्रश्नों का समाधान निम्न रूप में आगम वर्णित है—

**अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया।**
**इहं बोदिं चइत्ताणं, तत्थ गंतूण सिज्झई ॥**[15]

१. सिद्ध अलोक से प्रतिहत होते हैं अर्थात् अलोक से लगकर रूके हैं।
२. सिद्ध लोक के अग्र भाग में अवस्थित है।
३. सिद्ध मनुष्य लोक में शरीर का त्याग करते हैं।
४. सिद्ध लोक के अग्रभाग में जाकर सिद्ध होते हैं।

घर के मध्य भाग में जैसे स्तंभ होता है उसी प्रकार लोक के मध्य में एक रज्जू चौड़ी और चौदह रज्जू* लम्बी त्रस नाड़ी है। त्रस नाड़ी में त्रस, स्थावर जीव रहते हैं शेष समूचा लोक स्थावर जीवों से खचाखच भरा है।

उर्ध्व लोक सात रज्जू से कुछ कम है। इसमें १२ देवलोक, ३ किल्विषी देव, ९ लोकान्तिक देव, ९ ग्रैवेयक देव और ५ अनुत्तर विमान—इन सबके ८४ लाख, ९७ हजार, २३ विमान हैं एवं उसके ऊपर सिद्धशिला है।

मध्यलोक जहाँ हम रहते हैं वह रत्नप्रभा पृथ्वी की छत है। उसके मध्य में

---

*1. एक रज्जू क्षेत्र असंख्य कोड़ा कोड़ योजन का होता है। भगवती शतक 11 उद्देशा 10 में इसकी एक दृष्टान्त से समझाया है। एक हजार भार का गोला कोई इन्द्र तथा देव उर्ध्व लोक से नीचे जोर से फेंके और वह छह महिने, छह दिन, छह प्रहर, छह घड़ी, छह पल में जितनी दूर जाए उतने क्षेत्र को एक रज्जू कहा जाता है। योजन की अपेक्षा सम्पूर्ण लोक असंख्य योजन का है।

2. वैज्ञानिक भी इस लोक को लम्बा-चौड़ा मानते हैं। प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन का कहना है कि प्रकाश की किरणें एक सैकण्ड में एक लाख छियांसी हजार मील चलती है। यदि वे समूचे लोक की परिक्रमा करें तो उन्हें बारह करोड़ वर्ष लग जायेंगे। इतना विशाल है यह लोक।

मेरुपर्वत है। मेरुपर्वत के ठीक मध्य गोस्तन आकार के आठ रूचक प्रदेश हैं। वहाँ से नव सौ योजन ऊपर एवं नव सौ योजन नीचे ऐसे अठारह सौ योजन का मोटा एक रज्जू असंख्य योजन का लम्बा चौड़ा मध्य लोक है। जिसमें जम्बु आदि असंख्य द्वीप और लवण आदि असंख्य समुद्र हैं। व्यन्तर देवों के आवास एवं ज्योतिष देव भी मध्य लोक में हैं। अढ़ाई द्वीप* में मानव निवास हैं। इसमें जघन्य २० और उत्कृष्ट १७० तीर्थंकर, जघन्य दो करोड़ और उत्कृष्ट नव करोड़ अर्हत् (केवल ज्ञानी) तथा जघन्य दो हज़ार करोड़ और उत्कृष्ट नव हजार करोड़ साधु विराजमान रहते हैं।

अधोलोक सात रज्जू से कुछ अधिक हैं। प्रथम **नरक के ऊपर** लोक के बीच में स्थित मेरु पर्वत जमीन में एक हजार योजन **नीचे** होने के कारण अधोलोक का स्पर्श करता है। महाविदेह क्षेत्र की दो विजय **समभूमि** से एक हजार योजन नीचे जाने से मनुष्य व तिर्यञ्च भी अधोलोक में हैं। सात नरक भूमियां अधोलोक में हैं जिनके ८४ लाख नरकावास हैं।

इस प्रकार द्रव्य लोक एक ओर सान्त (अन्त सहित) है, क्षेत्र-लोक असंख्य कोटाकोटि योजन का है—अतः यह भी सान्त है। काल-लोक ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षत, अव्यय, नित्य और अनंत है। उसका कभी अन्त होने वाला नहीं है। भाव-लोक अनंत-अनंत जीव-अजीव द्रव्यों से भरा है अतः यह भी अनादि अनंत है।[१६]

## मेरुदण्ड और मेरुपर्वत : लोक के संदर्भ में

लोक के दो प्रकार हैं—

१. द्रव्य लोक
२. भाव लोक

जिस क्षेत्र में मनुष्य, पशु, पक्षी, पृथ्वी, पानी आदि छह द्रव्यों का निवास है वह द्रव्य लोक और कषाय को भाव लोक कहते हैं। द्रव्य लोक की क्रियाओं में मेरुपर्वत का और भाव लोक की क्रियाओं में मेरुदण्ड का विशिष्ट महत्त्व है। दोनों का तुलनात्मक अध्ययन साधना के क्षेत्र में एक नई दृष्टि देता है।

लोक के चित्र में नाभि-स्थल में मेरुपर्वत बताया है इसलिए इसका अपर नाम लोक नाभि भी है। उसके चारों तरफ सूर्य चन्द्रमा प्रदक्षिणा बद्ध रहा करते हैं। शास्त्रकारों ने मेरु को मल्ल स्तंभ जैसा बताया है। मेरुदण्ड भी मनुष्य के शरीर के मध्य में स्तंभ सदृश होता है। उसके आस-पास सूर्य चन्द्र नाड़ियां चलती हैं।

---

* जम्बूद्वीप, घातकी खण्ड तथा अर्द्धपुष्कर द्वीप

अन्य नक्षत्रों की भांति अन्य अनेक ७२,००० नाड़ियां चलती हैं। मेरुदण्ड का ऊपरी भाग हमारे मस्तिष्क से जुड़ा है। मेरु पर्वत भी ऊपर-नीचे लोक के ऊपरी भाग और अधोभाग को छूता हुआ बताया है। आत्म विकास की दृष्टि से मेरुदण्ड का अत्यधिक महत्त्व है।

मनुष्य का मेरुदण्ड सीधा होने के कारण वह प्राण प्रवाह को नीचे से ऊपर

**लोक का स्वरूप**

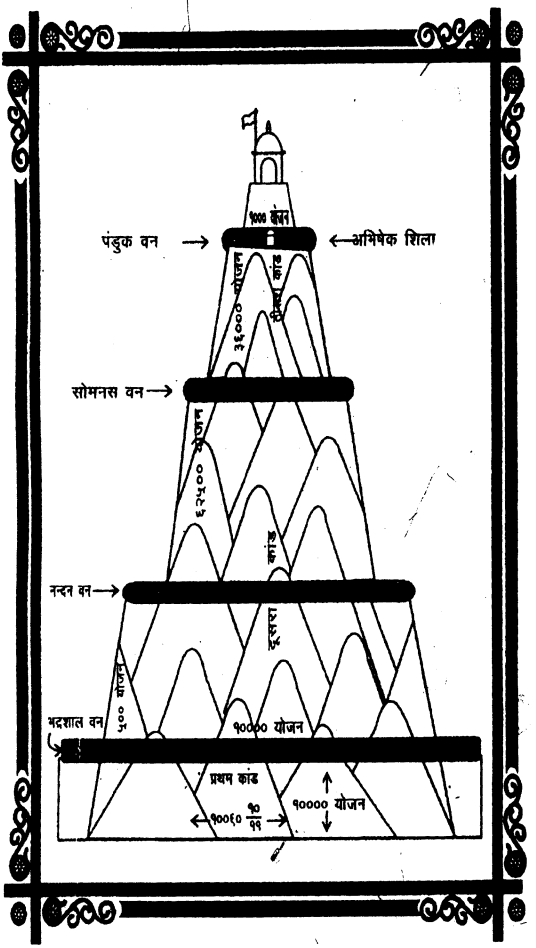


पहुँचाता है। जबकि अन्य वस्तुएं गुरुत्वाकर्षण के कारण नीचे आती हैं। पशुओं का मेरुदण्ड आड़ा, वनस्पति का नीचा, कन्दमूल का अस्त-व्यस्त और कटा हुआ

होता है। परन्तु मेरु पर्वत की तरह मनुष्य का मेरुदण्ड उर्ध्वगमन का प्रतीक है।

मेरु पर्वत के ठीक मध्य में गोस्तन के आकार के आठ रूचक प्रदेश हैं। वहाँ से नव सौ योजन ऊपर और नव सौ योजन नीचे ऐसे १८०० योजन का मोटा एवं एक रज्जू असंख्य योजन का चौड़ा मध्य लोक है। ठीक इसी प्रकार हमारी आत्मा के असंख्य प्रदेश कर्म परमाणुओं से आच्छादित हैं। उनमें भी आठ रूचक प्रदेश होते हैं जो सदैव खाली रहते हैं अर्थात् इन प्रदेशों के ऊपर कभी कोई परमाणु का स्पर्श नहीं हुआ है। इन्हीं आठ रूचक प्रदेशों के कारण हमें स्वयं का बोध रहता है। सिद्धों के सम्पूर्ण आत्मप्रदेश कर्माणु रहित होते हैं। ये रूचक प्रदेश हमारे स्वाधिष्ठान चक्र में हैं।[१७] मेरुपर्वत पर नंदनवन, सोमनसवन और पंडकवन की तरह हमारे मेरुदण्ड में स्वाधिष्ठान चक्र, अनाहचक्र, आज्ञा चक्र हैं। मेरुपर्वत पर मंदिर की तरह हमारे मेरुदण्ड पर मस्तिष्क रहा हुआ है।

जैन दर्शनानुसार तीर्थंकरों के जन्म के समय शकेन्द्र पांच रूप बनाकर उन्हें पंडकवन में ले जाता है। वहाँ अभिषेक शिला पर उनका इन्द्र और देव अभिषेक महोत्सव मनाते हैं। कहा जाता है कि सौधर्म देव १००८ कलशों से क्षीर सागर के जल के द्वारा तीर्थंकरों का अभिषेक करते हैं। तीर्थंकर के शरीर में १००८ शुभ लक्षण होते हैं। श्रीवृक्ष आदि एक सौ आठ तो लक्षण होते हैं तथा तिल, मस आदि नव सौ व्यंजन होते हैं।[१८] अतएव इन्द्र १००८ नेत्रों से उनके दर्शन करता है और १००८ शुभ नामों से संबोधित कर उनकी स्तुति करता है। यही कारण है कि तीर्थंकरों के नाम से आगे श्री श्री श्री १००८ लगाया जाता है।

पंडनवन की तरह हमारा आज्ञा चक्र भृकुटि है। शिला भृकुटि मध्य है। हमारी पांच इन्द्रियां रूप पांच इन्द्र यहाँ इस महत्त्वपूर्ण स्थान पर शुभ भावों से परमात्मा का अभिषेक करती हैं। जब यहाँ की चेतना जागृत होती है, परमात्मभाव विकसित होता है अर्थात् जन्म-मरण की कर्म कषाय शुभ भावों के अभिषेक से धुल जाती है तब आत्मा का शुद्ध स्वरूप परमात्म भाव प्रकट होता है। ऐसा माना जाता है कि शरीर में भृकुटि के मध्य आत्मा का निवास है। इसलिए यहाँ टीका और बिंदी लगाने की प्रथा है। जब इस स्थान पर परमात्म भाव प्रकट होता है तो मैं (आत्मा) और मेरा (मेरा शरीर तो उसके रहने का स्थान है) यह भेद-विज्ञान (सम्यक् ज्ञान) होने से सम्यक् दृष्टि का जागरण होता है।

## लोक भावना

सम्पूर्ण विश्व, जो पुरुषाकृति है का चिंतन करना लोक भावना है। साधक लोक की विविधता का दर्शन कर और उसके हेतुओं का विचार कर अपनी

अन्तस्थित चेतना का ध्यान करें और स्वयं को तटस्थ बनाये रखने का अभ्यास करें। कहा भी है–

**चौदह रज्जू उतंग नभ, लोक पुरुष संठाण।**
**तां मैं जीव अणादि तै, भरतमत है बिन ज्ञान ॥**

## लोक भावना

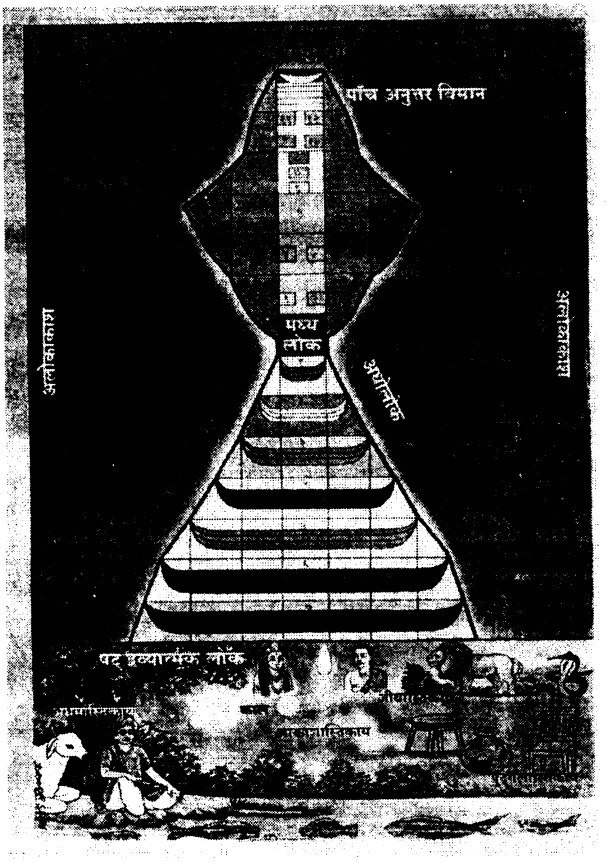


लोक का षट् द्रव्यात्मक स्वरूप समझने का सार यही है कि हम उस स्वरूप का चिंतन करें, जिस लोक में हम रह रहें हैं। जिन पुद्गलों के सहारे हम सुख-दुःख आदि का अनुभव करते हैं–ये सब पर हैं, पुद्गल हैं, जड़ हैं। लोक में चेतना सिर्फ जीव है। जीव भी अपनी सत्-असत् प्रवृत्तियों के कारण कर्मों का उपार्जन करता है और फिर वह कर्मों का फल भोगता है। जैसे बैलों के मुँह पर बारह घंटे छिंकी

बंधाने के कारण भगवान ऋषभ को बारह माह तक आहार-पानी नहीं मिला। ५०० किसान और १००० बैलों को खाने में विलम्ब करने के कारण ढंढण मुनि को अपनी लब्धि की भिक्षा नहीं मिली। पूर्व भव में मुनि पर कलंक लगाने से सीता के शील पर कलंक आया। पूर्व भव में मत्स्य का पंख काटने से दामनक की अंगुली कटी। सुभट के दो पर काटने से कलावती रानी के दो हाथ कटे। बाहुबली ने पूर्व भव में ५०० मुनियों की अग्लान भाव से सेवा की परिणाम स्वरूप इस भव में भरत चक्रवर्ती से भी अधिक शक्तिशाली बने। राजा कुमारपाल ने संघभक्ति से गणधर जैसे महान पद का बंध किया। वे आगामी चौबीसी के प्रथम तीर्थंकर पद्मनाभ के ग्यारहवें गणधर बनेगें।

इस प्रकार कर्म के शुभ-अशुभ स्वरूप का चिंतन करता हुआ व्यक्ति यह चिंतन करता है—"लोक में यह आत्मा अनंत-अनंत बार जन्म-मरण कर चुका है। कभी नरक में, कभी निगोद में तो कभी स्वर्ग की उच्चतम भूमिका तक चला गया है लेकिन जब तक आत्म-स्वरूप की पहचान नहीं होगी तब तक यह भ्रमण ही करता रहेगा। इस अनंत लोक यात्रा का अन्त नहीं आयेगा।

यह लोक श्रद्धा अथवा लोक स्वरूप का विश्वास और चिंतन आत्मा को वैराग्य और निर्वेद की तरफ ले जाता है। लोक की विचित्र स्थितियों का अवलोकन एवं मनन करने से हमारा मन धर्म एवं जिन वाणी के प्रति श्रद्धाशील बनता है तथा जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पाने की खोज करता है। लोक भावना अनादिकालीन लोक यात्रा का अन्त खोजने की कुंजी है।

लोक का स्वरूप समझकर भव भ्रमण से मुक्त होने का प्रयत्न करें यही इसे समझने का सार है। यह धर्म ध्यान का ही एक प्रकार है। शिव राजऋषि ने लोक-स्वरूप भावना का चिंतन करते-करते वैराग्य प्राप्त किया था।[१९] भगवान महावीर ध्यानस्थ हो तीनों लोक का चिंतन करते थे। लोक स्वरूप भावना की अनुप्रेक्षा करते थे।[२०] लोक स्वरूप का चिंतन करना संस्थान विचय धर्मध्यान है।

## लोक भावना की फलश्रुतियां

१. तत्त्व ज्ञान की विशुद्धि।
२. मन का अन्य बाह्य विषयों से हटकर आत्म-केन्द्रित होना।
३. मानसिक स्थिरता द्वारा अनायास ही आध्यात्मिक सुखों की प्राप्ति होना।
४. मोहकर्म का उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय होना।

## निष्कर्ष

अर्हत् सम्पूर्ण लोक के रहस्यों को केवलज्ञान रूपी प्रकाश से प्रकट करते हैं जो हमारी बोधि, समाधि और सिद्धि में सहायक बनते हैं। मैं कौन हूँ? कहाँ हूँ—इसका बोध भी अर्हत् की शरण स्वीकार करने से ही होता है। अर्हत् मोक्ष मार्ग

रूप रत्नत्रयी के उपदेष्टा हैं। इस रत्नत्रयी पर चलने वाले भव्य जीवों की ही मुक्ति संभव है। अतः 'लोगस्स उज्जोयगरे' अर्हतों के लिए यह विशेषण अपनी सार्थकता रखता है।

## संदर्भ


१. तीर्थंकर चरित्र भाग १, पृ./५३
२. भक्तामर–श्लोक ६
३. ठाणं–४, सूत्र ४३६
४. पर्युषण साधना–पृ./८१
५. आचारांग–१.३.२
६. उत्तराध्ययन–३/७
७. भगवती–१३/५३, जैन सिद्धान्त दीपिका
८. आचारांग–१.३.४. सूत्र ६७
९. उत्तराध्ययन–७
१०. K.V. Mardia: The Scientific Foundations of Jainism. P. 92-93—शक्ति और शांति का स्रोत णमोक्कार महामंत्र, पृ./११० से उद्धृत
११. जैन सिद्धान्त दीपिका–१/९
१२. ठाणं–१०/१
१३. अंगसुत्ताणि २ (भगवई) ११/९१
१४. उत्तराध्ययन–३६/३४
१५. वही
१६. भगवती शतक २, उद्देशा १ स्कन्ध प्रश्न
१७. लोगस्स एक दिव्य साधना
१८. अष्टणाहुड़-दर्शन पाहुड़, पृ./35, 36
१९. भगवती–11/9
२०. आयारो–४/१४

# १२. लोगस्स एक धर्मचक्र-२

**जब मंत्राक्षरों का आवर्त्तन, प्रत्यावर्त्तन, स्मरण, रटन, कीर्तन एवं वंदन होता है, तब शरीरस्थ चैतन्य-केन्द्रों में एक विशेष प्रकार की ऊर्जा उत्पन्न होती है। वह ऊर्जा हमें परम अस्तित्व की साक्षी का और स्वरूप की समानता का बोध कराती है। यह ऊर्जामय आवर्त्तन ही श्रद्धा का केन्द्र बिन्दु है। मस्तिष्क की चेतना श्रद्धा से सक्रिय, वंदना से उत्तेजित, भक्त से भावित, समर्पण से स्रावित, शब्दों से भाषित तथा कीर्तन से घर्षित होती है।**

लोक में द्रव्य और भाव—इस उद्योत द्वय को उद्भाषित करने के कारण तीर्थंकरों को लोक-उद्योतकर की संज्ञा से अभिहित, अभिमंडित किया गया है। लोक में भाव उद्योत अर्थात् धर्म का उद्योत फैलाने के लिए तीर्थंकर धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं। इस दृष्टि से वे अपने युग के आदि कर्ता कहलाते हैं। निस्संदेह वे सत्य द्रष्टा और सत्य के प्रतिपादक होते हैं। सभी तीर्थंकर केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् ही धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं। इस स्थापना के तदनन्तर वे जब भी विहार आदि गमन क्रिया करते हैं, धर्मचक्र उनके आगे-आगे चलता है। तीर्थ स्थापना कर 'धम्म तित्थयरे' पद पर सुशोभित होते हैं अतिशयों के साथ, तब कई जिज्ञासाएं मानस पट को आन्दोलित करती हैं, जैसे—तीर्थंकर साधना के प्रारंभ में अकेले रहते हैं किंतु केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् वे संघ में रहते हैं, उपदेश देते हैं, विहार करते हैं और जन संपर्क करते हैं, ऐसा क्यों?

जिज्ञासाओं की गहराई में शास्त्राभ्यास अथवा गुरु गम्य ज्ञान से उपरोक्त तथा इस प्रकार की अन्य जिज्ञासाओं का निष्कर्ष निकलता है...संकप्पेसेण...। उनका भी कर्मभोग शेष रह जाता है। कुछ कर्म बच जाते हैं। उन शेष बचे हुए अघात्य कर्मों को समाप्त करना और जनता को जागृत करना, यही उद्देश्य है तीर्थंकरों के द्वारा संघ प्रवर्त्तन का।

लोगस्स के प्रथम पद्य में समागत स्वरूपगत पांच विशेषणों में से एक

विशेषता को विश्लेषित करने के पश्चात् इस अध्याय में शेष चार विशेषणों को चुंबक रूप में समझाने का प्रयास किया गया है जो निम्न हैं–

१. धम्मतित्थयरे
२. जिणे
३. अरहंते
४. केवली

## १. धम्मतित्थयरे–धर्मतीर्थ के कर्त्ता/संस्थापक

जगत् में जो परिवर्तन होता है, उसे हम काल के माध्यम से जानते हैं। प्रत्येक काल के प्रथम चक्रवर्ती व प्रथम तीर्थंकर तीसरे आरे में और शेष तेईस तीर्थंकर तथा ग्यारह चक्रवर्ती चौथे आरे में होते हैं। इसे समझने के लिए काल-चक्र को समझना जरूरी है। प्रत्येक काल-चक्र बीस कोटाकोटि सागरोपम का होता है। काल परिवर्तन का सूचक है। काल के बिना कोई परिवर्तन नहीं होता। यह परिवर्तन की सूचना करने वाला प्रतीक चक्र है। इस अपेक्षा से काल को चक्र के रूप में चित्रित किया जाता है। जैन दर्शनानुसार काल एक स्वतंत्र द्रव्य है। काल को समझने हेतु उसके अनेक विभाग किये गये हैं। उसका सबसे सूक्ष्म विभाग है समय। समय से अधिक जो कालमान है उसे हम पल, घड़ी, घंटा आदि व्यावहारिक काल के रूप में जानते हैं।

काल एक अमूर्त्त द्रव्य है। वस्तुओं के परिणाम तथा क्रिया के द्वारा व्यवहार काल का ज्ञान होता है। व्यवहार काल कभी उन्नति की ओर तो कभी अवनति की ओर सदा परिणमनशील रहता है। काल की पतनोन्मुखी गति को अवसर्पिणी काल और विकासोन्मुखी गति को उत्सर्पिणी काल कहा जाता है। अवसर्पिणी काल में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, संहनन, संस्थान, आयु, शरीर तथा सुख आदि पर्यायों की क्रमशः अवनति तथा उत्सर्पिणी काल में इनमें विकास देखा जाता है। प्रत्येक व्यवहार काल के छह विभाग होते हैं–

१. सुषम–सुषमा
२. सुषमा
३. सुषम-दुषमा
४. दुषम–सुषमा
५. दुषमा
६. दुषम-दुषमा

इस अवसर्पिणी काल के सुषम-दुषमा नामक तीसरे काल विभाग में धर्म

तीर्थ की उत्पत्ति प्रथम तीर्थंकर ऋषभ द्वारा हुई। यद्यपि धर्म शाश्वत हैं। इसे न तो कोई पैदा करने वाला है और न ही नष्ट करने वाला। क्योंकि धर्म तो वस्तु का स्वभाव है, आत्मा का स्वभाव है, किंतु व्यवहार में धर्म का मार्ग कैसे जाना जा सकता है? उसकी प्राप्ति में क्या-क्या रूकावटें हैं? उसका सही रूप क्या है? उससे समाज और व्यक्ति का भला कैसे हो सकता है? समाज का निर्माण कैसे हो सकता है? इत्यादि महत्त्वपूर्ण तथ्यों का आधार धर्मतीर्थ में निहित है और यही धर्म तक पहुँचाने का व्यवहार मार्ग है।

तीर्थंकर शब्द का अर्थ भी यही है—धर्मतीर्थ को चलाने वाला। चलते-चलते जब किन्हीं कारणों से नदी सूख जाती है, तब उसे प्रवाहित करने के लिए जो प्रयत्न किया जाता है, उसे प्रवर्त्तन कहते हैं। ऐसे ही धर्मरूपी नदी के सूख जाने पर उसे चालू करने का महान कार्य 'जिन' बनने पर जिन महापुरुषों ने किया, उसे हम तीर्थंकर नाम से जानते हैं। 'तीर्थंकर' शब्द जैन साहित्य का पारिभाषिक शब्द है। जैन धर्म में ऐसे तीर्थंकरों की संख्या चौबीस मानी गई है। चौबीस ही तीर्थंकर अपने-अपने समय में धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि जैन धर्म अनादि कालीन धर्म है, ढाई या पांच हजार वर्ष पहले यह शुरू नहीं हुआ। अर्हत् ऋषभ, अर्हत् पार्श्व अथवा अर्हत् महावीर ने तो केवलज्ञान प्राप्ति के बाद संसार को पार करने का सच्चा मार्ग जानकर वह मार्ग प्रदर्शित किया। वे भी अंतिम भव में—तीर्थंकर बनने के पूर्व मनुष्य भव में अपने पूर्ववर्ती अन्य तीर्थंकरों द्वारा प्रवर्तित मार्ग स्वरूप जैन धर्म का आचरण करके ही इस भव में तीर्थंकर हुए हैं। इन तीर्थंकर भगवन्तों ने नया जैन धर्म स्थापित या शुरू नहीं किया। वह पहले से ही है। जब से संसार है (और मोक्ष है) तब से उसे तरने का मार्ग स्वरूप जैन धर्म भी है ही। केवलज्ञान के प्रभाव से नए-नए तीर्थंकर इस भरतक्षेत्र में इसे प्रकाशित करते हैं और महाविदेह क्षेत्र में तो हमेशा तीर्थंकर भगवान होते ही हैं और वे इस धर्म की धारा प्रवाहित करते ही रहते हैं। अध्यात्म कर्मभूमि भारत पर इस अवसर्पिणी काल में प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभ और चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर थे।

## तीर्थ शब्द की मीमांसा

'तीर्यतेऽनेनेति तीर्थम्'—जिसके द्वारा तरा जाये उसे तीर्थ कहते हैं। वह द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का हैं।[1]

१. द्रव्य तीर्थ—नदी आदि का घाट तथा वह भू भाग जो सम हो, अपाय से रहित हो अथवा भूतवादियों का प्रवचन द्रव्य तीर्थ है।

२. भाव तीर्थ—ज्ञान-दर्शन-चारित्र का संघात होने से साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका संघ भाव तीर्थ है।

भाव तीर्थ तीन प्रकार का है—

१. प्रवचन
२. चतुर्विध संघ
३. गणधर

प्रवचन वीतराग वाणी है। संघ ज्ञान और चारित्र का संघात है तथा गणधर श्रुतज्ञान के धारक हैं अतः तीनों ही भाव तीर्थ की गणना में आते हैं। उनके द्वारा भव्य प्राणी अपना कल्याण करते हैं।

इसके आधार पर तीर्थ धर्म के तीन अर्थ होते हैं—

१. गणधर का धर्म—शास्त्र परम्परा को अविच्छिन्न रखना।[२]
२. प्रवचन का धर्म—स्वाध्याय करना।[३]
३. चतुर्विध संघ का धर्म—आध्यात्मिक आराधना।

स्कन्दक पुराण के अनुसार सत्य, क्षमा, इंद्रिय निग्रह, जीवदया, सरलता, दान, दया, संतोष, ब्रह्मचर्य, मीठी वाणी, ज्ञान, धृति और तप—ये सब तीर्थ हैं किंतु मन की विशुद्धि सब तीर्थों में उत्कृष्ट तीर्थ मानी गई है।[४] पद्मपुराण में कहा गया है जिसके हाथ, पैर एवं मन संयमित हैं तथा जो विद्या (ज्ञान) तप और कीर्तिमान हो उसको तीर्थ का फल मिलता है।[५] इंद्रिय दमन करने वाला जहाँ भी निवास करता है उसके वहीं पर नैमिषारण्य, कुरुक्षेत्र एवं पुष्कर हैं।[६] राग-द्वेष को धोने वाले ध्यान से पवित्र किये हुए ज्ञान जल वाले मानस तीर्थ में जो स्नान करता है वह परमगति को प्राप्त होता है। उत्तराध्ययन सूत्र में हरिकेश मुनि से कुछ जिज्ञासाएं तीर्थ के संबंध में की गईं—

- आपका नद (जलाशय) कौन-सा है?
- आपका शांति तीर्थ कौन-सा है?
- आप कहाँ नहाकर कर्मरज धोते हैं?[७]

इनके समाधान में कहा गया—

- अकलुषित एवं आत्मा का प्रसन्न लेश्या वाला धर्म मेरा नद (जलाशय) है।
- ब्रह्मचर्य मेरा शांति तीर्थ है।
- जहाँ नहाकर मैं विमल विशुद्ध और सुशीतल होकर कर्म रज का त्याग करता हूँ।[८]

इसी तथ्य को भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर से कहा—जिसमें धैर्य रूप कुण्ड और सत्य रूप जल भरा हुआ है तथा जो अगाध, निर्मल एवं अत्यन्त शुद्ध है उस

मानस तीर्थ में सदा परमात्मा का आश्रय लेकर स्नान करना चाहिए। शरीर को केवल पानी में भीगों लेना ही स्नान नहीं कहलाता। सच्चा स्नान तो उसी ने किया है जिसने मन, इंद्रिय के संयम रूपी जल में गोता लगाया है वही बाहर और भीतर से पवित्र माना गया है।[६]

कहा जाता है कि गौ हत्या के पाप को धोने के लिए श्री कृष्ण की अनुमति लेकर पांडव सपरिवार तीर्थ करने के लिए गये। श्री कृष्ण ने उन्हें अपनी तुंबी देते हुए कहा–जिस तीर्थ में तुम एक बार नहाओं उस तीर्थ में इसे दो बार नहला देना। अस्तु! कहकर पांडव पुष्कर, कुरुक्षेत्र आदि अनेक तीर्थों में घूमे एवं स्वयं नहाकर तुम्बी को भी नहलाया। लौटते समय उसे गंगा जल से भर लाए। तुम्बी ज्योंहि श्री कृष्ण के चरणों में उपस्थित की गई उन्होंने उसका एक टुकड़ा तोड़कर मुँह में लेते हुए कहा–

**एरे तुंबड़ी कड़वी रे भाई, सब तीरथ फिर आई।**
**गंगाजी नहाई, गोमतीजी नहाई, अजु न गई कडवाई।**
**जिया मांजता क्यों न मना रे, जामें अन्तर मैल घना रे॥**

भाईयों तुमने इस तुंबी को पुरे तीर्थ नहीं करवाये, अन्यथा यह अवश्य मीठी हो जाती। चौककर पांडवों ने उत्तर दिया–भगवान! क्या पानी से धोने पर कड़वी वस्तु कभी मीठी हो सकती है?

श्री कृष्ण मुस्कराकर बोले–यदि नहीं होती तो फिर तुम्हारी आत्मा कैसे शुद्ध हुई? विस्मित युधिष्ठिर ने पूछा–तो फिर पाप शुद्धि के लिए हमें क्या करना चाहिए? प्रत्युत्तर में श्री कृष्ण ने कहा–

**आत्मा नदी संयम पुण्य तीर्था, सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः।**
**तत्राभिषेकं कुरु पांडुपुत्र! न वारिणा शुद्धयति चान्तरान्मा॥**[६]

इंद्रियों का संयम ही जिसका पुण्य तीर्थ है, सत्य जिसका जल है, शील जिसका किनारा है और दया जिसमें लहरियों की माला है, हे युधिष्ठिर! ऐसी आत्मा रूपी नदी में स्नान करो। केवल पानी में स्नान करने पर अन्दर की आत्मा शुद्ध नहीं हो सकती।

श्रीमद् राजचन्द्र ने बहुत यथार्थ कहा है कि केवल ताप सहने से ही मुक्ति मिल जाती तो पतंगा, तितली आदि दीपक की असह्य ज्वाला को सहन करते हुए उसमें जल जाते हैं उनको तो मुक्ति मिलनी ही चाहिए न? जल में स्नान करने से ही मोक्ष मिल जाता है तो जलचर जीव तो हमेशा जल में ही रहते हैं, उनका तो मोक्ष सबसे पहले होना चाहिए? जटा धारण करने से ही मुक्ति मिल जाती हो तो

*वह वटवृक्ष तो कितनी विशाल जटा धारण करता है उसे तो मोक्ष में जाना ही* चाहिए? मुंडन करने से ही मोक्ष मिलता होता तो भेड़, बकरी को मोक्ष मिल जाता? शरीर पर राख लगाने से ही मोक्ष मिलता होता तो गधा कब का ही मोक्ष पहुँच गया होता? कष्ट सहन करने मात्र से ही मोक्ष प्राप्त होता तो वृक्ष तो कितने कष्ट सहता है, उसकी मुक्ति तो होनी ही चाहिए? केवल नाम रटने से ही मुक्ति मिलती होती तो तोते की मुक्ति क्यों नहीं होती? सिर्फ ध्यान से ही मोक्ष हो जाता तो बगुला क्यों पीछे रहता? लेकिन हे साधक! केवल क्रिया से नहीं क्रिया के साथ-साथ भाव विशुद्धि होगी तब ही आत्मा शनैः शनैः शुक्ल ध्यान की तरफ बढ़ेगी और मोक्ष को प्राप्त करेगी। कर्मों के बंधन से मुक्त होगी।

तीर्थ शब्द की उपर्युक्त व्याख्याओं से यही निष्कर्ष निकलता है कि भाव-*तीर्थ, मानस तीर्थ ही आत्मशुद्धि का साधन है।*

## तीर्थ और तीर्थंकर

गणधर गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—भंते! तीर्थ को तीर्थंकर कहा जाता है या तीर्थंकर को तीर्थ कहा जाता है।

भगवान ने कहा—गौतम! अर्हत् तीर्थ नहीं होते, वे तीर्थंकर होते हैं, चतुर्विध संघ तीर्थ कहलाता है।[१०]

इन चारों तीर्थों में प्रथम दो तीर्थ अनगार धर्म स्वीकार करने वाले व अंतिम दो तीर्थ गृहस्थ धर्म का निर्वाह करते हुए सात्विक एवं संयमित जीवन जीने वाले होते हैं। ये चारों तीर्थ जैन शासन के महास्तंभ हैं। भगवान ऋषभ से लेकर भगवान महावीर तक सभी तीर्थंकरों के प्रथम प्रवचन में ही तीर्थ स्थापना हो चुकी थी परन्तु भगवान महावीर के द्वितीय प्रवचन में धर्मतीर्थ की स्थापना हुई। भगवान महावीर के शासन में इन तीर्थों की संख्या क्रमशः १४,००० (साधु), ३६,००० (साध्वियां), १ लाख ५९ हजार (श्रावक) तथा ३ लाख १८ हजार (श्राविकाएं) थीं।

जैन धर्म में तीर्थंकर को एक आदर्श प्रेरणास्रोत के रूप में माना गया है। उनसे आध्यात्मिक प्रेरणा प्राप्त होती है। जैन परम्परा में तीर्थंकर के जन्म का प्रयोजन भी धर्म की स्थापना ही होता है। संसार के प्राणियों का दुःख और पीड़ा कम हो इस उद्देश्य से तीर्थंकर तीर्थ की स्थापना करते हैं।

तीर्थंकर चतुर्विध संघ की स्थापना करके भव्य जीवों के कल्याणार्थ मार्ग प्रशस्त बनाते हैं। उनके अमृतोपम उपदेश सागर वत् गहन एवं विस्तृत हैं। उन्हें गागर में भरने तुल्य ग्यारह अंग और बारह उपांग आदि शास्त्र हैं।

अर्हत् जैसे सिद्ध को नमस्कार करते हैं वैसे श्रुत को भी नमस्कार करते हैं।

इसके समर्थन में वृत्तिकार ने 'नमस्तीर्थाय' इस वाक्य को उधृत किया है। तीर्थ का अर्थ श्रुत है उसका आधार होने के कारण संघ भी तीर्थ कहलाता है।[११] अर्हत् सिद्धों को नमस्कार करते हैं इसका समर्थन आचार चूला से होता है।[१२] अर्हत् तीर्थ को नमस्कार करते हैं यह आगम द्वारा समर्थित नहीं है। आगम युग के बाद की अवधारणा है।

वृत्तिकार ने इसके प्रमुख तीन प्रयोजन प्रस्तुत किये हैं–

१. तीर्थ के कारण ही तीर्थंकर कहलाते हैं।
२. पूजित पूजा–अर्हत् स्वयं पूजनीय होते हैं। उनके द्वारा तीर्थ की पूजा होने से तीर्थ की प्रभावना वृद्धिंगत होती है।
३. धर्म का मूल विनय–इसकी प्रस्थापना होती है।

इस सारे विश्लेषण के निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि निम्नोक्त तीर्थंकर-महिमा के महनीय गुणों के कारण "धम्मतित्थयरे" संबोधन की सार्थकता स्वयं सिद्ध है–

- जन्म संबंधी अतिशय
- वाक् अतिशय
- पूजा अतिशय
- महाप्रातिहार्य
- समवसरण में देशना
- क्षत्रिय कुलोत्पन्न
- राजा महाराजाओं को दीक्षा
- अमित बल वीर्य
- अमित सौन्दर्य
- प्रवचन दिव्यता
- देवों द्वारा अर्चित
- नाम और गोत्र एकान्त शुभ
- विशिष्ट शिष्य संपदा

## २. जिणे

तीर्थंकरों की परम्परा अनादिकालीन है। ऋषभादि तीर्थंकरों की शरीर संपदा और भगवान महावीर की शरीर संपदा में अत्यन्त वैलक्षण्य होने पर भी सभी के धृति, शक्ति और शरीर रचना का विस्तार किया जाये तथा उनकी आन्तरिक योग्यता–केवलज्ञान का विचार किया जाये तो उन सभी की योग्यता में कोई भेद

न होने के कारण उनके उपदेश में कोई अन्तर नहीं हो सकता।[13] आचारांग में कहा गया है—जो अरिहंत हो गये हैं, जो अभी वर्तमान में अर्हत् हैं और जो भविष्य में अर्हत् होंगे उन सभी का एक ही उपदेश है कि किसी प्राण, भूत, जीव, सत्त्व की हिंसा मत करो, उन पर अपनी सत्ता मत जमाओं, उनको गुलाम मत बनाओं और उनको मत सताओं। यही धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और विवेकी पुरुषों ने बताया है।[14]

सभी तीर्थंकरों को अपनी विशिष्ट साधना के द्वारा राग-द्वेष के क्षीण होने पर आत्म-ज्ञान के आलोक में जो सत्य उपलब्ध होता है, उन्हें वे जन-जन तक पहुँचाते हैं। उस समय राग-द्वेष विजेता होने के कारण वे 'जिन' कहलाते हैं। जिन नाम से ही जैन धर्म प्रचलित हुआ। जिन शब्द किसी व्यक्ति विशेष का नाम न होकर यह उस आध्यात्मिक शक्ति का संबोध शब्द है जिससे व्यक्ति ने राग-द्वेष रूप प्रियता-अप्रियता की स्थिति से अपने आपको उपरत कर लिया हो। इस प्रकार 'जिन', सर्वज्ञ, अन्तश्चक्षु और ज्ञान के तेजस्वी सूर्य होते हैं।

जैन अनुयायियों के एक मात्र आदर्श होते हैं—'जिन'। वीतरागता से परिपूर्ण केवली 'जिन' कहलाते हैं और उनके भी इन्द्र 'जिनेन्द्र' कहलाते हैं। इस 'जिनेन्द्र' शब्द से तीर्थंकर भगवान का ग्रहण होता है। 'जय-जिनेन्द्र' यह अभिवादन शब्द जैनों की अतिरिक्त पहचान कराता है। जैन साधकों, आराधकों व उपासकों के लिए 'जिन' ही साध्य, आराध्य और उपास्य होते हैं। उनकी श्वास-श्वास में यह विश्वास ध्वनित होता है—

**जिन समरो जिन चिंतवो, जिन ध्यावो चित्त शुद्ध।**
**ते ध्यान थी क्षण एक मां, लहो परम पद शुद्ध ॥**

## ३. अरहंते

सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में 'अरिहंत' शब्द अतिशय पूज्य आत्मा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसका अति प्राचीन इतिहास है। जैन वाङ्मय के अति प्राचीन ग्रंथों में तो इस शब्द का प्रयोग हुआ ही है, किंतु वैदिक, बौद्ध एवं संस्कृत वाङ्मय में भी इस शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने बोध पाहुड़ में अरिहंत के गुणों का वर्णन करते हुए लिखा है—

**जरवाहि जम्म मरणं चउगइगमणं च पुण्णं पावं च ।**
**हंतूण दोष कम्मे हुउनाणमयं च अरहंतो ॥**[15]

अर्थात् जिन्होंने जरा, व्याधि, जन्म, मरण, चतुर्गति गमन, पुण्य, पाप—इन

दोषों तथा कर्मों का नाश कर दिया है और जो ज्ञानमय हो गये हैं, वे अरिहंत हैं।

अरहंत की इन विशेषताओं को पंचाध्यायी में इस प्रकार कहा गया है–

**दिव्यौदारिकदेहस्था धौतघातिचतुष्टयः ।**
**ज्ञान दृगूवीर्य सौख्याढ्यः सौऽर्हन धर्मोपदेशकः ॥**[१५]

बौद्ध वाङ्मय में भी अरहंत शब्द महात्मा बुद्ध के लिए प्रयुक्त प्रयोग है। अरहंत के जो गुण पाली साहित्य में कहे गये हैं वे बहुत अंशों में जैन अरहंत के गुणों से समानता रखते हैं। पाली भाषा में बौद्ध आगम 'धम्म पद' (त्रिपिटक) में 'अरहंत वग्गो' नामक एक प्रकरण है, इसमें दस गाथाओं में अरहंत का वर्णन किया गया है। धम्मपद के अनुसार अरहंत वह होता है जिसने अपनी जीवन यात्रा समाप्त कर ली है, जो शोक रहित है, जो संसार से मुक्त है, जिसने सब प्रकार से परिग्रह को छोड़ दिया है और जो कष्ट से रहित है।

**गतद्धिनो विसोकस्स विप्पमुत्तस्स सव्वधि।**
**सव्वगथपहीनस्स परिलाहो न विज्जन्ति ॥**[१७]

ऐसा अरहंत जहाँ कहीं भी विहार करता है वह भूमि रमणीय (पवित्र) है–

**यस्यारहन्तो विहरन्ति तं भूमिं रमणेभ्यकः ।**[१८]

आवश्यक सूत्र में अरहंत के तीन अर्थ किये हैं–

१. पूजा की अर्हता होने के कारण अरहंत।[१९]

२. अरि का हनन करने के कारण अरिहंत।

३. रज कर्म का हनन करने के कारण अरिहंत।[२०]

जैन धर्म में पांच अवस्थाओं से संपन्न आत्मा सर्वोत्कृष्ट एवं पूज्य मानी गई है, उनमें अरिहंत सर्वप्रथम है। अरिहंत किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं, वह तो आध्यात्मिक गुणों के विकास से प्राप्त होने वाला महान मंगलमय पद है। इसी कारण अनादि निधान मंत्र में उन्हें सर्वप्रथम नमस्कार किया गया है–णमो अरहंताण, णमो सिद्धाणं...। सिद्धो के स्वरूप का अनुभव अरिहंत ही करते हैं और वे ही संसार के भव्य प्राणियों को सिद्धों की पहचान कराते हैं इसलिए सिद्धों से पूर्व उन्हें नमस्कार किया गया है।

जैन दर्शनानुसार अरहंत परमात्मा आत्म-स्वरूप को उपलब्ध, राग-द्वेष से मुक्त किंतु आंशिक कर्म (भवोपग्राही कर्म) युक्त एवं देहधारी होते हैं। चार घनघाती रूप कर्म शत्रुओं का क्षय करने के कारण तीर्थंकर अरिहंत कहलाते हैं। वे एक साधारण मनुष्य की तरह जन्म लेते हैं, साधारण मनुष्य की तरह जीते हैं।

कुछ अरिहंत गृहस्थ जीवन में रहते हुए विवाह करते हैं और कुछ राज्य व्यवस्था का संचालन भी करते हैं। वे साधारण मनुष्य होकर भी कुछ बातों में असाधारण होते हैं। अपनी असाधारण उत्कृष्ट विशेषताओं के कारण उनका जीवन व्यवहार परिवार के बालकों से विलक्षण होता है। वे दीक्षा लेकर केवलज्ञान की प्राप्ति तक साधना करते हैं। इस प्रकार अरिहंत असाधारण वीर्य और शक्ति के प्रभाव से वस्तु स्वरूप के ज्ञाता होते हैं, उनकी वाणी में असाधारण बल होता है। केवलज्ञान की प्राप्ति से पूर्व वे द्रव्य अर्हत् और केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद भाव अर्हत् कहलाते हैं। भाव अरिहंत ही नमस्कार महामंत्र के प्रथम अरिहंत पद पर प्रतिष्ठित और अभिमंडित हो नमस्करणीय होते हैं।

उपरोक्त सारे संदर्भ का जब मैं लोगस्स के प्रथम पद्य में अन्वेषण करती हूं तो कुछ जिज्ञासाएं शोध के लिए प्रेरित करती हैं। क्या अरिहंत भगवान को तीर्थंकर कह सकते हैं, यदि नहीं तो दोनों में क्या अन्तर है? अरहंतों के कितने प्रकार है? इत्यादि।

- क्या अरिहंत भगवान को तीर्थंकर कह सकते हैं?

नहीं, अरिहंत भगवान को तीर्थंकर नहीं कह सकते लेकिन तीर्थंकर भगवान को अरिहंत भगवान कह सकते हैं इसलिए अरिहंतों को नमस्कार करने से तीर्थंकरों को भी नमस्कार हो जाता है।

सामान्यतः शब्दों के अर्थ दो प्रकार के होते हैं–

१. निरुक्त अर्थ
२. व्युत्पत्ति अर्थ

शब्द में आए हुए अक्षरों का आधार लेकर जो अर्थ करते हैं वह निरुक्तार्थ हैं जैसे कि श्रावक शब्द का अर्थ–श्र–श्रद्धा, व–विवेक, क–क्रिया–करना। ये तीन गुण जिसमें हों वह श्रावक है। इस तरह अंतरंग शत्रुओं का नाश करने वाला (अरि-दुश्मन, हंत-हनने वाला) अरिहंत शब्द का ऐसा जो अर्थ है, वह निरुक्तार्थ है और संस्कृत के धातु तथा प्रत्यय से कारक के अनुसार जो अर्थ होता है वह व्युत्पत्ति अर्थ कहलाता है, जैसे शृणोतीति श्रावकः–जो गुरु का वचन सुनता है वह श्रावक है वैसे ही अरिहंत शब्द में मूल अर्ह धातु है, योग्य, लायक ऐसा उसका अर्थ है। जगत् में सामान्य मनुष्य में जो घटित न हो ऐसे ३४ अतिशयों के योग्य है वे अर्हन्त अर्थात् अरिहन्त कहलाते हैं। यह व्युत्पत्ति अर्थ है।

पहले निरुक्त अर्थ के अनुसार तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव आदि और तीर्थंकर हुए बिना केवल ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष में जाने वाले सामान्य केवल ज्ञानी–इस तरह दोनों को अरिहंत कहा जाए, क्योंकि दोनों प्रकार के परमात्मा

आत्मा के शत्रुओं का हनन करने वाले हैं परन्तु बाद वाली व्युत्पत्ति अर्थ के अनुसार मात्र तीर्थंकर परमात्मा को ही अरिहंत कहा जाता है, सामान्य केवली भगवान इस पद में नहीं आते।

अरिहंत बनने वाले तीर्थंकर भगवान भी सर्व कर्मों का क्षय होने पर यह अन्तिम मानव भव पूर्ण कर मोक्ष में जाते हैं तब उन्हें भी सिद्ध कहते हैं और तीर्थंकर पद पाए बिना पुण्डरीक स्वामी, जम्बु स्वामी, गौतम स्वामी आदि जो सर्व कर्म क्षय कर मोक्ष में जाते हैं तब उन्हें भी सिद्ध कहते हैं। इस तरह दोनों अवस्थाओं में सिद्ध बनने वालों को नमस्कार किया गया है। ये अरिहंत और सिद्ध इस तरह दोनों प्रकार के परमात्मा होते हैं।

- अरिहंत (सर्वज्ञ) और तीर्थंकर में सामान्य अन्तर क्या है?

१. अरिहंत संख्या में जघन्य २ करोड़ उत्कृष्ट ९ करोड़ होते हैं परन्तु तीर्थंकर संख्या में जघन्य २० उत्कृष्ट १७० होते हैं।

२. अरिहंत एक स्थान पर एक साथ कई हो सकते हैं पर तीर्थंकर एक स्थान पर एक समय में एक ही होंगे।

३. अरिहंत भगवान के शरीर पर १००८ शुभ लक्षण की अनिवार्यता नहीं पर तीर्थंकर भगवान के ये लक्षण अनिवार्यतः होते हैं।

४. अरिहंत पूर्व जन्म सम्यक्त्वी हो कोई नियम नहीं पर तीर्थंकर पूर्वजन्म में दो भव से नियमतः सम्यक् दृष्टि होते हैं।

५. भरत, बाहुबलि, राम, हनुमान, लव, कुश, इन्द्रजीत, कुंभकरण आदि गृह त्याग संन्यस्त हो अरिहंत बने तथा आदिनाथ (ऋषभ), अजित, यावत्, महावीर तीर्थंकर बने।

६. तीर्थंकर पंच कल्याणक से युक्त होते हैं, अरिहंत नहीं।

७. चार अघाती कर्मों में तीर्थंकर के एक वेदनीय कर्म शुभ व अशुभ शेष तीन कर्म एकान्त शुभ होते हैं। अरिहंत के चार अघाती कर्मों में एक आयुष्य कर्म शुभ, शेष तीन कर्म शुभ व अशुभ दोनों होते हैं।

इस प्रकार अनेक दृष्टियों से अरिहंत व तीर्थंकर में अन्तर* पाया जाता है पर दोनों के केवलज्ञान में कोई अन्तर नहीं है। अनंत चतुष्ट्य से दोनों युक्त हैं, उसमें कोई अन्तर नहीं है।

लोगस्स में जो विशेषण दिये गये हैं वे तीर्थंकर अरिहंतों को लक्ष्य करके ही दिये गये हैं।

---

* विशेष जानकारी के लिए देखें तीर्थंकर चरित्र पृ./8, वीतराग वंदना, पृ./166-168

- अरिहंत कितने प्रकार के हैं?

दिगम्बर साहित्य में अरिहंत के सात भेद विवर्णित हैं[२१]–

१. तीर्थंकर केवली अरिहंत
२. सामान्य केवली अरिहंत
३. मूक केवली अरिहंत
४. अन्तकृत केवली अरिहंत
४. उपसर्ग केवली अरिहंत
६. अनुबद्ध केवली अरिहंत
७. समुद्घात केवली अरिहंत

१. तीर्थंकर केवली अरिहंत–केवलज्ञान के पश्चात् तीर्थंकर होने वाले अरिहंत, जैसे २४ तीर्थंकर।

२. सामान्य केवली अरिहंत–केवलज्ञानी अरिहंत, जैसे हनुमान आदि।

३. मूक केवली अरिहंत–जो अरिहंत भगवान केवलज्ञान प्राप्ति के पश्चात भी मौन रहते हैं, जैसे भरत चक्रवर्ती के ९२३ पुत्र।

४. अन्तकृत केवली अरिहंत–जो मुनि बनकर अन्तमुर्हूर्त में ही चार घाती कर्मों को क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्धत्व को प्राप्त कर लेते हैं वे अन्तकृत केवली अरिहंत कहलाते हैं, जैसे भरत चक्रवर्ती।[२२]

५. उपसर्ग केवली अरिहंत–जिन्हें उपसर्ग के बाद केवलज्ञान प्राप्त हुआ वे उपसर्ग केवली अरिहंत कहलाते हैं जैसे तीन पांडव–युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन आदि।[२३]

६. अनुबद्ध केवली अरिहंत–जिन मुनियों को बंधे हुए क्रम से केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई हो वे अनुबद्ध केवली अरिहंत कहलाते हैं, जैसे भगवान महावीर के निर्वाण के दिन ही इन्द्रभूति गौतम गणधर को केवलज्ञान हुआ। गौतम गणधर मोक्ष प्राप्ति के दिन आर्य सुधर्मा को केवलज्ञान हुआ तथा आर्य सुधर्मा के निर्वाण के दिन जम्बु स्वामी को केवलज्ञान हुआ। अतः ये तीनों अनुबद्ध केवली अरिहंत कहलाते हैं।

७. समुद्घात केवली अरिहंत–जो अरिहंत भगवान समुद्घात करके मोक्ष जाते हैं। वे समुद्घात केवली अरिहंत कहलाते हैं।

केवली अरिहंत के उपरोक्त भेदों में से लोगस्स में तीर्थंकर केवली अरिहंत का कीर्तन किया जाता है। ये अरिहंत भगवान दो प्रकार के होते हैं–

१. सयोगी केवली अरिहंत
२. अयोगी केवली अरिहंत

१. सयोगी केवली—जो तेरहवें गुणस्थान में होते हैं और जब तक विहार एवं उपदेश आदि क्रियाएं करते हैं तब तक सयोगी केवली अरिहंत कहलाते हैं।

२. अयोगी केवली—जो चौदहवें गुणस्थान में होते हैं, आयु के अंतिम क्षणों में उपदेश विहार आदि क्रियाओं का त्याग कर योग निरोध करते हैं, वे अयोगी केवली अरिहंत कहलाते हैं।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है अरिहंत चरम शरीरी होते हैं। इसी जन्म में वे सम्पूर्ण कर्मों को क्षीण कर सिद्धत्व को प्राप्त हो जाते हैं। जैन परम्परा में ये अरिहंत भगवान ही देवाधिदेव एवं धर्मदेव के रूप में आराध्य एवं उपास्य होते हैं। उनकी आन्तरिक क्षमताएं, अर्हताएं पूर्णतः जागृत होती हैं, इसलिए वे अरिहंत या अर्हत् कहलाते हैं। अतः लोगस्स में प्रयुक्त अरहंते शब्द अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। उनकी अपनी अलग पहचान है, अलग विशेषताएं हैं। जैन धर्म में जो चार शरण बतलाएं गये हैं, उनमें अरिहंत सबसे पहले शरणदाता हैं—

**चत्तारि सरणं पवज्जामि, अरहंते सरणं पवज्जामि**
**सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि**
**केवली पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ॥**

इस प्रकार तीर्थंकर अरिहंत अनुत्तर, पराक्रमी तथा अनंतज्ञानी होते हैं। वे तीर्थंकर सिद्ध गति को प्राप्त तथा सिद्ध पद के उपदेशक हैं। वे महान यशस्वी, महामुनि, अचिन्त्य शक्ति के धनी, इन्द्रों तथा चक्रवर्तियों से पूजित होते हैं। लोगस्स में उन अर्हत् तीर्थंकर भगवंतों का कीर्तन किया गया है।

## ४. केवली

केवलज्ञान और केवलदर्शन ही ज्ञान-दर्शन की परिपूर्णता है। इसका परिचय देते हुए आगमों में बताया गया है कि द्रव्य से केवलज्ञानी लोकालोक के समस्त द्रव्यों को जानते-देखते हैं, क्षेत्र से समस्त क्षेत्र को, काल से भूत, भविष्य और वर्तमान के तीनों काल—समस्त काल और भाव से विश्व के समस्त भावों को जानते और देखते हैं।[२४] वह केवलज्ञान सम्पूर्ण, प्रतिपूर्ण, अव्याहत, आवरण रहित, अनंत और प्रधान होता है। इससे वे सर्वज्ञ और समस्त भावों के प्रत्यक्षदर्शी होते हैं। वे समस्त लोक के पर्याय जानते-देखते हैं। गति, आगति, स्थिति, च्यवन, उपपात, खाना, पीना, करना, कराना, प्रकट, गुप्त आदि समस्त भावों को जानते देखते हैं।[२५]

केवलज्ञानी का ज्ञान आत्मप्रत्यक्ष होता है। वे पूर्व आदि सभी दिशाओं में

सीमित और सीमातीत ऐसी सभी वस्तुओं को जानते-देखते हैं। उनके ज्ञान-दर्शन पर किसी प्रकार का आवरण नहीं होता।[२६]

*केवलज्ञानी के जानने के लिए किसी दूसरे हेतु की आवश्यकता नहीं होती।* वे स्वयं बिना किसी बाह्य हेतु के ही जानते देखते हैं।[२७]

गांगेय अनगार भगवान महावीर की परीक्षा हेतु आए थे। जब उन्हें विश्वास हो गया कि भगवान महावीर केवलज्ञानी हैं तो भी उन्होंने भगवान से पूछा—"ये सब बातें आप कैसे जानते हैं? आपने कहीं सुनी हैं? सुनकर जानते हैं या बिना सुने ही जानते हैं?"

भगवान ने कहा—"हे गांगेय! मैं स्वयं जानता हूँ। मैं किसी दूसरे की सहायता से नहीं जानता। मैं बिना सुने ही यह सब जानता हूँ।"

तब गांगेय अनगार ने पूछा—"आप सब बिना सुने कैसे जानते हैं?"

गांगेय! केवलज्ञानी अरिहंत समस्त लोक की परिमित और अपरिमित ऐसी सभी ज्ञेय बातें जानते-देखते हैं।

गांगेय अनगार को संतोष हुआ उन्होंने शिष्यत्व स्वीकार कर लिया।[२८] केवलज्ञानी अधोलोक में सातो नरक भूमियों को उर्ध्वलोक में सिद्धशिला तक और समस्त लोक तथा लोक के एक परमाणु से लेकर अनंत प्रदेशी स्कन्ध तक को अर्थात् समस्त पदार्थों को जानते-देखते हैं। और इसी प्रकार सम्पूर्ण अलोक को भी जानते-देखते हैं।[२९]

आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चय और व्यवहार के आधार पर केवलज्ञान की परिभाषा की है—

**जाणादि पस्सदि सव्वं ववहारणएणं केवली भगवं।**
**केवलणाणी जाणादि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥**[३०]

वृहत्कल्प भाष्य में केवलज्ञान के पांच लक्षण बतलाये हैं[३१]—

| | | |
|---|---|---|
| १. असहाय | — | इन्द्रिय मन निरपेक्ष। |
| २. एक | — | ज्ञान के सभी प्रकारों से विलक्षण। |
| ३. अनिवरित व्यापार | — | अविरहित उपयोग वाला। |
| ४. अनंत | — | अनंत ज्ञेय का साक्षात्कार करने वाला। |
| ५. अविकल्पिता | — | विकल्प अथवा विभाग रहित। |

आचार्य जिनभद्रगणी ने केवल शब्द के पांच अर्थ किये हैं जिनकी आचार्य हरिभद्र एवं आचार्य मल्लधारी ने इस प्रकार व्याख्या की है[३२]—

१. एक—केवलज्ञान मति आदि क्षायोपशमिक ज्ञानों से निरपेक्ष है, अतः वह एक है।

२. शुद्ध—केवलज्ञान को आच्छादित करने वाली मलिनता से सर्वथा मुक्त होने के कारण केवलज्ञान सर्वथा निर्मल अर्थात् शुद्ध है।

३. सकल—आचार्य हरिभद्र के अनुसार केवलज्ञान प्रथम समय में ही सम्पूर्ण उत्पन्न हो जाता है अतः वह सम्पूर्ण अर्थात् सकल है। आचार्य मल्लधारी के अनुसार संपूर्ण ज्ञेय पदार्थों को ग्रहण करने के कारण केवलज्ञान को सकल कहा गया है।

४. असाधारण—केवलज्ञान के समान कोई दूसरा ज्ञान नहीं है, अतः वह असाधारण है।

५. अनंत—केवलज्ञान अतीत, प्रत्युत्पन्न एवं अनागत कालीन अनंत ज्ञेयों को प्रकाशित करने के कारण अनंत है। वह अप्रतिपाती है अतः अन्त न होने से वह अनंत है। मल्लधारी हेमचन्द्र ने काल की प्रधानता से तथा हरिभद्र सूरि ने ज्ञेय द्रव्य की अपेक्षा से केवलज्ञान की अनंतता का प्रतिपादन किया है।

## केवलज्ञान-केवलदर्शन के विचलित न होने के कारण[३३]

१. यथार्थ वस्तु दर्शन
२. मोहनीय कर्म की क्षीणता
३. भय, विस्मय और लोभ का अभाव
४. अति गंभीरता

निष्कर्षतः कहा जाता है जो सभी द्रव्यों, द्रव्यों के परिणामों और भावों की विज्ञप्ति का कारण है, अनंत, शाश्वत और अप्रतिपाती है, एक ही प्रकार का है, वह केवलज्ञान है।[३४] यह वास्तव में आत्मा की ही वस्तु है। प्रत्येक आत्मा को उसे प्राप्त करने का अधिकार है। किसी अमुक या विशिष्ट व्यक्ति का ही इस पर एकाधिकार नहीं है। जो आत्मा सम्यक् पुरुषार्थ के द्वारा आवरणों को हटाता जाता है वह अंत में केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन जाता है।

यद्यपि सर्वज्ञता आत्मा की ही वस्तु है तथापि अलभ्य है। इस अपनी ही वस्तु की प्राप्ति सर्वसुलभ नहीं है। इसकी प्राप्ति मनुष्येत्तर प्राणियों को तो हो ही नहीं सकती और मनुष्यों में भी सभी को नहीं हो सकती। किसी समय किसी महान आत्मा को ही होती है। जिस प्रकार हिमालय पर्वत पर चढ़ना सबके लिए शक्य नहीं है। श्री तेनसिंह और मिस्टर हिलैरी न्यूजीलैण्ड निवासी ही सफल हुए। इसी प्रकार ज्ञान के इस सर्वोच्च शिखर पर पहुँचना हर किसी के लिए आसान नहीं है।

प्रत्येक तीर्थंकर के शासन में केवलज्ञानी साधु साध्वियां होते हैं।* तीर्थंकर

का केवली होना अनिवार्य नियम है इसलिए 'लोगस्स उज्जोयगरे' आदि विशेषणों के साथ 'केवली' विशेषण दिया गया है। जो निर्विवाद है। क्योंकि तीर्थंकर पूर्वभव से लगाकर संसार त्याग से पूर्व तक चौथे गुणस्थान में ही रहते हैं तब तक असंयति कहलाते हैं, लोगस्स के ये पांचों विशेषण उनमें युगपत् नहीं होते वर्तमान तीर्थंकर के भव में जब दीक्षा लेते हैं तब वे संयति बन जाते हैं और छद्मस्थ तीर्थंकर कहलाते हैं। उसके पश्चात् साधनाकाल पूरा होने पर वे महान पुरुषार्थ से क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर मोहनीय आदि घाती कर्मों का नाश कर सर्वांग परिपूर्ण केवल ज्ञान, केवल दर्शन को प्राप्त हो जाते हैं। तब ही वे सर्वज्ञ अर्हत् कहलाते हैं तथा लोगस्स के इस प्रथम पद्य में विवर्णित पांचों गुणों से युक्त होते हैं। लोगस्स में उपरोक्त सभी गुणों से युक्त तीर्थंकरों की स्तुति की गई है, कीर्तन किया गया है।

## कित्तइस्सं

सामान्यतः 'कित्तइस्सं' का अर्थ कीर्तन है। यहाँ 'कीर्तन' शब्द का अर्थ गुणानुवाद स्तुति के रूप में प्रयुक्त है। निश्चय नय के अनुसार सभी अर्हतों का स्वरूप एक समान होने के कारण इस स्तुति के निमित्त से अनंत अरिहंत व सिद्ध भगवन्तों की स्तुति हो जाती है। गुण रूप स्तुति से यह ज्ञान होता है कि कौन से गुण वाले देव देवाधिदेव हो सकते हैं। चूंकि इस स्तवना का मूल उद्देश्य वीतराग की दिशा में अग्रसर होना ही है अतः यह कर्मों की महान निर्जरा का हेतु है। यही कारण है कि माला जप की तरह लोगस्स का भी जप किया जाता है।

"कायवाङ् मनः प्रणिधाने" अर्थात् मन-वचन-काय तीनों का समन्वय, तीनों का नमन, तीनों का प्रणिधान होता है। मन से आत्मा का अर्हत् सिद्ध के गुणों में परिणमन, वचन से उनके गुणों का कीर्तन एवं काया से सम्यक् विधियुत उन्हें प्रणाम ही कीर्तन, नमन का वास्तविक अर्थ है।

'कीर्तन' शब्द इस बात का भी प्रतीक है कि आवर्त्तन में उत्पन्न आस्था शब्दों की यात्रा बनकर अविनाशी आत्म प्राप्ति का साधन बन जाती है। आवर्त्तन के दो प्रकार हैं—

१. शब्दमय आवर्त्तन
२. ऊर्जामय आवर्त्तन

शब्द का उद्भव स्थान नाभि, प्रकट होने का स्थान कण्ठ और उसके परिणमन का स्थान मस्तिष्क है। परिणमन से ही परिवर्तन संभव होता है। जब शब्दों (मंत्राक्षरों) का आवर्त्तन, प्रत्यावर्त्तन, स्मरण, रटन, कीर्तन एवं वंदन होता है तब शरीरस्थ चैतन्य-केन्द्रों में एक विशेष प्रकार की ऊर्जा उत्पन्न होती है। वह

* देखें परिशिष्ट 1/3

ऊर्जा हमें परम अस्तित्व की साक्षी का और स्वरूप की समानता का बोध कराती है। यह ऊर्जामय आवर्त्तन ही श्रद्धा का केन्द्रबिंदु है। मस्तिष्क की चेतना श्रद्धा से सक्रिय, वंदना से उत्तेजित, भक्ति से भावित, समर्पण से स्रावित, शब्दों से भाषित तथा कीर्तन से घर्षित होती है। जिनकी अनेक फलश्रुतियां आगमों में तथा अन्यत्र विवर्णित हैं। तीर्थंकर बंध के बीस कारणों में से आठ कारण तो गुणानुवाद-गुण-कीर्तन से ही संपृक्त हैं।[३३]

## अर्हत् भक्ति की फलश्रुतियां

१. सुलभ बोधि की प्राप्ति का उत्तम हेतु।
२. पुण्यानुबंधी पुण्य के उपार्जन का उत्तम हेतु।
३. सुप्त शक्तियों के जागृत एवं जागृत शक्तियों को उत्थित समुत्थिक करने का उत्तम हेतु।
४. सर्व पाप प्रणाशक
५. अनिष्ट रोधक
६. ग्रह शांति में सहायक
७. लौकिक व लोकोत्तर सिद्धियों की प्राप्ति
८. साधना का सशक्त साधन
९. मुक्ति प्राप्ति का सर्वोच्च साधन

नोट—लोगस्स का यह प्रथम पद्य लोगस्स-कल्प के अनुसार पूर्व दिशा में जिनमुद्रा में १४ दिन उसके बीज मंत्रों के साथ १०८ बार जपने का विधान मिलता है। इस प्रकार उसके उपसंहार रूप छठी गाथा बैठकर १०८ बार गिनने से एक प्रकार की अद्भुत शांति का अनुभव होता है।

## प्रयोग और परिणाम[३५]

**मंत्र**

**ॐ ह्रीं श्रीं ह्रीं ऐं लोगस्स उज्जोयगरे धम्म तित्थयरे जिणे। अरहंते कित्तइस्सं चउविसंपि केवली मम मनोऽभीष्टं कुरु करु ॐ स्वाहा ॥**

**मंत्र संख्या**

प्रतिदिन एक माला

**प्रयोग विधि**

पूर्व दिशा की ओर मुख करके खड़ा रहकर १०८ बार कायोत्सर्ग में मंत्र का जप करें, ब्रह्मचर्य का पालन करें।

**लाभ**

राज्य में सम्मान प्राप्त होता है।
चोरों का भय नहीं रहता।
सुख संपदा की वृद्धि होती है।

## निष्कर्ष

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भवभ्रमण का मूल गुण-हीनता है। सद्गुणों जैसी कोई सम्पत्ति नहीं है। यह सम्पत्ति लोगस्स रूपी धर्म-चक्र से प्राप्त होती है। लोगस्स समाधि का बीजमंत्र है। ज्ञानियों ने इसे परम ज्योति सूत्र कहा है। यह राग भाव का अपनयन कर वैराग्य भाव को जागृत करने का महामंत्र है। इस स्तुति के द्वारा अहंकार व ममकार का विलय होता है। अपूर्णता (अज्ञान, मूर्च्छा, विघ्न) समाप्त होती है और अनंत की अनुभूति होने लगती है। अतः कर्म-चक्र के व्यूह का भेदन करने हेतु लोगस्स एक धर्मचक्र है। यही कारण है कि इसके अधिष्ठाता देवाधिदेव को 'धम्मवर चाउरंत चक्कवट्टी' कहा गया है। यह धर्मचक्र ही विश्व में सच्ची शांति स्थापित कर सकता है। चक्रवर्ती सम्राट भी धर्म चक्रवर्ती (तीर्थंकर) की पदधूली व चरणों में मस्तक नमाकर अपने आपको गौरवान्वित समझते हैं।

## संदर्भ


१. स्थानांग १ टीका, विशेषावश्यक भाष्य, गाथा/१३८०
२. वृहद् वृत्ति पत्र–५८४
३. वही–५८४
४. स्कन्दक पुराण, काशी खण्ड, अध्याय ६
५. पद्मपुराण पाताल खण्ड १६/१४
६. स्कन्दक पुराण, काशी खण्ड–अध्याय ६
७. उत्तराध्ययन–१२/४५
८. वही–१२/४६
९. महाभारत, अनुशासन पर्व अध्याय–१०८
१०. भगवई–२०/७४
११. भगवती वृत्ति पत्र-६, **श्रृत निष्ट देवतैव अर्हतां नमस्करणीयत्वात्, सिद्धवत् इति, नमस्कुर्वन्ति व श्रुतमर्हन्तो 'नमस्तीर्थाय' ति भणनात।'**
१२. आचार चूला–१५/३२ **तओ णं समणे भगवं महावीरे दाहिणेणं वामेणं वामं पंचमुट्ठियं लोयं करेत्ता सिद्धाणं णमोक्कारं करेह।**

उधृत–जैन भारती फरवरी १९९८ पृ./७२ वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी, सम्पादक विवेचक–युवाचार्य महाप्रज्ञ द्वारा विरचित "मंगल सूत्र मीमांसा" लेख से।

१३. वृहत्कल्प भाष्य—२०२, २०३
१४. आचारांग, अध्ययन ४/१२६, सूत्रकृतांग २-१-१५, २-२-४१
१५. बोध पाहुड़—३०
१६. पंचाध्यायी—२/६०७
(उधृत तुलसीप्रज्ञा जनवरी-मार्च ( ) पृ. ४३)
१७. धम्मपद—अरहंतो वग्गो ६०
१८. धम्मपद—अरहंतो वग्गो ६२
(तुलसी प्रज्ञा से उधृत पृ./४४ जनवरी-मार्च ( ))
१९. आवश्यक निर्युक्ति गाथा—६२१-६२२—भगवती भाष्य से उधृत
२०. वही—६२१-६२२—भगवती भाष्य से उधृत
२१. णमोक्कार बाल शिक्षा भाग—३ पृ./१२३, दिगम्बर ग्रंथ सद्बोध मार्तण्ड, पृ./२६६
२२. भिक्षु ग्रंथ रत्नाकर खण्ड २/पृ. ५५१
२३. वही/पृ.368
२४. नदी—पृ. २/३२, भगवती ८-२
२५. आचरांग—२/१५, ३९, ज्ञाता ८
२६. भगवती—५-४ तथा ८-१०
२७. वही—५-७
२८. वही—९-३३
२९. वही—१४-१०
३०. नियमसार—भा. १५९—आर्हती दृष्टि, पृ. ३११ से उधृत
३१. आर्हती दृष्टि पृ./३११ से उधृत, वृहत्कल्प भाष्य, पीठिका, गाथा/३८
३२. वही—पृ./३११
३३. ठाणं/६१६, स्थानांगवृत्ति, पत्र २८०
३४. भद्रबाहु कृत आवश्यक निर्युक्ति खण्ड १, पृ./१७०
३५. ज्ञाता सूत्र—अध्ययन ८ प्रवचन सारोद्धार, द्वार १०-गाथा ३१०/३१९
महापुराण एवं तत्वार्थ सूत्र में तीर्थंकर होने में सोलह भावनात्मक स्थान बतलाए हैं। उन सोलह स्थानों में बीस स्थानों का समावेश हो जाता है। दोनों जगह भाव क्रिया को प्रधानता दी गई है।
३६. भीतर का रोग भीतर का इलाज, खण्ड २, मनोचेतसिक चिकित्सा—पृ./१२४

# १३. नाम स्मरण की महत्ता

**चौबीस तीर्थंकरों के नाम वीतरागता से युक्त होने के कारण मंत्राक्षर रूप हैं। मंत्र जप से जीभ पर अमृत का स्राव होता है। शरीर तेजस्वी, शीतल और कांतिमय बनता है। मन निर्विकार अवस्था को प्राप्त होता है। दीर्घकाल तक नियमित मंत्र जप और सतत उसके स्मरण से जागरूक चेतना का विकास होता है तथा आनंद की उपलब्धि होती है। प्रभु के नाम, गुण, कीर्तन से भक्त सिद्धि व संसार मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।**

पुण्य की प्रतिष्ठा उसकी मधुर महक में, सरोवर की प्रतिष्ठा उसके निर्मल जल में और चंदन की प्रतिष्ठा उसकी पावन सुरभि में सन्निहित रहती है, उसी प्रकार मनुष्य की प्रतिष्ठा उसके शील और चारित्रिक गुणों में सन्निहित रहती है। आत्मा की अनंत चारित्रिक शक्तियों को उजागर करने की भी एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है। वैज्ञानिक जिसे ट्रांसमीटर के द्वारा जानते हैं एक योगी उसे ट्रांस (आत्मसाक्षात्कार) के द्वारा जानता है।

जिस प्रकार विज्ञान के सूत्र बताने वाले को वैज्ञानिक कहते हैं उसी प्रकार धर्म के सूत्र बताने वाले को जैन परम्परा में तीर्थंकर नाम से पहचाना जाता है। धर्म की सम्पूर्ण पद्धति को वे अलग-अलग सूत्रों में विश्व के सामने प्रकाशित करते हैं। आत्मा के भीतर की खोज होने के कारण उनकी खोज विज्ञान की शक्ति और मर्यादा से परे है। अध्यात्म की भाषा में आत्मा ही कामधेनु और आत्मा ही नंदनवन है। आत्म साक्षात्कार से ही परमात्मपद की प्राप्ति संभव है। इस चरम और सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि के अनेकानेक मार्गों में एक अत्यन्त सरल और सुगम मार्ग है—अर्हत् स्तुति।

## स्तुति के दो रूप

सामान्यतः अर्हत् स्तुति के दो रूप उपलब्ध हैं—

१. बाह्य वैभव की स्तुति

२. आन्तरिक वैभव की स्तुति

## १. बाह्य वैभव की स्तुति

अर्हतों का बाह्य वैभव भी दो विभागों में विभक्त है–

१. शारीरिक वैभव–सुन्दरता, अष्टमहाप्रातिहार्य आदि
२. शरीर व्यतिरिक्त वैभव

बाह्य वैभव की स्तुति में दोनों प्रकार के वैभव का कीर्तन किया जाता है। शारीरिक वैभव की स्तुति का वर्णन करते हुए आचार्य मानतुंग ने कितना सुन्दर चित्रण किया है भक्तामर स्तोत्र में[1]–

**यैः शान्तराग रुचिभिः परमाणुभिस्त्वं**
**निर्मापितस्त्रिभुवनैक-ललामभूत**
**तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथ्वियां**
**यत्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति ॥**

अर्थात् तीन जगत में असाधारण तिलक समान वीतराग आभावाले परमाणुओं से तुम्हारा निर्माण किया है, वे परमाणु इस पृथ्वी पर इतने ही हैं क्योंकि इस धरती पर तुम्हारे समान रूप वाला दूसरा कोई नहीं है। यही स्तुति श्रीमज्जयाचार्य के शब्दों में निम्न प्रकार से अभिव्यक्त हुई है[2]–

**सुरेन्द्र नरेन्द्र चन्द्र ते, इन्द्राणी अभिरामी हो।**
**निरख निरख धापै नहीं, एहवो रूप अमामी हो ॥**
**सुविधि भजियै शिरनामी हो ॥**

इसी प्रकार श्रीमज्जयाचार्य ने अष्टमहाप्रतिहार्य रूप शारीरिक वैभव की स्तुति में कहा है[3]–

**तुम मुख कमल पासै चमरावलि, चन्द्र कांतिवत सौहे हो ।**
**हंस-श्रेणि जाणै पंकज सेवै, देखत जन-मन मोहै हो ॥**
**पारस देव! तुम्हारा दर्शन भाग भला सोई पावै हो ॥**

अर्थात् तुम्हारे मुख कमल के पास डुलाये जा रहे चामर चन्द्रमा की कांति जैसे सुशोभित हो रहे हैं। ऐसा लगता है मानो पंक्तिबद्ध हंस नीलकमल की उपासना कर रहे हैं। इस दृश्य को देखकर जन-जन के मन मुग्ध हो जाते हैं।

उपरोक्त शारीरिक वैभव की स्तुति में दोनों ही आचार्यों की पंक्तियां मनोहर, अनूठी और यथार्थ हैं।

शरीर व्यतिरिक्त बाह्य वैभव की स्तुति करते हुए कल्याण मंदिर स्तोत्र में आचार्य सिद्धसेन ने बहुत ही मार्मिक शब्दों में अपनी भावाभिव्यक्ति की है[4]–

स्वामिन् सुदूरमवनम्य समुत्पतन्तो,
मन्ये वदन्ति शुचयः सुरचामरौघाः।
येऽस्मै नतिं विदधते मुनिपुंगवाय,
ते नूनमूर्ध्वगतयः खलु शुद्धभावाः॥

अर्थात् स्वामिन! मैं जानता हूँ कि देवताओं के द्वारा यह तुम्हारे सनिकट क्षेत्र में बीजे जाते हुए पवित्र चामर-समूह ऐसा संकेत दे रहे हैं, कि इस महान् मुनिपुङ्गव को नमस्कार करने वाले पुरुष निश्चय ही विशुद्ध भावों को प्राप्त कर उर्ध्वगति करने वाले हैं, अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने वाले हैं।

## २. आन्तरिक वैभव की स्तुति

आन्तरिक वैभव की स्तुति में अर्हत् भगवान के अतुल पराक्रम, क्षायिक ज्ञान, दर्शन तथा अव्याबाध सुख आदि गुणों का कीर्तन किया जाता है। यथा, प्रभो! आपकी जय हो, आप परिषहों एवं उपसर्गों में, भयंकर तूफान में भी सुमेरू की भांति अचल रहते हैं। मनुष्य तो क्या देव भी और सारा विश्व मिलकर भी आपको चलायमान नहीं कर सकता। जयाचार्य ने अर्हत् अर की स्तुति में कहा है[५]—

वारू रे जिनेश्वर रूप अनुपम, तू सुगण-सिरताज।
मोनै बाल्हा लागै छै जी, अर जिनराज॥

अर्थात् "प्रभो! तुम्हारा आन्तरिक रूप अनुपम है, तुम गुणि जन के सिरताज हो।' यह आन्तरिक वैभव की स्तुति का छोटा-सा नमूना है।

लोगस्स का अन्तिम पद्य—'चंदेसु...दिसंतु' यह पद्य भी आन्तरिक वैभव की स्तुति का है।

लोगस्स के प्रथम पद्य में उपर्युक्त दोनों प्रकार की स्तुतियों में कीर्तन के माध्यम से अर्हत् भगवन्तों का गुणोत्कीर्तन करने के पश्चात दूसरे से चौथे पद्य तक इस अवसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थंकरों का नाम निर्देश करके उनका उत्कीर्तन किया गया है, जो "उसभ मजियं से प्रारंभ होकर पासं तह वद्धमाणं च" तक परिसंपन्न होता है।

## चौबीस तीर्थंकर

इस अवसर्पिणी काल के अन्तिम कुलकर नाभि की पत्नी मरुदेवा से उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में ऋषभ का जन्म हुआ। वे पूर्व भव में वज्रनाभ नाम के राजा

थे। (तीर्थंकर नाम गोत्र का बंधकर प्रव्रज्या ग्रहण कर) वे मरकर सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हुए और वहाँ से च्युत होकर ऋषभ के रूप में उनका जन्म हुआ। वे इस अवसर्पिणी काल के प्रथम राजा और प्रथम तीर्थंकर हुए। उनकी राजधानी अयोध्या थी। नृप ऋषभ के भरत बाहुबली आदि सौ पुत्र, ब्राह्मी, सुन्दरी—ये दो पुत्रियां थीं। ऋषभ देव ने ब्राह्मी को लिपि अर्थात् अक्षर ज्ञान, व्याकरण, न्याय, छंद, काव्य आदि ६४ कला दी और सुन्दरी को गणित की शिक्षा देकर मानव समाज में शिक्षा का प्रारंभ किया। कला, उद्योग, नीति और व्यवस्था की शिक्षा की आदि करने के कारण ही उन्हें "आदिनाथ" के नाम से पुकारा जाता है। वे अन्त में भरत को राज्य सौंपकर स्वयं दीक्षित हो गये और श्रमण परम्परा की नींव डाली। एक हजार वर्ष तपस्या, ध्यान आदि साधना से सर्वज्ञता को उन्होंने प्राप्त किया। वे तीर्थंकर बन दुनियां को उपदेश देते हुए कैलाश पर्वत पर (अष्टापद) अपने निन्यान्वें पुत्र व आठ पौत्रों सहित मोक्ष पधारे। भगवान ऋषभ का वर्णन विष्णु पुराण, अग्नि पुराण, भागवत् पुराण, ऋग्वेद आदि वैदिक ग्रंथों में भी विवर्णित है।

भगवान ऋषभ के पश्चात इस अवसर्पिणी काल में अन्य तेईस तीर्थंकर एक दूसरे के कुछ अन्तराल से हुए।

इस अवसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थंकरों के नाम—

१. भगवान ऋषभ नाथजी
२. भगवान अजितनाथजी
३. भगवान संभवनाथजी
४. भगवान अभिनंदननाथजी
५. भगवान सुमतिनाथजी
६. भगवान पद्मप्रभजी
७. भगवान सुपार्श्वनाथजी
८. भगवान चन्द्रप्रभजी
९. भगवान सुविधिनाथजी
१०. भगवान शीतलनाथजी
११. भगवान श्रेयांसनाथजी
१२. भगवान वासुपूज्यजी
१३. भगवान विमलनाथजी
१४. भगवान अनंतनाथजी
१५. भगवान धर्मनाथजी

१६. भगवान शांतिनाथजी
१७. भगवान कुंथुनाथजी
१८. भगवान अरनाथजी
१९. भगवान मल्लिनाथजी
२०. भगवान मुनिसुव्रतजी
२१. भगवान नमिनाथजी
२२. भगवान अरिष्टनेमि
२३. भगवान पार्श्वनाथजी
२४. भगवान महावीर स्वामी (वर्धमान)

## तीर्थंकर प्राप्ति के २० बोल[११]

१. अर्हत् का गुणोत्कीर्तन
२. सिद्ध की स्तवना
३. प्रवचन पर आस्था
४. गुरु-भक्ति
५. स्थविर-सेवा
६. बहुश्रुत-पूजा
७. तपस्वी का अनुमोदन
८. अभीक्षण—अनवरत ज्ञानोपयोग
९. निरतिचार सम्यक्त्व
१०. ज्ञान आदि का विनय
११. आवश्यक आदि अवश्य करणीय संयमानुष्ठान
१२. व्रतों का निरतिचार पालन
१३. क्षण-लव में ध्यान तथा भावना का सतत आसेवन
१४. तप—यथाशक्ति तपस्या करना
१५. त्याग-साधु को प्रासुक एषणीय दान देना
१६. दस प्रकार का वैयावृत्य
१७. गुरु आदि को समाधि देना
१८. अपूर्व ज्ञान-ग्रहण
२०. प्रवचन की प्रभावना

नोट—चौबीस तीर्थंकरों में से प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर ने उपर्युक्त सारे स्थानों का स्पर्श कर तीर्थंकर गोत्र का बंध किया तथा मध्यवर्ती तीर्थंकरों ने

एक-दो-तीन अथवा सभी स्थानों का स्पर्श किया।* (आवश्यक निर्युक्ति–२७१)

नियमतः मनुष्य गति में शुभ लेश्या वाले स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक जिन्होंने इन बीस स्थानों में से किसी एक का भी अनेक बार स्पर्श किया हो, उसके तीर्थंकर गोत्र का बंध होता है।

## भगवान ऋषभ का धर्मतीर्थ

जिस दिन भगवान ऋषभ को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई, उसी दिन भरत की आयुधशाला में 'चक्र रत्न' की उत्पत्ति हुई। भरत की ज्ञानोत्पत्ति और चक्रोत्पत्ति–दोनों के विषय में निवेदन किया गया।[१] भरत ने सोचा पिता की पूजा कर लेने पर चक्र स्वयं पूजित हो जाता है क्योंकि पिता पूजार्ह होते हैं। चक्र एहिक होता है अर्थात् इहलोक के सुख का हेतु होता है और पिता (तीर्थंकर) परलोक के लिए सुखावह है। (इसलिए चक्र की पूजा से पूर्व पिता की पूजा करनी चाहिए) भरत मरुदेवा के साथ भगवान ऋषभ के दशनार्थ गया। भगवान ने धर्म का उपदेश दिया। भरत का पुत्र ऋषभसेन प्रव्रजित हुआ। ब्राह्मी और मरीचि की दीक्षा हुई। भरत के पांच सौ पुत्र तथा सात सौ पौत्र थे। वे सभी कुमार एक साथ उस समवसरण में प्रव्रजित हो गये। उसी समवसरण में भगवान ऋषभ ने प्रवचन (देशना) के मध्य कहा– "मरुदेवा सिद्धा" अर्थात् मरुदेवा आठ कर्मों के बंधनों को क्षीण कर सिद्ध, बुद्ध व मुक्त हो गई।

भगवान ने जब कहा–'मरुदेवा सिद्धा' तब उस समवसरण में भरत का पुत्र ऋषभसेन जो वहीं उपस्थित था, उसके पहले से ही गणधर नाम गोत्र का बंध हो चुका था, उसको विरक्ति हुई और वह भी प्रव्रजित हो गया। ब्राह्मी ने दीक्षा ली। भरत श्रावक बना। सुंदरी भी दीक्षित होना चाहती थी पर भरत ने निषेध कर दिया और कहा यह मेरी "स्त्रीरत्न" होगी। तब उसने श्राविका धर्म स्वीकार किया। इस प्रकार चतुर्विध संघ की (तीर्थ) स्थापना हुई।

नोट–भरतजी को गृहस्थ वेश (राजा) में ही आरिसा भवन में केवलज्ञान की प्राप्ति हुई, देवों ने मुनि वेश अर्पण किया। उसी स्थान पर उनकी सात पीढ़ियों को केवलज्ञान होता रहा।

## नाम स्मरण का माहात्म्य

लोगस्स के निम्नोक्त तीन पद्यों में नाम स्मरण/नाम मंत्र की महत्ता को उजागर करते हुए नाम पूर्वक चौबीस ही तीर्थंकरों को वंदन किया जाता है–

---

१. इन तीर्थंकरों के शासन में कुछ नए व्यक्तियों ने भी तीर्थंकर गोत्र बांधा जिनके नाम देखें परिशिष्ट १/४ में

**उसभमज्जियं च वंदे, संभवमभिनंदणं च सुमइं च ।**
**पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥**
**सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअल सिज्जंस वासुपूज्जं च ।**
**विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥**
**कुथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च ।**
**वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च ॥**

महावैराग्य की अचपलता, निमर्मता और आत्म-शक्ति की प्रफुल्लिता—ये सब विशेषताएं इन महायोगिश्वरों के जीवन में गर्भित थी। अतः निष्ठापूर्वक उनके नाम स्मरण से उनका दिव्य रूप, अनंत ज्ञान-दर्शन आदि गुण, उनकी प्राणीमात्र के प्रति कल्याण की भावना आदि विशेषताएं हमारे सामने प्रतिष्ठित रहती हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक रहस्य है कि विकारी का स्मरण व्यक्ति को विकारी और त्यागी का स्मरण व्यक्ति को त्यागी बनाता है। अग्नि के समीप बैठने वालों को उष्णता और जल के समीप बैठने वालों को शीतलता का अनुभव होता है। हाथ में तलवार लेने से शौर्य और भांग लेने से नशा उत्पन्न होता है। वैसे ही शुद्ध चिदानंद स्वरूप अनंत सिद्धों की भक्ति से तथा सर्वदूषण रहित, कर्ममलमुक्त, निरोग, सकल भयरहित, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी जिनेश्वर अर्हत् भगवन्तों के नाम स्मरण से उन पवित्र गुणों का स्मरण होने के कारण आत्मा स्वरूपानंद की श्रेणी पर आरूढ़ होने लगती है। आत्मा में प्रकाश, पुरुषार्थ, विरक्ति, शांति, वैराग्य और निर्जरा भाव प्रबल बनता जाता है। जैसे दर्पण हाथ में लेने पर मुखाकृति का भान होता है वैसे ही सिद्ध या जिनेश्वर स्वरूप के चिंतन रूप दर्पण से आत्म-स्वरूप का भान होता है।

हनुमान जामवंत की प्रेरणा से दुर्धर पर्वत को उठाने में समर्थ हुए। लंका जाते वक्त महासमुद्र को पार करने में भी वे सफल हुए। जिज्ञासा होती है कि एक क्षण पहले जो अपने-आप को असहाय मान रहा था, बंदर मान रहा था, दूसरे ही क्षण उसमें इतना शौर्य, वीर्य कहाँ से आया? क्या जामवंत ने कोई शक्तिपात किया अथवा चुंबक एवं मंत्र का प्रयोग किया? नहीं। जामवंत ने न शक्तिपात किया और न ही कोई मंत्र अथवा चुंबक का प्रयोग किया परन्तु रामभक्त हनुमान को अपनी शक्ति तथा शौर्य से परिचित अवश्य करवा दिया। अपनी शक्ति का अहसास करवा दिया। इसी प्रकार अनंत, अक्षय शक्ति के भंडार तीर्थंकरों के नाम में अद्‌भुत शक्ति विद्यमान होने से उनका नाम परम पावन व मंगल स्वरूप है। अपने तीर्थंकर पद में वे जिन-जिन नामों से पहचाने जाते थे, वे गुण निष्पन्न एवं पवित्र नाम हमारी जुबां पर आते ही एक अद्‌भुत शक्ति का संचार होता है। इसी तथ्य को उजागर करने वाली आचार्य मानतुंग की निम्नोक्त पंक्तियां स्मरणीय हैं—

**कल्पान्तकाल-पवनोद्धत-वह्निकल्पं**
**दावानलं ज्वलितमुज्जवलमुत्स्फुलिंगम्।**
**विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुख मापतन्तं**
**त्वन्नामकीनजलं शमयत्यशेषम् ॥**

अर्थात् प्रलयकाल के प्रचण्ड वायुवेग से उत्पन्न भीषण अग्निकाण्ड वाला, ज्वलित, उज्ज्वल, फुल्लिंगे बिखेरता हुआ, समस्त विश्व को निगल जाने की इच्छा करता हुआ दावानल भी यदि सामने आ पड़े तो तुम्हारे नाम रूप कीर्तन जल से सर्वथा शांत हो जाता है। इसी तथ्य को रूपायित करने वाले कुछ घटना प्रसंग जो अपने आप में चामत्कारिक और प्रेरणाप्रद हैं, निम्न हैं।

१. मालव प्रदेश में जंगली झाड़ियों के मध्य एक कंजोड़ा नामक ग्राम बसा हुआ है। इस गाँव में एक श्रावक प्रतिदिन रात्रि चौविहार करता था। एक दिन वह घोड़े पर बैठकर अपने गाँव आ रहा था। मार्ग में घोड़ा सुगंध से कुछ दूरी पर रूक गया। आगे जाकर उसने देखा तो सिंह सामने खड़ा था। उसने 'नवकार-मंत्र' बोला और सिंह से कहा—मेरे रात्रि चौविहार है, घर समय पर नहीं पहुँचा तो भूखा रह जाऊँगा, अतएव हे जंगल के राजा सिंहराज! आप रास्ता छोड़ दें, मुझे जाने दें। पुनः नवकार-मंत्र बोला। देखते ही देखते सिंह रास्ता छोड़कर चला गया और वह श्रावक सानंद घोड़े पर बैठकर घर आ गया।[६]

यह एक सत्य घटना है। भक्तामर, कल्याणमंदिर, लोगस्स, उवसग्गहर स्तोत्र आदि से जुड़ी इस प्रकार की अर्हत् स्तुति की अनेकों घटनाएं इतिहास विश्रुत हैं।

ऐसी ही एक दुर्घटना जो भाई गिरधारी के जीवन में घटित हुई जो चौबीस तीर्थंकरों के नाम स्मरण से चामत्कारिक घटना के रूप में प्रख्यात हो गई।

२. वि.सं. २०१८ का घटना प्रसंग है। रामामंडी (पंजाब) की बहन कलावती का पुत्र गिरधारी व्यापार की दृष्टि से जीप लेकर पोरबंदर से जामनगर जा रहा था। जाते समय माँ ने उसे चौबीस तीर्थंकरों के नाम (लोगस्स का पाठ) बोलने को कहा। वह कुछ जल्दी में था। घर से रवाना होते समय माँ द्वारा कथित बात विस्मृत हो गई। उस दिन कलावती बहन के पन्द्रह दिन का तप था। वह रात्रि के समय ध्यान कर रही थी। ध्यान में उसे ऐसा आभास हुआ कि गिरधारी की जीप जंगल के एक गड्ढे में गिर गई है, पर चोट किसी को नहीं आई।

वह वहीं पर (घर में ही) लोगस्स का जप करने लगी। इधर कार गड्ढे में गिरते ही अचानक कलावती बहन की कही बात ड्राइवर को याद आई। उसने

गिरधारी से पूछा—"क्या तुमने घर से रवाना होते वक्त अपनी माँ के द्वारा बताये गये मंत्र का स्मरण किया था। इतने में ही वह चौंका और तत्क्षण लोगस्स के माध्यम से चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करने लगा। स्मरण मात्र की देर थी। जीप सामान्य प्रयत्न मात्र से सड़क पर आकर खड़ी हो गई। जंगल भयावह था, वहाँ चोर, लुटेरों का भी भय था पर 'लोगस्स' का जप करते हुए सब सकुशल अपने गन्तव्य स्थल पर पहुँच गये। इस घटना से सबके मन में देव, गुरु व धर्म के प्रति प्रगाढ़ आस्था हो गई।[१०]

३. एक अन्य घटनाप्रसंग वि.सं. २०३२ का है। मोटागांव (गोगुंदा) के श्रावक वेणीरामजी खोखावत दृढ़धर्मी, लोकप्रिय, जिम्मेदार, श्रद्धालु और साधु-संतों के भक्त थे। एक दिन रात्रि के समय वे ऊपर के कमरे में सो रहे थे। अचानक डाकू आए और उन्हें मौत के मुख सुला गये।

अगले दिन जब उनकी अन्तिम यात्रा शुरू हुई। अर्थी को कंधे पर उठाते ही तीर्थंकर भगवान महावीर का जयनारा लगाया गया। दरवाजे के बाहर पैर रखा कि समस्या आ गई। पुलिस इन्सपेक्टर और थानेदार कार्यवाही हेतु पहुँच गये। आदेश मिला अर्थी को नीचे उतारो। पहले समुचित कार्यवाही संपन्न होगी। इन्सपेक्टर का आदेश सुनते ही सब घबरा गये क्योंकि अर्थी को कंधे पर उठाने के बाद वापस नीचे रखना अपशकुन का प्रतीक माना जाता है। पता नहीं भगवान के नाम का क्या चामत्कारिक प्रभाव हुआ? तत्काल इन्स्पेक्टर बोला—जब भगवान महावीर का नाम ही ले लिया है, तो ले जाओ, शव की कार्यवाही नहीं करेंगे। पुलिस की गाड़ी तत्काल वहां से लौट गई। पुनः सारा वातावरण भगवान महावीर के जयनारों से गूंज उठा।

तीर्थंकरों के पवित्र नामों का स्मरण सूर्य के प्रकाश के समान है जो माया के अंधकार को विलीन करता है। नाम महिमा का संगान करते हुए संत कबीर ने कहा है—

**सुमिरन में सुख होत है, सुमिरन से दुःख जाय।**
**कहे कबीर सुमिरन किये, सांई मांहि समाय ॥**

तीर्थंकरों की एक-एक प्रमुख विशेषता को मध्य नजर रखते हुए उनके पवित्र नाम का स्मरण करने से वे-वे विशेषताएं हमारे भीतर उद्भाषित होने लगती हैं जैसे—

अभय की साधना के विकास के लिए भगवान ऋषभ का नाम स्मरण करें।
वीरता के विकास हेतु भगवान महावीर का नाम स्मरण करें।
सद्बुद्धि के लिए भगवान सुमतिनाथ का नाम स्मरण करें।

विघ्ननिवारणार्थ भगवान शांतिनाथ के नाम का स्मरण करें।

विजय प्राप्ति हेतु भगवान अजितनाथ का नाम स्मरण करें।

चार घनघाती कर्मों को क्षीण करने के लक्ष्य से भगवान मल्लिनाथ का स्मरण करें।

अनुभवियों का कहना है कि अचानक जंगल में सिंह आदि का भय उपस्थित होने पर "ॐ उसभ" जो भगवान ऋषभ के नाम का लोगस्स के दूसरे पद्य में अन्तर्निहित मंत्र है। इसका तीन बार श्रद्धापूर्वक स्मरण करने से तत्काल भय दूर हो जाता है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि पवित्र लक्ष्य-कर्म निर्जरा के उद्देश्य से तीर्थंकरों के नामों का स्मरण करने से लोकोत्तर लाभ के साथ-साथ लौकिक लाभों की सृष्टि भी निर्मित होती है। यथा–

| **लौकिक लाभ** | **लोकोत्तर लाभ** |
|---|---|
| शुली का सिंहासन, अग्निकुण्ड का कमलासन एवं विष का अमृत बनना आदि। | पवित्रता का विकास |
| | आत्मशांति के आनंद की प्राप्ति |
| | अन्तरात्मा में ज्ञान प्रकाश का विस्तार |
| युद्ध विजय, | वासनाओं की अशांति का निवारण |
| वड्वाग्नि से मुक्ति, | इच्छाओं का अल्पीकरण |
| शारीरिक सौन्दर्य एवं समृद्धि की प्राप्ति, | पापविनाशकता |
| संकट व रोग निवारण, | भव परम्परा का क्षय |
| भय मुक्ति | |
| विघ्न-विनाशकता आदि। | |

## चौबीस तीथकरों के गुण निष्पन्न नाम

नाम व्यक्ति की पहचान का एक रूप है। प्रत्येक अर्हत् भगवंतों का नाम, जन्म, समय अथवा गर्भ प्रवेश का समय एक विशेष घटना प्रसंग से जुड़ा हुआ है और आज भी वे गुण निष्पन्न नाम उसी रूप में सिद्धिदायक हैं, अतः नामों की गुणात्मकता को ध्यान में रखते हुए उनको वंदन करना स्वयं के व्यक्तित्व को एक प्रेरणा और बल देना है।

१. जो लोकालोक के स्वरूप को जानने वाले, परमपद को प्राप्त होने वाले, भव्यजनों के आधारभूत तथा उनके मनोरथों को पूरा करने वाले, धर्मरूपी बगीचे को प्रवचन रूपी जल से सींचने वाले एवं वृषभ चिह्न से युक्त हैं। अथवा भगवान ऋषभ जब गर्भ में आए, माता ने चौदह स्वप्नों में प्रथम

स्वप्न वृषभ (बैल) का देखा, अतएव ऋषभ नाम रखा।* जो आदिकाल के राजा, प्रथम यति, प्रथम साधु, प्रथम जिन, ऐश्वर्य को बढ़ाने वाले और त्रिषष्ठी श्लाका पुरुष में प्रथम आत्मविजयी, प्रथम प्रभु ऋषभदेव हुए—ऐसे श्री ऋषभदेव भगवान को मैं वंदन करता हूँ/करती हूँ।

२. जब विजयामाता के गर्भ में अजितनाथ भगवान आए तब से देव द्वारा प्रदत्त पाशा के खेल में भी विजयादेवी अपने पति जितशत्रु द्वारा पराजित नहीं हुई। अतएव बालक का नाम अजित रखा गया। यही अजित कुमार राग-द्वेष को जीतकर, सब पापों पर विजय पाकर देवता और विद्वानों के द्वारा हृदय से सम्मानित हुए और मोक्ष को प्राप्त किया—उन श्री अजितनाथ भगवान को मैं वंदन करता हूँ/करती हूँ।

३. जो अनंत सुख स्वरूप है और जिनसे अनंत सुख की प्राप्ति होती है अथवा जिनके गर्भ में आते ही राज्य में धान्यादि के अधिक संभव (उत्पत्ति) होने से दुर्भिक्ष मिटकर सुभिक्ष हो गया। ऐसे तृतीय भगवान संभवनाथ को मैं वंदन करता हूँ/करती हूँ।

४. जो भव्य जीवों को हर्षित करने वाले और गर्भ में आने पर इन्द्र ने जिनकी बार-बार स्तुति की, परम सिद्धि को संप्राप्त—ऐसे श्री अभिनदंन स्वामी को मैं वंदन करता हूँ/करती हूँ।

५. माता सुमंगला ने भी अपने गर्भ से सुन्दर बुद्धि को पाकर पुत्र के लिए लड़ती हुई दो स्त्रियों का झगड़ा मिटा दिया। इसलिए लोगों को सुबुद्धि देने वाले सुमतिनाथ भगवान को सद्बुद्धि के लिए मेरा वंदन हो।

६. पद्मकमल के समान प्रभा—कांतिवाले अथवा पद्मों-कमलों में प्रभा-किरण है जिनके वह हुआ पद्म अर्थात् सूर्य, उसके समान कांतिवाले अथवा जब वे गर्भ में आए थे तब उनकी माता को पद्मशय्या का दोहद हुआ, जिसको देवता ने पूरा किया। इस कारण पद्मप्रभ नाम वाले भगवान को मेरा वंदन हो।

७. देखने में सुडौल है पार्श्व (पसवाड़े) जिनके अथवा जब वे गर्भ में थे तब उनकी माता गर्भ के प्रभाव से सुन्दर पार्श्व वाली हुई तथा माता के स्पर्श से पिता की पसलियों का दर्द ठीक हो गया अतएव गुणानिष्पन्न नाम वाले श्री सुपार्श्वनाथ भगवान को मेरा वंदन हो।

८. चन्द्रमा के समान कांति वाले अथवा जब वे गर्भ में थे तब उनकी माता को चन्द्रप्रभा पान का दोहद हुआ, इस कारण चन्द्रप्रभ नाम रखा गया। ऐसे गुण निष्पन्न नाम वाले स्वच्छ चन्द्रमा की तरह बहुत निर्मल, राग-द्वेष से रहित चन्द्रप्रभु को मेरा वंदन हो।

---

* ऋषभ और वृषभ—इन दोनों शब्दों का प्राकृत में 'उसभ' रूप बनता है।

९. अच्छे अनुष्ठान वाले या जिनके दर्शन स्मरण से प्राणी पूर्ण भाग्यवान होते हैं। जब वे गर्भ में थे तब उनकी माता अभयदान, सुपात्रदान आदि धर्म की सभी विधियों में निपुणा हुई। उन्होंने गर्भ के प्रभाव से सम्यक् न्याय किया, इस कारण सुविधिनाथ और पुष्प के कारण स्वच्छ दांतों की छटा होने से अपर नाम पुष्पदंत भी है—मोक्ष गति को प्राप्त ऐसे गुण निष्पन्न नाम वाले सुविधि/पुष्पदंत भगवान को मेरा वंदन हो।

१०. आधि, व्याधि से होने वाले समस्त संतापों को मिटाकर प्राणियों को चन्द्रमा, चंदन आदि से भी अधिक शीतल शांति को या कषाय के उपशम, क्षय रूप शीतलता को देने वाले अथवा जब वे गर्भ में थे तब इनकी माता के कर-कमल का स्पर्श होते ही पिता का असाध्य दाह ज्वर उपशांत हो गया। इस कारण शीतलनाथ नाम वाले दसवें भगवान सिद्धि सदन को प्राप्त हैं, उनको मेरा वंदन।

११. तीन लोक का हित करने वाले अथवा जिनके पिता के यहां पितृ परम्परा से प्राप्त एक शय्या देवाधिष्ठित थी, जिससे उस पर बैठने वाले को उपसर्ग होता था किन्तु भगवान जब गर्भ में थे तब उस शय्या पर उनकी माता के बैठते ही देवकृत उपसर्ग नष्ट हो गया। इस प्रकार श्रेय (कुशल) करने वाले, संसार से पार करने वाले श्री श्रेयांसनाथ को मेरा वंदन।

१२. जब वे गर्भ में थे तब उनकी माता इन्द्र के द्वारा बार-बार सम्मानित हुई। इन्द्रों के द्वारा वसु अर्थात् रत्नों की वृष्टि होने से वासुपूज्य कहलाए, ऐसे यथार्थ नाम वाले वासुपूज्य भगवान मुनियों के पुज्य या रत्नत्रय रूप वसु—सम्पत्ति के प्रकाशक हैं, उन्हें मेरा वंदन हो।

१३. जिनका कर्ममल सर्वथा नष्ट हो चुका है या जो दुर्गति में गिरते प्राणियों को धारण करने वाले, निर्मल स्वरूप वाले अथवा उनके गर्भ में आने पर जिनकी माता की बुद्धि निर्मल हो गई, ऐसे यथा नाम तथा गुणवाले विमलनाथ भगवान को मेरा वंदन।

१४. अविनाशी पद को प्राप्त करने वाले, अनंत-ज्ञान, दर्शन आदि आत्मिक गुणों के दाता अथवा जिनके गर्भ में आने पर माँ ने अनंत आकाशवाली रत्नमाला को स्वप्न में देखा था। अतएव अनंत नाम वाले महाप्रभु को मेरा वंदन।

१५. दुर्गति में पड़ते जीवों के उद्धारक, श्रुत-चारित्र रूप धर्म के उपदेशक अथवा गर्भ में आने पर जिनकी माता विशेष रूप से धर्मपरायण हुई। ऐसे गुण निष्पन्न धर्मनाथ को मेरा वंदन।

१६. शांतिनाथ भगवान की माता जिस देश में थी, वहाँ एक बार सर्वत्र बीमारी

फैल गई। उस समय जब भगवान माता के गर्भ में थे तब माता ने एक दिन स्नान करने के बाद उच्छिष्ट पानी के जल को छत पर जाकर चारों दिशाओं में छिड़का परिणाम स्वरूप सबके रोग दूर हो गये। सर्वत्र शांति हो गई। अतएव अन्वर्थ नाम वाले श्री शांतिनाथ जो कर्म रूपी संताप से संतप्त प्राणियों को शांति प्रदान करने वाले हैं तथा जिनके नाम स्मरण से आधि, व्याधि और उपाधि मिट जाती है ऐसे शांतिनाथ भगवान को मेरा वंदन।

१७. जिनके गर्भ में आने के बाद माता ने विशाल एवं उन्नत रत्नमय स्तूप स्वप्न में देखा और उस स्तूप पर मुख वस्त्रिकाधारी मुनि को धर्मोपदेश देते हुए देखा, अतएव बालक का नाम कुंथु रखा गया। ऐसे उन सगुण नाम वाले धर्मचक्री श्री कुंथुनाथ को मेरा वंदन।

१८. मोक्ष प्राप्त कराने वाले श्री अरनाथ जब माता के गर्भ में आए थे तब उनकी माता ने स्वप्न में रत्नमय पहिये के आरे देखे। उन गुण युक्त नाम वाले अर भगवान को मेरा वंदन, जिन्होंने सोलहवें व सतरहवें तीर्थंकर की तरह चक्रवर्ती और जिन पद को प्राप्त किया और संसार की जन्म-मरण की परम्परा का अन्त किया।

१९. संसार में नर-नारियों के अन्दर समान भाव प्रकट करने के लिए ये मल्लिनाथ भगवान जो स्वयं स्त्री के रूप में जन्में। इस तरह सुन्दर चेष्टा से युक्त और घड़ों के चिह्न से युक्त शरीर वाली कुंभ राजा की संतान मल्लिनाथ की मां को उनके गर्भस्थ होने पर मल्ली-मालती की शय्या पर सोने का दोहद हुआ जिसको देवों ने पूरा किया। अतएव मल्लिनाम धारी गुण निष्पन्न नाम वाले उन्नीसवें जिन भगवान को मेरा वंदन जिन्होंने दीक्षा लेने के पश्चात ही केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

२०. श्रेष्ठ चारित्र को पालने वाले तथा जिनके शासनकाल में निरतिचार चारित्र पालने वाले बहुत मुनि हुए। अथवा जब वे गर्भ में थे तब उनकी माता मुनि के समान सुव्रता हुई। अतः मुनिसुव्रत नाम वाले २०वें भगवान को मेरा वंदन।

२१. विजयसेन राजा के वंश को चमकाने वाले सूर्य स्वरूप तथा देव, दानव, मानवों में मान पाने वाले नेमिनाथ भगवान के लिए हमेशा ज्ञानानंद प्राप्ति के लिए मेरी नम्रता या मेरा नम्र भाव रहे। अथवा जब वे गर्भ में थे तब उनके पिता के अन्य सभी विमुख राजागण नम्र हो गये (झुक गये) अतएव बालक का नाम नेमि रखा। इस प्रकार यथा नाम तथा गुण वाले नेमिनाथ भगवान को मेरा वंदन।

२२. जब वे गर्भ में थे तो माता ने स्वप्न में पहिये की अरिष्ट रत्नमय नेमि (पुठ्) को देखा इस कारण जिनका नाम अरिष्टनेमि रखा गया। आगे जाकर ये अरिष्टनेमि जैन धर्म के बावीसवें तीर्थंकर बने। जिनका नाम उपद्रवों को दूर करने वाला और सारे संसार का अरिष्ट-कल्याण करने वाला है ऐसे गुण संपन्न नाम वाले श्रीकृष्ण के चचेरे भाई श्री अरिष्टनेमि भगवान को मेरा वंदन।

२३. लोकालोक के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले श्रीपार्श्व जब माँ की गर्भ में थे तब किसी रात में दीपक के बुझ जाने पर उनकी माता ने राजा के पार्श्व-पसवाडे के पास आते हुए सर्प को गर्भ के तेजस् से देखकर राजा को सावधान किया इस प्रकार 'पार्श्व' पद के संबंध में श्री पार्श्वनाथ नाम वाले भगवान को मेरा वंदन। ये प्रकट प्रभावी अपने नाम के अनुरूप पारस सम है। जिनके प्रभाव से नाग-नागिन ने इन्द्र पद पाया—धरणेन्द्र, पद्मावती के नाम से विश्रुत हुए—ऐसे श्री पार्श्वनाथ की निर्मल एवं मंगल उपासना करने से लोह स्वरूप आत्मा भी स्वर्णस्वरूप मय हो निखर उठती है। अर्थात् जीवन की कल्मषता और जड़ता नष्ट हो जाती है।

२४. ज्ञानादि गुणों के वर्द्धमान (बढ़ाने वाले) या अनंतकाल से संसार समुद्र में गोते खाते हुए प्राणियों के ज्ञानादि आत्मिक गुणों को बढ़ाने वाले श्री महावीर भगवान जब माता की गर्भ में थे तब ज्ञातकुल धन, धान्य, सुवर्णादि से परिपूर्ण हुआ। अतएव गुणनिष्पन्न नाम वाले वर्धमान स्वामी जिनको देवों ने महावीर संबोधन दिया, जो इस अवसर्पिणी काल के अन्तिम तीर्थंकर होने से हमारे लिए परम उपकारी हैं, उनको हमारा पुनः पुनः वंदन हो।

इस प्रकार गुण-श्रेणी को ध्यान में रखते हुए नाम कीर्तन करने (उन पवित्र नामों का सुमिरन करने से) से चित्त की शुद्धि होती है। चित्तशुद्धि चिंतामणि रत्नवत् इच्छित फल प्राप्ति का साधन बनती है।

## अर्हत् नामों की मंत्रात्मकता

जैन साहित्य में मंत्र-जप, श्रुत-जप, इष्ट-जप—तीनों की सुव्यवस्थित पद्धति रही है। जैनमंत्र "मंत्रोदधिकल्प" में मंत्रगत, रोगनाशक, मनः प्रसादन, कषाय शामक, देव-दर्शन आदि चामत्कारिक शक्तियों का कारण शब्दोच्चारण संबंधी विशिष्ट यौगिक क्रिया को माना है, किसी एकान्त अज्ञात शक्ति विशेष को नहीं।

जयाचार्य ने चौबीसी के अनेक स्थलों पर अर्हत् भक्ति के महत्त्व को दर्शाया है, यथा—विघ्नमिटै स्मरण किया[११], मिटै करम भरम मोह जाल हो[१२], मेटण भव

भव खामी हो[13], तप्त मिटै तुम ध्यान हो निस्सनेही[14], तू मेटण जम-त्रास[15], शिवदायक तू जगनाथ[16], भाव जप्या शिव होय[17], समरण करता आपरो, मनवांछित होय[18]—इस प्रकार तीर्थंकर क्लेश विदारक संसार संतारक, भवसिंधु पोत, तृष्णा तारक आदि संबोधनों से संबोधित होते हैं। निस्संदेह तीर्थंकरों के नाम मंत्राक्षर हैं। इन नामों के स्तवन में सम्पूर्ण कर्मों को क्षीण करने की क्षमता है। प्राचीन आचार्यों ने प्रत्येक तीर्थंकर के नाम की मंत्रात्मकता के साथ एक विशिष्ट महत्त्व को दर्शाया हैं जो निम्न हैं—

| मंत्र जप | लाभ |
|---|---|
| १. ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं ऋषभदेवाय नमः | इस जप से हर प्रकार का भय दूर होता है। |
| २. ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं अजिनाथाय नमः | विजय प्राप्ति |
| ३. ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं संभवनाथाय नमः | कार्य की सफलता |
| ४. ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं अभिनंदनाथाय नमः | आनंद-प्राप्ति |
| ५. ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं सुमतिनाथाय नमः | सद्बुद्धि प्राप्ति |
| ६. ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं पद्मप्रभवे नमः | तीन माला से भाग्य खुलता है (प्रतिदिन) |
| ७. ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं सुपार्श्वनाथाय नमः | नींद में इच्छित सवालों का जवाब मिलता है। (प्रतिदिन चार माला) |
| ८. ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं चन्द्रप्रभवे नमः | प्रभावशाली व्यक्तित्व का निर्माण |
| ९. ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं सुविधिनाथाय नमः | प्रज्ञा का जागरण |
| १०. ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं शीतलनाथाय नमः | गर्मी का परिषह दूर होता है (प्रतिदिन तीन माला) |
| ११. ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं श्रेयांसनाथाय नमः | सब आज्ञा माने |
| १२. ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं वासुपूज्य प्रभवे नमः | मंगल ग्रह शांत |
| १३. ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं विमलानाथाय नमः | बुद्धि की निर्मलता |
| १४. ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं अनंतनाथाय नमः | विद्या प्राप्ति (प्रतिदिन तीन माला) |
| १५. ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं धर्मनाथाय नमः | जानवरों का उपद्रव शांत |
| १६. ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं शांतिनाथाय नमः | ग्राम ग्राम उपद्रव शांत (प्रतिदिन आठ माला) |
| १७. ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं कुंथुनाथाय नमः | शत्रु विजय |
| १८. ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं अरनाथाय नमः | सर्वत्र विजय |

| | |
|---|---|
| १६. ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं मल्लिनाथाय नमः | चोरभय दूर |
| २०. ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं मुनिसुव्रतनाथाय नमः | शनि ग्रह शांति |
| २१. ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नमिनाथाय नमः | सब अच्छा (सर्वत्र सफलता) |
| २२. ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नेमिनाथाय नमः | इच्छित कार्य की सिद्धि |
| २३. ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं पार्श्वनाथाय नमः | इच्छित कार्य की सिद्धि |
| २४. ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं महावीराय नमः | सुख-संपत्ति की प्राप्ति |

## बीस विरहमान

लोगस्स के प्रथम पद्य में 'चउविसंपि केवली' शब्द आया है, उसमें 'अपि' शब्द और चौथे पद्य में वद्धमाणं के पश्चात जो 'च' शब्द है, ये दोनों 'अपि' और 'च' महाविदेह क्षेत्र के तीर्थंकर, जो बीस विहरमान कहलाते हैं तथा वर्तमान में तीर्थंकर हैं, उनके लिए प्रयुक्त हुआ है।

हमारे भरत क्षेत्र के ईशाण कोण में करोड़ो किलोमीटर की दूरी पर जम्बुद्वीप के महाविदेह क्षेत्र की शुरूआत होती है। उसमें ३२ विजय हैं। इन विजयों में आठवीं विजय का नाम पुष्कलावती है। उसकी राजधानी पुंडरिकीनी नगरी है। गत चौबीसी के सतरहवें तीर्थंकर श्री कुंथुनाथजी के शासनकाल और अठारहवें तीर्थंकर श्री अरनाथ के जन्म से पूर्व श्री सीमंधरजी स्वामी का मति, श्रुत व अवधि—इन तीन ज्ञान सहित जन्म हुआ। उसी समय उसी दिन अन्य १६ विहरमान का भी अपने-अपने क्षेत्र तथा विजय में जन्माभिषेक महोत्सव मनाया गया।

भरत क्षेत्र, २०वें तीर्थंकर मुनि सुव्रत और २१वें तीर्थंकर नमिनाथजी के प्राकट्य काल के मध्यवर्ती समय अयोध्या में राजा दशरथ के शासनकाल दरमियान और रामचन्द्रजी के जन्म से पूर्व श्री सीमंधरजी आदि बीस विहरमानों ने महा अभिनिष्क्रमण किया। (उदययोग में फाल्गुन शुक्ला तृतीया के दिन दीक्षा अंगीकार की) दीक्षा लेते ही उन्हें चौथा मनःपर्यव ज्ञान प्राप्त हो गया। सभी विहरमानों का छदमस्थ काल ११००० वर्षों का—चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन सभी को एक साथ केवलज्ञान व केवल दर्शन की प्राप्ति हुई। प्रत्येक विहरमान के ८४-८४ गणधर, दस-दस लाख केवल ज्ञानी, सौ-सौ करोड़ साधु-साध्वियां तथा नौ-नौ सौ करोड़ श्रावक-श्राविकाएं हैं।

आने वाली चौबीसी के आठवें तीर्थंकर श्री उदयस्वामी के निर्वाण के पश्चात और नौवें तीर्थंकर श्री वेणल स्वामी के जन्म से पूर्व सभी विहरमान श्रावण शुक्ला तृतीया के अलौकिक दिन को चौरासी लाख पूर्व की आयु पूर्ण कर निर्वाण पद को प्राप्त करेंगे। सीमंधर स्वामी की आयु अभी डेढ़ लाख वर्ष पूरी हुई है, सवा

लाख वर्ष अभी बाकी हैं। महाविदेह क्षेत्र के बीस विहरमानों के नाम इस प्रकार हैं—

१. श्री सीमन्धर स्वामी
२. श्री युगमन्धर स्वामी
३. श्री बाहु स्वामी
४. श्री सुबाहु स्वामी
५. श्री सुजाति स्वामी
६. श्री स्वयंप्रभ स्वामी
७. श्री ऋषभानन स्वामी
८. श्री अनंतवीर्य स्वामी
९. श्री सूरप्रभ स्वामी
१०. श्री विशालधर स्वामी
११. श्री वज्रधर स्वामी
१२. श्री चन्द्रानन स्वामी
१३. श्री चन्द्रबाहु स्वामी
१४. श्री भुजंग स्वामी
१५. श्री ईश्वर स्वामी
१६. श्री नेमिप्रभ स्वामी
१७. श्री वीरसेन स्वामी
१८. श्री महाभद्र स्वामी
१९. श्री देवयश स्वामी
२०. श्री अजितवीर्य स्वामी

## सौभाग्य वर्धक यंत्र

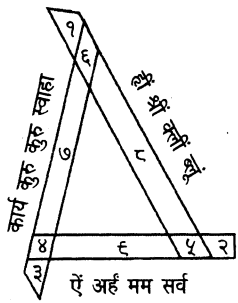

बीस विहरमान जप के साथ इस यंत्र को लिखने तथा पास में रखने से सर्व मनोकामनाएं पूर्ण होती हैं। (हृदय वाणी–पृ./२०)

## निष्कर्ष

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वर्तमान में तीर्थंकर भगवान की भक्ति के दो रूप अधिक प्रसिद्ध हैं–

१. नित्य भक्ति
२. अनुष्ठान भक्ति

१. नित्य भक्ति–प्रतिदिन की जाने वाली भक्ति को नित्य भक्ति कहते हैं, यह दो प्रकार से होती हैं–

१. सामान्य भक्ति
२. विशेष भक्ति

१. सामान्य नित्य भक्ति–प्रातःकाल उठने के बाद पांच नवकार बोलकर चौबीस तीर्थंकरों के नामों का स्मरण करना, लोगस्स का पाठ बोलना।

२. विशेष नित्य भक्ति–प्रतिदिन एक-एक तीर्थंकर के नाम की माला फेरना, वर्द्धमान भक्तामर स्तोत्र का पाठ करना, सायं कल्याणमंदिर का पाठ करना, किसी भी तीर्थंकर भगवान की स्तुति, चौबीसी का स्वाध्याय आदि।

२. अनुष्ठान तीर्थंकर भक्ति–तप आराधना के साथ किसी-किसी समय में तीर्थंकरों के नाम का जप, ध्यान, वंदन आदि अनुष्ठान पूर्वक करना। इसके कई रूप प्रचलित हैं जैसे कल्याण तप–तीर्थंकर भगवान के गर्भ आगमन (च्यवन), जन्म, दीक्षा, केवल ज्ञान, निर्वाण दिन आयम्बिल अथवा उपवास पूर्वक कल्याणक के अनुसार नाम जप वंदना और कायोत्सर्ग करना।* निस्संदेह कहा जा सकता है कि चौबीस तीर्थंकरों के नाम वीतरागता से युक्त होने के कारण मंत्राक्षर रूप है। उनके विविध प्रयोग उपलब्ध है। मंत्रविद् आचार्यों का कहना है–मंत्र जप से जीभ पर अमृत का स्राव होता है। शरीर तेजस्वी, शीतल और कांतिमय बनता है। मन निर्विकार अवस्था को प्राप्त होता है। दीर्घकाल तक नियमित मंत्र, जप और सतत् उनके स्मरण से जागरूक चेतना का विकास होता है तथा आनंद की उपलब्धि होती है। प्रभु के नाम, गुण, कथन, कीर्तन से भक्त सिद्धि एवं संसार मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

---

* देखें लोगस्स : एक साधना-भाग-२(कल्याण तप–लोगस्स और तप के पाठ में)

## संदर्भ


१. भक्तामर श्लोक–१२
२. चौबीसी–६/४
३. वही–२३/२
४. कल्याणमंदिर–श्लोक २२
५. चौबीसी–१८/४
६. भद्रबाहुकृत आवश्यक निर्युक्ति १३६/६-११
७. आवश्यक चूर्णि २०८
८. भक्तामर ४०
९. जैन दिवाकर ज्योतिपुञ्ज–पृ./१४५
१०. तेपस्वी बहन कलावती जीवन वृत्त पृ./२७, २८
११. चौबीसी–६/६
१२. वही–८/१
१३. वही–६/२
१४. वही–१०/१
१५. वही–१३/५
१६. वही–१३/६
१७. वही–१३/४
१८. वही–६/४

# १४. तित्थयरा में पसीयंतु

**तीर्थंकरों की कुछ भावनात्मक विलक्षणताएं भी होती हैं। उनके पवित्र आभामंडल का संस्पर्श पाकर मानव के संशय विच्छिन्न हो जाते हैं। विष अमृत में बदल जाता है। चेतना के रूपान्तरण की दृष्टि से भी वह समय बहुत अनुकूल होता है। जन्म से ही वे वैशिष्ट्य और महिमा बोधक चिह्नों से सम्पन्न होते हैं। जिसका कारण तीर्थंकर नाम कर्म का उदय माना गया है।**

यह त्रिकाल बाधिक सत्य है कि तीर्थंकर अभय के मंत्रदाता होते हैं। उनकी उपस्थिति में प्राणी जगत् अभय के अभयारण्य में मुक्त विहार करता है। उनके अतिशय के प्रभाव के कारण उनकी उपस्थिति में प्राकृतिक वातावरण बहुत ही पवित्र और निर्मल रहता है। वैज्ञानिक अनुसंधान के अनुसार उनकी निर्मल देह से परम अहिंसा और शांतिप्रद अल्फा तरंगें निस्सृत होती रहती हैं, जिनका ऐसा चामत्कारिक प्रभाव होता है कि पूर्वबद्ध जन्म-मरण के जातिगत (स्वभाव से ही) शत्रु भी परस्पर सन्निकट बैठकर प्रशांत चित्त से अर्हत् वाणी/दिव्य ध्वनि अर्थात् धर्मदेशना को सुनते हैं।* सर्प-नकूल, मूषक-बिलाव, सिंह-मृग आदि सभी पशु और परस्पर कट्टर मानव, देव-दानव, सुर-असुर मित्रवत् व्यवहार करते हैं। यहां तक कि अरिहंत के सान्निध्य में बैठने वालों के रोग, आतंक आदि भी उपशमित हो जाते हैं। जैसा कि समवायांग में कहा गया है—पुव्वबद्ध वेरात्ति...अरहओ पायमूले पसंतचित्त मणसा धम्मं निसामंति।[1]

तीर्थंकरों की कुछ भावनात्मक विलक्षणताएं भी होती हैं। उनके पवित्र आभामंडल का संस्पर्श पाकर मानव के संशय विच्छिन्न हो जाते हैं। विष अमृत में बदल जाता है। चेतना के रूपान्तर की दृष्टि से भी वह समय बहुत अनुकूल होता है। जन्म से ही वे वैशिष्ट्य और महिमा-बोधक चिह्न से संपन्न होते हैं जिसका कारण तीर्थंकर नाम कर्म का उदय माना गया है। उनके नाम और गोत्र

* देखें परिशिष्ट १/४

कर्म एकान्त शुभ ही होते हैं। वे पिछले दो जन्मों से क्षायिक सम्यक्त्व के धनी होते हैं। वे पिछले मनुष्य भव में संयम की विशिष्ट आराधना से तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन करते हैं। अतएव वे तीसरे भव में तीर्थंकर बनकर मुक्त हो जाते हैं। तीर्थंकर नाम कर्म का बंध होने के पश्चात आयुष्य कर्म बांधने वाले जीव वैमानिक देव बनकर अद्‌भुत ऋद्धि को प्राप्त होते हैं और वहां से च्यवकर प्रतिष्ठित राजकुल में जन्म लेते हैं। तीर्थंकर नाम कर्म के उपार्जन से पूर्व आयुष्य का बंध करने वाले जीव तीसरी नरक भूमि तक जा सकते हैं किंतु सम्यक्त्व से च्युत नहीं होते। वहां से आयु पूर्ण कर उत्तम राजकुल में जन्म लेते हैं और तीर्थंकरत्व की दिशा में प्रस्थान करते हैं। भाव तीर्थंकर तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान के ही धारक होते हैं। वहाँ तक पहुँचने हेतु वे क्षपक श्रेणी ही लेते हैं अतः उस भव में ग्यारहवें गुणस्थान का स्पर्श नहीं करते। आंशिक व्रत स्वीकार नहीं करने के कारण वे पांचवें गुणस्थान का भी स्पर्श नहीं करते। क्षायिक सम्यक्त्वी होने के कारण प्रथम तीन गुणस्थानों का स्पर्श भी नहीं करते हैं। संसार मुक्ति से कुछ समय पूर्व वे १४वें गुणस्थान में शैलेषी अवस्था को प्राप्त करते हैं और 'अ इ उ ऋ लृ'—इन पांच ह्रस्वाक्षरों के उच्चारण जितने से समय में सिद्ध, बुद्ध व मुक्त हो जाते हैं।

## तीर्थंकरों की वैभव संपदा

यहां वैभव संपदा का तात्पर्य प्रत्येक तीर्थंकर के शासनकाल में केवलज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, लब्धिधारी, श्रावक, श्राविका, साधु, साध्वी समुदाय की निष्पत्ति का होना। इतिहास का सिंहावलोकन करने से वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौबीस अर्हतों का संघ परिवार निम्न रूप में उपलब्ध होता है[२]—

| | | |
|---|---|---|
| गणधर | — | १,४५२ |
| केवलज्ञानी | — | १,७६,१०० |
| अवधिज्ञानी | — | १,३३,४०० |
| मनःपर्यवज्ञानी | — | १,४५,५६१ |
| चौदह पूर्वी | — | ३३,६६८ |
| वैक्रिय लब्धिधर | — | २,४५,२०८ |
| वाद लब्धिधर | — | १,२६,२०० |
| आराधक मुनि | — | १६८५०५१-२८४८००० |
| साध्वी | — | ४४,३६,४०६ |
| श्रावक | — | ५५,४८,००० |
| श्राविका | — | १,०५,४०,८०० |

इस प्रकार बाह्याभ्यन्तर गुण निधान अर्हत् अनंत गुणों के गौरव से युक्त अर्थात् महिमा-मंडित हैं। उनकी स्तुति करते हुए साधक लोगस्स के माध्यम से उस निर्मल स्वरूप वीतरागता को आत्मसात् करने की उत्कृष्ट अभिलाषा अभिव्यक्त करता हुआ निवेदन करता है–

**एवं मए अभित्थुआ, विहुयरयमला पहीणजरमरणा।**
**चउविसंपि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥**

अर्थात् मेरे द्वारा संस्तुत रज-मल से रहित, जरा और मरण से मुक्त चौबीस ही जिनवर, तीर्थंकर मुझ पर प्रसन्न हों, अर्थात् मैं भी आपके आलंबन से उस शुद्ध अर्हत् वीतराग स्वरूप को प्राप्त करने हेतु सतत अप्रमत पुरुषार्थ करूं।

## विहुयरयमला

आत्मा अनंत ज्ञान के आलोक से प्रकाशित है, आलोकित है। परंतु उस पर पाप रूपी रज-मल लगा हुआ है। जिसके कारण इसकी तह में विद्यमान ज्ञान ज्योति हमें दिखाई नहीं देती। अर्हत् भगवन्त इस पाप मल से रहित हैं। अतएव वे स्वरूप में विद्यमान हैं इस दृष्टि से उनका एक महत्त्वपूर्ण विशेषण लोगस्स में 'विहुयरयमला' उल्लेखित किया गया है। आचार्य मानतुंग ने तीर्थंकरों की इस स्वरूपगत विशेषता को भक्तामर में रहस्यात्मक रूप में प्रदर्शित किया है जिसका सीधा संबंध कर्मों के जुड़ा है। भक्तामर की वे रहस्यात्मक पंक्तियाँ–

**निर्धूमवर्तिरपवर्जित तैलपूरः**
**कृत्सनं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि।**
**गम्यो न जातु मरुतां चलिता चलानां**
**दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ जगत् प्रकाशः ॥**[3]

प्रभो! आप दीपक तो हो पर दीपक से संबंधित कारणों से रहित हो। इन कारणों में भी बहुत बड़ा रहस्य हैं[4]–

१. निर्धूम–दीपक का धुआं कालिमा, धुंधलापन, व्याकुलता और गर्मी का प्रतीक है। परन्तु प्रभों! आप तो निर्धूम दीपक हो अर्थात् ऐसे अपूर्व दीपक हो जिसमें चार घनघाती कर्मरूप धुआं नहीं है।

(१) ज्ञानावरणीय कर्म धुएं की कालिमा का प्रतीक है। स्वयं ज्योतिर्मान ज्ञान स्वरूप आत्मा इस कर्म के प्रभाव से अंधकारमय है। प्रभो! आप ज्ञानावरणीय कर्म से रहित हो अतः ज्योतिर्मय हो।

(२) दर्शनावरणीय कर्म धुएं के धुंधलेपन का प्रतीक है क्योंकि जीव की यथास्थिति रूप वास्तविक बोध में यह कर्म बाधक कारण है। प्रभो! आप दर्शनावरणीय कर्म से रहित हो अतः अन्तर्दर्शी हो।

(३) मोहनीय कर्म धुएं की व्याकुलता का प्रतीक है। इस कर्म का मुख्य काम जीव को आकुल व्याकुल करना ही है। अनंत अव्याबाध आनंद स्वरूप आत्मा इसी कर्म से बैचेन होकर प्रबल भ्रांति में अनादिकाल व्यतीत करता है। प्रभो! आप वीतरागी हैं। इच्छा-राग, काम-राग, दृष्टि-राग तथा इच्छा-द्वेष, काम-द्वेष, दृष्टि-द्वेष के विजेता हो अर्थात् मोह रंजित राग-द्वेष से सर्वथा रहित हो, अतः अनंत चारित्र एवं क्षायिक सम्यक्त्व से संपन्न हो।

(४) अन्तराय कर्म धुएं की गर्मी का प्रतीक है। इस कर्म के कारण आत्मा उल्लास रहित होकर निस्सत्व बन जाता है। प्रभो! आप अन्तराय कर्म रहित हो अतः अनंत शक्ति संपन्न हो।

२. वर्तिक–सामान्य दीपक को प्रकाशित करने हेतु बाती की अपेक्षा रहती है प्रभो! आप तो अपूर्व दीपक हो क्योंकि आप मिथ्यात्व और मोह रूप बाती से रहित हो।

३. अपवर्जित तैलपूरः–दीपक को प्रकाशित करने हेतु तेल की अपेक्षा होती है प्रभो! आप तो अपूर्व दीपक होने के कारण लबालब तेल से रहित हैं। तेल चिकनापन का प्रतीक है। यद्यपि गेंद और तेल दोनों चिकने पदार्थ गिने जाते हैं। पर गोंद का चिकनापन पानी से साफ हो जाता है और तेल का नहीं। यही कारण है कि स्नेह/राग-भाव को तेल की उपमा दी गई है। अर्हत् भगवन्त को राग रूप तेल से सर्वथा रहित होने के कारण अपवर्जित तेलपूरः दीपक कहा गया है।

४. चलिताचलानां मरुतां जातु न गम्यः–सामान्य दीपक पवन से बुझ जाता है और प्रकाश अंधकार में परिवर्तित हो जाता है। प्रभो! अपूर्व दीपक होने के कारण जगत् की कोई भी विकृति रूप पवन आपको विचलित नहीं कर सकता अतः आप अनवरत अनबुझ हैं, सदा जाज्वल्यमान हैं, सदा प्रकाशित हैं।

५. इदं कृत्सनं जगतत्रयं प्रकटीकरोषि–दीपक मर्यादित क्षेत्र को प्रकाशित करता है प्रभो! आप ज्ञान रूप अपूर्व दीपक के प्रकाश से तीनों लोकों को एक साथ प्रकट करते हैं अर्थात् प्रकाशित करते हैं।

प्रभो! आप अपरदीपक हैं। मैं भी एक चैतन्य दीपक हूँ जो सामान्य मणिदीप से मूल्यवान हूँ परन्तु मैंने इन मूल्यों और महत्त्वों को बदल दिए है अतः मैं दीपक होने पर भी चार घाती कर्म रूप कालिमा, धुंधलापन, व्याकुलता और गरमाहट से युक्त हूँ। आज आपके ध्यान की अग्नि द्वारा इन कर्मों को क्षीण करना चाहता हूँ। जिस प्रकार सौ बार अग्नि में परिक्षित होकर शुद्ध हुआ स्वर्ण सौटंची

कहलाता है वैसे ही अध्यात्म पक्ष में आत्मा स्वर्ण है उस पर कर्म रूप मल चढ़ा है। भगवन! आपका ध्यान प्रचण्ड अग्नि है। तीव्र ध्यानाग्नि का स्पर्श पाकर कर्म मल नष्ट हो जाते हैं। आत्मा पूर्ण रूप से शुद्ध होकर सदा सर्वदा के लिए परमात्मा बन जाती है। अर्थात् मैं चैतन्य दीपक में श्रद्धा का तैल भरकर इसकी चिन्मयता को प्रकाशित करता हूँ, आपके चरणों में समर्पित होता हूँ।

यही तथ्य आचार्य सिद्धसेन के भक्त हृदय से उद्भाषित हुआ है–

**हृदवर्निती त्वयि वियो! शिथिली भवन्ति,**
**जन्तोः क्षणेन निविड़ा अपि कर्म बंधाः ॥**[५]

ज्योंहि भक्त भगवान का ध्यान करता है भगवान को अपने मन मंदिर में विराजमान करता है त्योंहि कर्म सहसा शिथिल हो उसी प्रकार भागने लगते हैं जिस पर मोर के आगमन पर चंदन से सांप।

आचार्य मानतुंग और आचार्य सिद्धसेन की उपरोक्त रहस्यात्मक पंक्तियाँ लोगस्स के पाठ में विवर्णित विहुयरयमला के गूढ़ रहस्य को प्रकट कर रही हैं। तीर्थंकर रज (बंधते हुए कर्म) और मल (बंधे हुए कर्म) दोनों प्रकार के मलों से मुक्त हैं अतः उनके स्वरूप का ध्यान करने वाला 'तित्थयरा मे पसीयंतु' को सार्थक करता है। इस सार्थकता में सिर्फ पांच लकार लगाने की अपेक्षा है–

१. लक्ष्य
२. लगन
३. लय
४. लीन
५. लाभ

क्योंकि शक्ति, श्रम, समय, सोच के साथ जो कार्य संपादित होता है वही जीवन को नए अर्थ, नए संदर्भ दे सकता है अन्यथा ऐसे लोग जिनके पास शक्ति है पर स्वयं पर कुछ होने का विश्वास नहीं, संकल्प नहीं, पुरुषार्थ नहीं वे अंधेरा दूर करने के लिए उठकर कभी देहली पर नन्हा सा दीप नहीं जला सकते, ऐसे लोग सार्थक जीवन नहीं जी सकते।

## ज्ञान स्वरूप अर्हत् का ध्यान

अर्हत् भाव का स्वरूपात्मक चिंतन करने से ज्ञानात्मक निर्मलता बढ़ती है। किन्तु शास्त्रकारों ने एक प्रश्न उभारा है कि ध्येय और ध्याता की इतनी दूरी होने पर अर्हत् और सिद्ध भाव हमारे में कैसे प्रकट होता है?

समाधान की भाषा में बतलाया गया कि ध्यानात्मक स्थिरता के परिपुष्ट होने पर ध्येय आलेखित जैसा प्रकट होता है, स्वरूपता को प्राप्त करता है।

**अर्हत् का ज्ञानात्मक भाव तीन प्रकार से वर्णित है[६]–**

१. अर्हत् के गुणों का भिन्न-भिन्न रूप में चिंतन करते हुए अपने में प्रकट होने की कामना करना।
२. समस्त अर्हत् गुणों का पंजीभूत चैतन्य पिंड, जिसका समग्रता से चिंतन करना। भाव अर्हत् में तदाकार होना।
३. परमात्म भाव–पूर्ण पारिणामिक भाव, स्वरूप चैतन्य में स्थित होना।

यद्यपि राग-द्वेष मुक्त होने के कारण तीर्थंकरों का सबके प्रति समभाव है फिर भी भक्त 'तित्थयरा मे पसीयंतु' कहकर अपनी कृतज्ञता और आत्मशक्ति जागृत करता है क्योंकि भगवान मध्यस्थ हैं, भक्तों के हृदय में भी रहते हैं और वीतराग भी हैं। कितना यथार्थ कहा गया भक्ति भावि चित्त से–

**अनाहूत सहायस्त्वं त्वमकारणवत्सलः।**
**अनभ्यर्थित साधुस्त्वं, त्वमसंबंधबांधवः॥**

अर्थात् प्रभो! तुम अनामंत्रिक सहायक हो, अकारण वत्सल हो, अभ्यर्थना न करने पर भी हितकर हो, संबंध न होने पर भी बंधु हो।

**तव चेतसि वर्तेहं इति वार्तापि दुर्लभा।**
**मच्चिते वर्तसे चेत्वमलमन्येन केनचिद्॥**

प्रभो! मैं तुम्हारे चित्त में रहूँ यह बात दुर्लभ है, तुम मेरे चित्त में रहो यह हो जाये तो फिर मुझे और कुछ नहीं चाहिए।

जिज्ञासा की गई कि योगी लोग भगवान का ध्यान हृदय कमल में क्यों करते हैं?

स्व में उद्भूत इस जिज्ञासा का समाधान आचार्य सिद्धसेन दिवाकर स्वयं खोज लेते हैं कि भगवान भी तो अक्ष (आत्मा) ही हैं अतः योगी लोग समझते हैं कि वे भी तो कहीं न कहीं कमल में मिलेंगे, तो चलो हृदय कमल में ही खोजें, आखिर अक्ष मिलेगा कमल में ही। यहां पर अक्ष के दो अर्थ अभिव्यक्त हैं–आत्मा और कमलगट्टा।

उपर्युक्त विवेचन के निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि अर्हत् भगवान का ध्यान अतीव चामत्कारिक होता है। इहलोक और परलोक का वैभव तो क्या चीज है, भगवान का भक्त तो जन्म-मरण के प्रतीक इस क्षणभंगुर शरीर का सदा के लिए परित्याग कर परमात्मा बन जाता है।

जैसे विद्यार्थी का परीक्षा में सफल होना मुख्य है परन्तु उससे पहले पढ़ना अनिवार्य हे। भोजन मुख्य है पर भोजन से पहले आटा, चूल्हा आदि अनिवार्य है उसी प्रकार साधक के लिए मोक्ष मुख्य है पर मोक्ष प्राप्ति से पूर्व कर्मक्षय और कर्मक्षय से पूर्व साधना आवश्यक है। अतः अध्यात्म की भेद-विज्ञानी राह पर बढ़ते रहना तत्त्व शोध और तत्त्व बोध के लिए अनिवार्य है।

भक्ति में ढाई अक्षर हैं परन्तु इन ढाई अक्षरों में अक्षय पद को खींचकर निकट लाने की बात कही हुई है। मद के आठ साधनों की प्राप्ति कर्म के उदय से होती है जबकि परमेष्ठी के प्रति/तीर्थंकरों के प्रति भक्ति, बहुमान मोहनीय कर्म के आंशिक क्षय से उत्पन्न होती है। कर्म के उदय से प्राप्त सामग्रियाँ क्षणिक और नाशवान होती हैं जबकि कर्म के क्षय से प्राप्त सामग्रियाँ शाश्वत और आत्मा को आनंद देने वाली होती हैं।

निश्चय नय के अनुसार हमारा शरीर आत्मा से पैदा नहीं हुआ है, कर्म से पैदा हुआ है। अतएव ज्योंहि भगवान का ध्यान करते हैं त्योंहि आत्मा का कर्म-मल जलकर दूर हो जाता है। शुद्ध आत्म तत्त्व निखर आता है। आत्मा सदा के लिए अजर-अमर परमात्मा हो जाता है। यह जैन संस्कृति का ही आदर्श है कि भक्त भी भगवान का ध्यान करते-करते अन्त में भगवान बन जाता है। जिन पद और निज पद में केवल व्यंजनों का ही परिवर्तन है स्वर वे ही हैं। इसी प्रकार जो आत्मा निज है वही जिन है। केवल कर्म पर्याय को बदलकर शुद्ध पर्याय में आना आवश्यक है। अतः स्पष्ट है कि अर्हतों के 'विहुयरयमला स्वरूप' का ध्यान भक्त साधक को भी 'विहुयरयमला' बनाने में समर्थ है और यही 'तित्थयरा में पसीयंतु' का इसके साथ रहस्य है।

## पहीणजरमरणा

एक बार एक बहन ने साध्वियों से लोगस्स का पाठ याद करना प्रारंभ किया। प्राचीन समय में पुस्तकीय ज्ञान नहीं था मुखस्थ ज्ञान की परिपाटी प्रचलित थी। उस बहन ने एक दिन क्रमशः चलते-चलते 'पहीणजरमरणा' का बोल लिया और घर आकर याद करने बैठी। वह पहीणजरमरणा तो भूल गई और 'पीहर में जाकर मरना' इस पाठ को रटने लगी। याद करते-करते उसने सोचा आज साध्वी श्री जी ने यह क्या पाठ पढ़ाया। मौत किसी को पुछकर थोड़े ही आती है। इसी ऊहापोह में वह अपनी जेठानी के समीप पहुँची और पूछने लगी—भाभीजी! पीहर में जाकर मरना अच्छा या ससुराल जाकर। भाभीजी ने कहा—आज यह प्रश्न कैसे उठा? तब वह बोली महाराज ने लोगस्स के पाठ में आज मुझे यह बोल दिया है

कि पीहर जाकर मरना। अगले दिन दोनों साध्वियों के पास पहुँची और जिज्ञासा के स्वर में पूछा—महाराज! पीहर में जाकर मरना अच्छा या ससुराल जाकर। तब साध्वियों ने स्मितवदन कहा—मौत को कौन रोक सकता है? वह तो कहीं पर भी आ सकती है। तब वह बहन बोली महाराज! कल आपने ही 'लोगस्स' में मुझे यह पढ़ाया था पीहर में जाकर मरना। साध्वियों ने मुस्कान बिखेरते हुए कहा—हमने तो यह पाठ पढ़ाया "पहीणजरमरणा" अर्थात् भगवान्! आप जरा और मृत्यु से रहित हैं। सही जानकारी पा दोनों अपनी अज्ञानता पर हंसने लगीं। उन्हें एक बोध पाठ मिला उच्चारण शुद्धि का, अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

लोगस्स के इस पांचवें पद्य में तीर्थंकर भगवन्तों की पहली विशेषता रज, मल से रहित और दूसरी विशेषता जरा और मृत्यु से रहित अवस्था बताई गई है। विश्व में सबसे बड़े दो प्रकार के भय हैं—

१. जरा
२. मृत्यु

भय उन्हीं को रहता है जिनके कर्म शेष रहते हैं। जैसा कि पीछे बताया जा चुका है कि अर्हत् अवस्था में भगवान चार घाती कर्मों से मुक्त होते हैं और सिद्ध अवस्था में वे आठों कर्मों से मुक्त हो जाते हैं अतः स्वतः ही इस जरा और मृत्यु के भय से मुक्त हैं। न तो कभी वृद्ध होते हैं, न जरा ग्रस्त और न ही अब उन्हें कभी मरना है। मुक्त होने से पूर्व उनका जीना भी सार्थक और मरना भी सार्थक। क्योंकि जीवित रहकर वे भवी जीवों को तारते हैं और मरण प्राप्त कर सिद्ध स्वरूप को प्राप्त करते हैं और सदा, सर्वदा के लिए अजरामर हो जाते हैं।

साधक लोगस्स स्तव के दौरान स्वरूप गत विशेषता जरा-जन्म-मरण से मुक्त अर्हतों को 'तित्थयरा में पसीयंतु' कहकर अपनी प्रसन्नता और अद्वैत समर्पण प्रकट करता है। क्योंकि निश्चय नय के अनुसार तो यथार्थ यही है कि धर्म ही एक मात्र प्राणी के लिए त्राण और शरण है। उसकी आराधना करके ही जन्म, जरा, रोग, शोक, मृत्यु आदि की परम्परा को अन्तिम रूप से समाप्त करने में सक्षम होता है। धर्म की शरण का तात्पर्य अर्हत् शरण अर्थात् शुद्ध आत्मा की शरण से ही है। इसलिए कहा गया—केवलि—पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।

धर्म एक लोकोत्तर तत्त्व है, पारमार्थिक तत्त्व है। आत्मशुद्धि का यह एक मात्र साधन है। यद्यपि यह जरा, रोग, मृत्यु जैसी स्थितियों से सीधा प्राणी को नहीं बचाता पर परिणाम रूप में परोक्षतः यही एक मात्र ऐसा तत्त्व है जो प्राणी को इनसे बचा सकता है। अनंत-अनंत प्राणी इस धर्म की शरण स्वीकार कर, आराधना कर इनकी असहनीय त्रास से सदा-सर्वदा के लिए मुक्त हुए हैं। वस्तुतः

अर्हत् धर्म, केवली भाषित धर्म की शरण अन्तिम निष्पत्ति के रूप में एक ऐसी स्थिति निर्मित करती है कि उसको उपलब्ध हो जाने के पश्चात् प्राणी की भव भ्रमण यात्रा अन्तिम रूप में परिसम्पन्न हो जाती है, यही 'तित्थयरा में पसीयंतु' का रहस्य है।

किंवदन्ति है कि अमृत को पीने वाला प्राणी अमर हो जाता है, न उसे कभी बुढ़ापा आता है और न ही वह कभी मरता है। अमृत के लिए तो यह केवल कल्पना ही है परन्तु भगवान की वाणी का पान करने वाला भक्त तो वास्तव में अजर-अमर हो जाता है, कर्म मुक्त हो जाता है। मोक्ष पाने के बाद न जरा है और न मरण है। मुक्त आत्मा सदा एक रस रहती है।

## वृद्धत्व और जरा

अर्हतों की वाणी रहस्यमयी होती है। 'पहीणजरमरणा' में 'जरा' शब्द का प्रयोग हुआ है, वृद्धत्व का नहीं, दोनों में अन्तर है। जरा और वृद्धत्व के अन्तर का निराकरण डॉक्टर दयानंद भार्गव ने अत्यन्त सुन्दर और यथार्थ रूप में चित्रित किया है निर्जरा शब्द के माध्यम से।

निर्जरा शब्द में 'जरा' शब्द पर ध्यान दें। जरा का अर्थ है बुढ़ापा। बुढ़ापे का अर्थ है विकास का अवरुद्ध हो जाना। जहाँ प्राण का प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है वहाँ विकास रूक जाता है। मानो बुढ़ापा आ जाता है। बुढ़ापे का संबंध वर्षों से नहीं है। आठ वर्ष के बच्चे का भी यदि विकास रूक गया हो तो वह बूढ़ा हो गया। अस्सी वर्ष का व्यक्ति भी यदि विकासशील है तो वह जराग्रस्त नहीं है।

कालिदास ने वृद्धत्व और जरा के बीच भेद किया है—अनुभव समृद्धता वृद्धत्व है और विकासशीलता का समाप्त हो जाना जरा है। जरा प्राण के प्रवाह के भेद हो जाने का परिणाम है। स्वेच्छा से दुःख के प्रतिकूल परिस्थितियों को आमंत्रित करके साधक प्राण के प्रवाह को गति देता है। विकास का अवरोध समाप्त हो जाता है। 'जरा' का चला जाना ही निर्जरा है।[७]

निर्जरा के लिए एक शब्द है—विधूननम्-प्रकंपित कर देना। जैसे पक्षी पंखों को हिलाकर सारे रज-कणों को धून डालता है वैसे ही जो निर्जरा करने वाला है वह अपनी सत् प्रवृत्ति के द्वारा कर्म-रजों को धून डालता है, प्रकम्पित कर, झाड़कर साफ कर डालता है। निर्जरा प्रकंपन की प्रक्रिया है। इसमें व्यक्ति अवांछनीय प्रकम्पनों के प्रति वांछनीय प्रकंपन/शक्तिशाली प्रकंपन पैदा कर उसको समाप्त कर देता है, पुराने संग्रह को सामप्त कर देता है।[८]

लोगस्स में उत्तम वर्णों का संयोजन ही इस प्रकार का है जो बोलते अथवा

स्मरण करते ही ऊर्जा प्रवाह को अधिक गतिशील बना देता है। ऊर्जा प्रवाह की गतिशीलता प्राणों में अद्‌भूत शक्ति का संचार करती है।

अर्हत् नमस्कार तत्काल बंध की अपेक्षा असंख्यात् गुणी निर्जरा का कारण है इसलिए सोना, खाना, जाना, वापस आना और शास्त्र प्रारंभ आदि क्रियाओं में अर्हत् नमस्कार अवश्य करना चाहिए। किंतु व्यवहार नय की दृष्टि से गुणधर भट्टारक का अभिप्राय है कि परम्परा के अतिरिक्त अन्य सब क्रियाओं में अर्हत् नमस्कार नियम से करना चाहिए क्योंकि अर्हत् नमस्कार किये बिना प्रारंभ की हुई क्रिया में मंगल का फल नहीं पाया जाता। इसी तथ्य की पुष्टि हेतु कषाय पाहुड की निम्नोक्त पंक्तियां विमर्शनीय हैं–

**अरहंत णमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयडमदि।**
**जो सव्व दुक्ख मोक्खं पावइ अचिरेण कालेण ॥**[९]

जो विवेकी जीव भक्ति पूर्वक अर्हत् को नमस्कार करता है वह अतिशीघ्र समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने लिखा है जब स्मृति शक्ति, निर्णय शक्ति और आत्म-नियंत्रण की शक्ति क्षीण हो जाती है तब आदमी बूढ़ा हो जाता है, चाहे वह पचास वर्ष का ही क्यों न हो। और एक व्यक्ति पचास वर्ष का है पर उसकी स्मृति शक्ति तेज है। उसकी निर्णय शक्ति भी अच्छी है और वह आत्म नियंत्रण करने में भी सक्षम है तो वह बूढ़ा होते हुए भी युवा है, वह वृद्ध युवा है।[१०] नई शक्तियों की प्राप्ति और प्राप्त शक्तियों का संरक्षण तथा उपयोग किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में जीवन में आनंद उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार बुढ़ापा शक्ति संरक्षण का साधन बन जाता है।[११]

## वृद्धावस्था से मुक्ति : कुछ प्रयोग

सामान्यतः चालीस वर्ष के पश्चात् हमारे फेफड़े की शक्ति क्षीण हो जाती है। जितनी प्राणवायु लेनी चाहिए उतनी प्राणवायु को लेने की शक्ति उनमें नहीं रहती। उस समय दीर्घश्वास लेना बहुत जरूरी है। चालीस वर्ष के बाद आदमी जितना लम्बा श्वास लेता है उतना ही स्वस्थ और युवा रह सकता है।[१२] लम्बा श्वास और लम्बे श्वास पर चित्त को केन्द्रित करने का अभ्यास–ये दोनों बातें मिल जाती हैं तब यह प्रक्रिया बहुत शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण हो जाती है। योगासन और प्राणायाम के द्वारा पिच्युटरी और अन्तःस्रावी ग्रंथियों की क्षमता बहुगुणी होती है, उसका प्रभाव पूरे शरीर पर पड़ता है, सुषुप्त शक्तियाँ जागृत होती हैं। एकाग्रता का विकास उत्तरोत्तर होता जाता है। शारीरिक, मानसिक,

भावनात्मक तनावों से मुक्ति मिलती है। योगासन से जब इन स्थानों पर क्रिया नियमन का अभ्यास किया जाता है तो अन्तःस्रावी ग्रंथियों के सतत होने वाले स्राव और उनका शरीर मनोवृत्त प्रभाव भी नियमित होता है। इसी नियमन के परिणामस्वरूप योगी का शरीर कांतिमान, विशेष प्रभामंडल युक्त, स्वस्थ, सुडौल, उत्साही, निरोग तथा विशेष स्मृति, बुद्धि और इंद्रियाँ पराक्रम युक्त हो जाती हैं। अन्तःस्रावी ग्रंथियों के प्रभाव से होने वाली जरा और तज्जन्य प्रभाव भी मंद हो जाते हैं। अतः शरीर और मन अजर जैसी अवस्था प्राप्त करता है।

निम्नांकित कुछ प्रयोग जो आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के साहित्य में निर्दिष्ट हैं निम्न प्रकार से हैं जिनमें से एक दो प्रयोग के नियमित अभ्यास से भी युवावस्था को कायम रखा जा सकता है–

१. शशांकासन
२. सर्वेन्द्रिय संयम मुद्रा
३. अर्द्धमत्स्येन्द्रासन
४. जीभ को दांत के मूल में लगाकर एक मिनट अर्हं ध्वनि का लयबद्ध जप (आवाज साइलेन्ट रहेगी)
५. एक्युप्रेशर के अनुसार दाहिने हाथ की कोहिनी और पोंहचे के मध्य स्थान पर दबाव देना।
६. ललाट के ऊपर पूर्ण चंद्रमा के समान ज्योति का ध्यान करने से कुष्टादि रोग शांत एवं सर्वदा पीत वर्ण व उज्ज्वल ज्योति का ध्यान करने से सर्व रोगोपशमन एवं वृद्धावस्था के सर्व लक्षणों से रहित हो जाते हैं।

तीर्थंकर चन्द्र से भी अधिक निर्मल हैं। अतः ललाट पर "चंदेसु निम्मलयरा-सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु" का श्वेत रंग में ध्यान आत्मोदय के सर्वोच्च शिखर अरुज-अज-अजर-अमर पद तक पहुँचाने का सोपान तो सिद्ध होगा ही परन्तु वर्तमान जीवन के लिए भी वरदान सिद्ध होगा। कवि की निम्नोक्त पंक्तियां पूर्ण समर्पण भाव को प्रदर्शित कर रही है–

**एकोऽहं नास्ति मे कश्चिन कस्यचित्।**
**त्वद्दृष्टिशरणस्यस्य मम देन्यं न किंचन ॥**

अर्थात् मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है, मैं भी किसी का नहीं हूँ फिर भी तुम्हारे चरणों की शरण में स्थित हूँ इसलिए मेरे मन में किञ्चित् दीनता नहीं है।

## अरहन्तों की शरण क्यों?[१३]

- शक्ति जागरण के लिए
- भक्ति और मुक्ति के लिए

- दुष्प्रवृत्तियों से बचने के लिए
- गुणात्मक विकास के लिए
- भावनात्मक आलंबन के लिए
- मानसिक शांति और संतोष के लिए
- चिंता और भय से मुक्त होने के लिए
- सम्यक् दृष्टि और सम्यक् दिशा बोध के लिए
- लक्ष्य प्राप्ति के लिए
- लौकिक और पारलौकिक उत्कर्ष के लिए
- आरोग्य, बोधि और समाधि के लिए
- आत्म-दर्शन, आत्म-सिद्धि के लिए

## निष्कर्ष

रविन्द्रनाथ टैगोर की निम्नोक्त पंक्तियाँ मानव की विशिष्टता को दर्शा रही हैं—"समुद्र में मछली मौन रहती है, धरती पर पशु शोर करते हैं और हवा में पक्षी गाता है पर मनुष्य में सागर का मौन, धरती का शोर, हवा का संगीत—तीनों विद्यमान हैं। इससे मनुष्य की विशिष्टता सिद्ध होती है। मनुष्य को ज्ञान प्रवीणता, संतुलन और अन्तर्दृष्टि प्राप्त है।" सचमुच हमारे पास सब कुछ है, चिंतन शक्ति, ज्ञान शक्ति, श्रद्धा शक्ति, कर्म शक्ति और ऊर्जा शक्ति का अक्षय कोष हमारे भीतर विद्यमान है। जीने का मतलब ही है प्रतिक्षण विकास का उर्ध्वारोहण, अनंत शक्तियों का प्रकटीकरण, अस्मिता और अस्तित्व की तलाश में सफल पुरुषार्थी प्रयत्न। निस्संदेह निर्माण का हर पल उत्सव बन अनेक उपलब्धियां देता है। अतएव अपने चैतन्य वीर्य का अनुक्षण उपयोग करते रहना चाहिए, जब तक मोक्ष महोत्सव की सफलताएँ उसका मस्तकाभिषेक न करें। "अपने हाथ जगन्नाथ" की कहावत इसी ओर संकेत करती है कि "अयं मे हस्तो भगवानू अयं में भगवत्तरः" अर्थात् ये मेरे हाथ ही भगवान है, इतना ही नहीं ये भगवान से बढ़कर है। अपने द्वारा अपना निर्माण यह शाश्वत सत्य है। इस सत्य का साक्षात्कार ही "तित्थयरा मे पसीयंतु" है। क्योंकि सम्यक् दिशा में लगा संकल्प ही मनुष्य को "कार्यं वा साधयेयं देहं वा पातयेयं" जैसा निश्चय प्रदान करता है।

स्वस्थ जीवन के संदर्भ में मनोनुशासनम् की निम्नोक्त पंक्तियाँ नीति वाक्य की तरह लागू होती हैं—

**"ज्योतिर्मयोऽहं आनंदमयोऽहं, [illegible] निर्विकारोहं वीर्यवानहं"।**

अर्थात् मैं ज्योतिर्मय हूँ, आनंदमय हूँ, स्वस्थ हूँ, निर्विकार हूँ, वीर्यवान हूँ।[१४] उपरोक्त पवित्र संकल्पों को रात्रि शयन और प्रातः जागरण के समय स्थिर और पवित्र मन से अनुप्रेक्षा पूर्वक करना चाहिए।

साधना की सफलता के लिए दृढ़ आस्था का होना अनिवार्य है। उसके होने पर भी यदि दीर्घकाल तक न चले तो भी सफलता संभव नहीं है, दीर्घकालिक अभ्यास होने पर भी यदि वह निरन्तर न चले उस स्थिति में भी साधक सफल नहीं हो सकता है। इन सबके होने पर भी बंधन-विलय से प्राप्त योग्यता अपेक्षित रहती है। इन सबका समुचित योग होने पर जो असंभव प्रतीत होता है, वह संभव बन जाता है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि दिव्यता चेतना का नवनीत अर्थात् सारभूत तत्त्व है। मनुष्य मूलतः दिव्य है तथा चेतना के विकास द्वारा दिव्यत्व का प्रस्फुटन करना मानव का न केवल कर्त्तव्य है बल्कि उसके जीवन की कृतार्थता भी है, और यही कृतार्थता है "तित्थयरा मे पसीयंतु"।

## संदर्भ


१. समवायांग–२५वां अतिशय
२. समतावाणी
३. भक्तामर–श्लोक १६
४. भक्तामर एक दिव्य दृष्टि पृ./८०
५. कल्याण मंदिर–८
६. जैन भारती, फरवरी १९९०, पृ./१८२
७. जैन भारती, नवम्बर १९९८ पृ./३८
८. महावीर की साधना का रहस्य–पृ./१८६
९. जयधवलासदिहे कसाय पाहुडे प्रथम अर्थाधिकार, पृ./१९
१०. मन का कायाकल्प–पृ./१२७, १२८
११. मन का कायाकल्प–पृ./१३२
१२. वही–पृ./१२६
१३. स्वागत करे उजालों का, पृ./११४
१४. मनोनुशासनम् छठा प्रकरण–२६, २७, पृ./१५३

# १५. लोगस्स : रोगोपशमन की एक प्रक्रिया

**सही दृष्टिकोण और आत्मसंयम, आत्मा के ये दो ऐसे दुर्लभ गुण हैं, जिनकी प्राप्ति से अपने मूल स्वरूप को प्राप्त किया जा सकता है। निश्चयनयानुसार आत्मा शुद्ध, बुद्ध और आनंदमय तत्त्व है। क्रोध आदि उसके विभाग हैं, जो आत्मा को विकृत बनाते हैं। आत्मा को विभाव से स्वभाव की दिशा में उत्प्रेरित रखने हेतु लोगस्स की स्तुति में कहा गया है–कित्तिंत, वंदित मेरे द्वारा लोक में जो ये उत्तम सिद्ध हैं वे मुझे आरोग्य, बोधि लाभ और श्रेष्ठ उत्तम समाधि दें।**

मानव शरीर एवं मस्तिष्क में विद्यमान शक्तियों को ध्यान साधना द्वारा विकसित किया जा सकता है। इस साधना के द्वारा ही सम्यक् ज्ञान, सम्यक्, दर्शन, सम्यक् चारित्र एवं आनंद के द्वार उद्घाटित होते हैं। बाहरी जगत् की संपदाएँ हमें सुविधा संपन्न बना सकती हैं पर शांति संपन्न नहीं। स्वास्थ्य, सौन्दर्य, सुयश, शक्ति और संपत्ति–इन पांच सकारों की प्राप्ति हेतु मानव दौड़ता है परंतु क्या मन की शांति के बिना ये वस्तुएँ सुख दे सकती हैं? इन भौतिक वस्तुओं से प्राप्त होने वाला सुख अवास्तविक है इसलिए बाह्य जगत् की अपेक्षा अन्तर्जगत् की संपन्नता ही वास्तविक शांति दे सकती है। वह संपन्नता है व्यक्ति के चैतन्य की प्रभुसत्ता का विकास।

## आध्यात्मिक विकास का रहस्य

व्यवहारिक जगत् में देखा जा रहा है कि कुछ व्यक्ति धुरन्धर विद्वान एवं भौतिक संपदा से संपन्न होने के बावजूद भी अशांत नजर आते हैं उनके पास अपनी समस्याओं का सही समाधान नहीं है। कई बार ऐसा सुनने में या पढ़ने में आता है कि एक वैज्ञानिक या बौद्धिक व्यक्ति ने आत्महत्या कर अपने प्रखर बौद्धिक जीवन की लीला को समाप्त कर दिया। हर एक समझदार व्यक्ति के मन में *प्रश्न उठता है, ऐसा क्यों? समाधान के रूप में कहा जा सकता है कि उनमें*

बौद्धिक चेतना का पूर्ण रूपेण विकास तो होता है पर आध्यात्मिक चेतना उनमें प्रसुप्त एवं अप्रकट है। जब तक मानस में सुषुप्त आध्यात्मिक चेतना का जागरण नहीं हो जाता है तब तक समस्याओं के चक्रव्यूह को तोड़ा नहीं जा सकता।

जैन दर्शनानुसार बौद्धिक क्षमताओं के विकास का संबंध उसके ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम से तथा आध्यात्मिक चेतना का संबंध मोहकर्म के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम से है। यदि व्यक्ति में मोहकर्म का आवरण प्रबल है तो उसमें आध्यात्मिक चेतना का विकास संभव नहीं है फिर चाहे वह व्यक्ति कितना ही बड़ा विद्वान, वैज्ञानिक या वकील हो। मोहकर्म के अस्तित्व के कारण ही राग-द्वेष और राग-द्वेष के कारण क्रोध, मान, माया, लोभ जैसे आवेग तथा हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा (घृणा), काम-वासना जैसे उप आवेग उत्पन्न होते हैं। इन आवेगों, उप आवेगों की विद्यमानता में व्यक्ति का विकास अवरूद्ध हो जाता है, इनका उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय करके ही वह आध्यात्मिक चेतना का विकास कर सकता है। अतः सुखमय जीवन जीने के लिए बौद्धिक विकास के साथ आध्यात्मिक विकास भी आवश्यक है।

लोगस्स स्तव के निमित्त से साधक वीतराग स्तुति और आत्मगुण विकास के संकल्प को पुष्ट करता हुआ जैसे-जैसे असत् प्रवृत्तियों से दूर हटता है और सत् प्रवृत्तियों से चित्त को भावित रखता है वैसे-वैसे आत्म-उन्मुखता और पर पराङ्मुखता आती जाती है।

## कीर्तन और आध्यात्मिकता

सही दृष्टिकोण और आत्म संयम, आत्मा के ये दो ऐसे दुर्लभ गुण हैं जिनकी प्राप्ति से अपने मूल स्वरूप को प्राप्त किया जा सकता है। निश्चय नयानुसार आत्मा शुद्ध, बुद्ध और आनंदमय तत्त्व है। क्रोध आदि उसके विभाव हैं जो आत्मा को विकृत बनाते हैं। आत्मा को विभाव से स्वभाव की दिशा में उत्प्रेरित रखने हेतु लोगस्स की स्तुति में कहा गया है–

**कित्तिय वंदिय मये जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।**
**आरोग्ग बोहि लाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥**

अर्थात् किर्तित (मन से नाम व गुणों का स्मरण), वंदित (वचन से नाम व गुणों का स्मरण) मेरे द्वारा लोक में जो ये उत्तम सिद्ध हैं, वे मुझे आरोग्य, बोधि लाभ और श्रेष्ठ उत्तम समाधि दें।

लोगस्स में यह एक ऐसी गाथा है जो कीर्तन से प्रारंभ होकर उत्तम समाधि पर विराम लेती है। प्रमुखतः कीर्तन के दो प्रकार हैं–

१. भावनामय—हृदय से किया जाने वाला निःशब्द स्तवन। कीर्तन की यह व्याख्या सर्वोच्च और अंतिम है।

२. स्वरमय—इसमें लयबद्ध रटन होता है। शब्दों का सामंजस्य, स्वर का माधुर्य और साहचर्य होता है।

भक्ति का ऐश्वर्य, शब्दों का सौन्दर्य और स्वाभाविक माधुर्य के सामंजस्य का नाम ही है कीर्तन। सम्पूर्ण लोगस्स पाठ में कीर्तन शब्द दो बार प्रयुक्त हुआ है—प्रथम बार "कित्तइस्सं"—भक्त की पहचान के रूप में दूसरी बार "कित्तिय"—भगवत् सत्ता की पहचान के रूप में।

भोजन की तरह कीर्तन के समय भी मुँह से भिन्न-भिन्न रस उत्पन्न होते हैं। विज्ञान के अनुसार मुंह स्थित भिन्न-भिन्न स्वाद ग्रंथियों से स्रवित रस ऊपर सूक्ष्म अन्तरिक्ष शक्तिधारा से उतरती हुई परम पावन शक्ति का और धरती से ऊपर की ओर आती पवित्र ऊर्जा शक्ति का आकर्षण करता है। कीर्तन में भक्ति की प्रमुखता होती है। भक्ति में एकाग्रता और स्थिरता के पश्चात ध्यानावस्था आती है, अतएव भक्ति की समाप्ति ही ध्यान है। लोगस्स साढ़े तीन आवर्त्त का स्पेक्ट्रम है। सात गाथाओं के सात रंगों में कीर्तन और भावना के दो रंग सम्मिलित होकर नव रंगों के माध्यम से स्पेक्ट्रम बनकर यह हमारे अनंत जन्मों के कर्मों को समाप्त कर देता है। शर्त सिर्फ इतनी ही है कि ये कीर्तन मस्तिष्क के दूसरे विभाग अवचेतन तक पहुँचने चाहिए।

सामान्यतः मस्तिष्क के दस विभाग हैं, प्रथम चेतन मन का शेष नौ अचेतन मन के। प्रथम विभाग स्थित चेतन मन जैसे भाव पैदा करता है वैसा ही शेष नौ भाग काम करते हैं। बर्फ पानी में तैरता है, नौ भाग अन्दर रहते हैं हमें केवल दसवां भाग ही दिखाई देता है। यही हमारे मस्तिष्क की स्थिति है। हमारे रटन, स्मरण, कीर्तन, वंदन, नमन, स्तवन आदि सब भावात्मक प्रवाह पहले प्रथम विभाग में ही जमा होते हैं। जब वे आवर्त्तन रूप में सघन हो जाते हैं तब वे सक्रिय बनकर अवचेतन मन में चले जाते हैं। इस प्रकार कीर्तन से समाधि तक कदम-कदम चलता हुआ एक दिन साधक साध्य को सिद्ध करने में सफल हो जाता है। ध्यान अथवा अर्हत्-सिद्ध स्तुति के निरन्तर अभ्यास के बिना अध्यात्म विकास के सूक्ष्म रहस्यों को हस्तगत करना असंभव प्रतीत होता है। सूक्ष्म रहस्यों को समझे बिना आध्यात्मिक चेतना के अंतरंग पथ को पकड़ पाना भी असंभव है। यह साधना ही आत्मा को कर्मों से मुक्त करने का सही मार्ग है। अतः अपेक्षा है कर्म सिद्धान्त रूपी साहित्य का तलस्पर्शी अध्ययन कर तत्त्व ज्ञान की गहराई में जाकर अध्यात्म के रहस्यों को पकड़ने का अभ्यास किया जाए। जैसे—बंध क्या है? जीव कर्म बंध

कैसे करता है? बंध के कितने प्रकार हैं? कर्म कौन बांधता है? कर्मों का उदय किस प्रकार होता है। क्या कर्म पूर्णतया निरंकुश है? क्या मनुष्य अपने पुरुषार्थ द्वारा अपने कर्म बंधनों को तोड़कर अथवा उनका संक्रमण कर अपना भाग्य बदल सकता है? क्या हमारे जीवन में जो कुछ घटित होता है वह सब कुछ पूर्व कर्मों का ही फल है या उस पर वर्तमान के व्यवहार एवं आचरण का भी प्रभाव पड़ता है—इत्यादि।

## कैसे हो कार्मण शरीर प्रकंपित?

कार्मण शरीर के प्रकंपन की प्रक्रिया से पूर्व कार्मण और तैजस—इन दो शरीरों को समझना आवश्यक है। क्योंकि द्रव्य और भाव—इन दोनों प्रकार के आरोग्य का संबंध इन दोनों शरीरों से ही संपृक्त है।

तैजस् शरीर—जो शरीर आहार आदि को पचाने में समर्थ है और तेजोमय है, वह तैजस् शरीर है। यह शरीर विद्युत परमाणुओं से व कर्म शरीर, वासना, संस्कार और संवेदन के सूक्ष्मतम परमाणुओं से निर्मित होता है। तैजस शरीर, कर्म शरीर और स्थूल शरीर के बीच एक सेतु का कार्य करता है।

कार्मण शरीर—कर्म जगत् का संबंध भौतिक-स्थूल शरीर से न होकर उस सूक्ष्म शरीर से है जो दृश्य शरीर के भीतर है। कर्ममय शरीर जो अतीव सूक्ष्म है ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों के पुद्गल समूह से जो शरीर बनता है, वह कार्मण शरीर है।

शरीर विज्ञान के अनुसार हमारे भौतिक शरीर में एक वर्ग इंच में स्थित ग्यारह लाख से अधिक कोशिकाएँ होती हैं किंतु यदि सूक्ष्म शरीर में स्थित कर्म-जगत् की कोशिकाओं का लेखा-जोखा किया जाए तो मालूम होगा कि एक वर्ग इंच जगह में अरबों-खरबों कोशिकाओं का अस्तित्व है। ये कर्म पुद्गल चार स्पर्श वाले एवं अनंत स्पर्शी होते हैं। वे केवल अतीन्द्रिय शक्तियों के द्वारा ही देखे जा सकते हैं। बाह्य उपकरणों से वे नहीं देखे जा सकते।[1] हमारा शरीर भी असंख्य कोशिकाओं से बना है। प्रत्येक कोशिका के बीच नाभिक होता है। इन नाभिकों में जन्म जन्मान्तर के संचित ज्ञान व संस्कार के गुण सूत्र ग्रंथियों के रूप में स्थित हैं। हर नाभिक में स्थित संस्कार सूत्र की लंबाई वैज्ञानिकों ने पांच फुट आंकी है। इस प्रकार शरीर के लगभग ६०० खरब कोशिकाओं में स्थित संस्कार सूत्र की कुल लंबाई तीन हजार अरब फीट हो सकती है। यह लंबाई सारे विश्व को अपने में समेटने में समर्थ है। जिसके कारण इसके विश्वव्यापी होने का अनुमान लगाया जा सकता है। इसी में जीव स्थित है। प्रत्येक परमाणु एक सौर-मंडल के सदृश है

और उसका सूर्य नाभिक है। यही सूर्य परमाणु को ऊर्जा प्रदान कर सक्रिय बनाता है। शरीर का यह प्रकाश तत्त्व जीवन की सारी गति-विधियों का संचालक है जिसके नष्ट होते ही आदमी मृत्यु को प्राप्त होता है।

थियोसोफिट्स ने इन शरीरों को भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ दी हैं उन्होंने स्थूल शरीर को Physical body, सूक्ष्म शरीर को Etheric body और अतिसूक्ष्म शरीर को Astral body कहा है।[२]

परमहंस स्वामी योगानंद लिखते हैं कि भगवान ने मानव आत्मा को क्रमशः तीन देहों में अवेष्टित किया है–

१. मनोमय-कोष – कारण शरीर
२. सूक्ष्म प्राणमय-कोष – यह मनुष्य के मानसिक एवं भावनात्मक प्रवृत्ति की लीला भूमि है।
३. स्थूल अन्नमय-कोष – भौतिक शरीर

प्राणमय पुरुष अनुभूति चेतना द्वारा काम करता है और उसका शरीर प्राण तत्त्वों से निर्मित होता है। कारण शरीर पुरुष विचारों के आनंदमय प्रदेश में रहता है।[३]

तैजस और कार्मण शरीर अत्यन्त सूक्ष्म शरीर है अतःसारे लोक की कोई वस्तु उनके प्रदेश को रोक नहीं सकती। सूक्ष्म वस्तु बिना रूकावट के सर्वत्र प्रवेश कर सकती है जैसे अति कठोर लोह पिण्ड में अग्नि।

जैसे सौर चूल्हे की प्लेट ऊर्जा ग्रहण करती है और भोजन तैयार हो जाता है वैसे ही औदारिक शरीर के माध्यम से ऊर्जा तैजस् शरीर पर संग्रहित होती है तो उससे कर्म शरीर प्रभावित होता है परिणाम स्वरूप पूर्व बद्ध कर्म निर्जरित होने लगते हैं।

निस्संदेह कर्म शरीर सर्वाधिक शक्तिशाली शरीर है। यह अन्य सभी शरीरों का मूलभूत हेतु है। इसके होने पर अन्य शरीर होते हैं और न होने पर कोई शरीर नहीं होता। स्थूल शरीर का सीधा संपर्क तैजस शरीर से और तैजस शरीर का सीधा संपर्क कर्म-शरीर से है। कर्म शरीर से सीधा संपर्क चेतना का है और यह कर्म शरीर ही चैतन्य पर आवरण डालता है। कर्म शरीर स्थूल शरीर के द्वारा आकर्षित बाह्य जगत् के प्रभावों को ग्रहण करता है और चैतन्य के प्रभावों को बाह्य जगत् तक पहुँचाता है। सुख-दुःख का अनुभव कर्म शरीर से होता है। घटना स्थूल शरीर में घटित होती है और उसका संवेदन कर्म शरीर में होता है। रोग भी पहले कर्म शरीर में उत्पन्न होकर फिर स्थूल शरीर में व्यक्त होता है। वासना भी पहले कर्म शरीर में उत्पन्न होकर फिर स्थूल शरीर में व्यक्त होती है। कर्म शरीर

और स्थूल शरीर—दोनों का संबंध हमारी विभिन्न मानवीय अवस्थाओं का निर्माण करते हैं। यह हमारी भूल है कि हम समस्या और समाधान को स्थूल शरीर में खोजते हैं, जबकि दोनों का मूल कर्म शरीर में होता है। कर्म शरीर हमारे चिंतन, भावना, संकल्प और प्रवृत्ति से प्रकंपित होता है। प्रकंपन काल में वह नए परमाणुओं को ग्रहण (वंध) करता है और पूर्व ग्रहित परमाणुओं का परित्याग (निर्जरा) करता है।

इसी क्रम में लोगस्स अथवा इसके एक-दो पद्यों का ध्यान, जप, कायोत्सर्ग, स्वाध्याय, स्तुति, चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा आदि अनेक दिशाओं में अभ्यास कर कर्मों द्वारा निर्मित कार्मण शरीर को प्रकंपित व प्रभावित किया जा सकता है। कार्मण शरीर को प्रकंपित करने के अनेक मार्ग हैं उनमें से एक मार्ग है 'अर्हत्' का जप या ध्यान। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने "संभव है समाधान" में लिखा है—किसी व्यक्ति ने अर्हत् पर तीव्रता से ध्यान किया, वह स्वयं अर्हतमय बन गया। इस अवस्था में कभी-कभी इतनी तीव्र अनुभूति होती है कि ग्रंथि का भेद हो जाता है अर्थात् सम्यक्त्व की उपलब्धि हो जाती है।[४]

सिद्धान्ततः इस कार्मण शरीर की रचना तब तक ही होती है जब तक आत्मा कर्मों से बंधी है। कर्म बंध आत्मा से ही कर्म पुद्गल संबंध जोड़ते हैं और आत्मा से चिपके हुए कर्म पुद्गल अच्छे या बुरे चाहे इस जन्म के हों चाहे पिछले जन्मों के हों जीव के साथ चलते हैं और परिपक्व होने पर उदय में आते हैं। साधना करते-करते जब आत्मा कर्मों से मुक्त हो जाती है तो फिर कोई भी पुद्गल उस शुद्ध चैतन्यमय आत्मा से न तो संबंध जोड़ सकते हैं और न ही आवरण डाल सकते हैं।

## आरोग्ग बोहि लाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु—एक रहस्य

लोगस्स के एक-एक पद्य, एक-एक पंक्ति की गहराई में अवगाहन करने पर नये-नये रहस्य हस्तगत होते रहते हैं। "आरोग्ग बोहि लाभं समाहिवर मुत्तमं दिंतु" इस एक पंक्ति के रहस्यों का सूक्ष्मता से अन्वेषण करने पर ज्ञात हुआ कि इस पंक्ति का संबंध अष्ट-कर्मों से संपृक्त है। उपरोक्त पंक्ति को अष्ट-कर्मों पर विवर्णित करने से पूर्व आत्मा के गुण, आत्मा को आवृत्त करने वाले कर्म, उनके प्रकार और प्रभाव को निम्न रेखाचित्र के माध्यम से समझने की अपेक्षा है क्योंकि इनको समझने के पश्चात् ही उस रहस्य को सुगमतापूर्वक जाना जा सकता है और कार्मण शरीर को प्रकंपित भी किया जा सकता है।

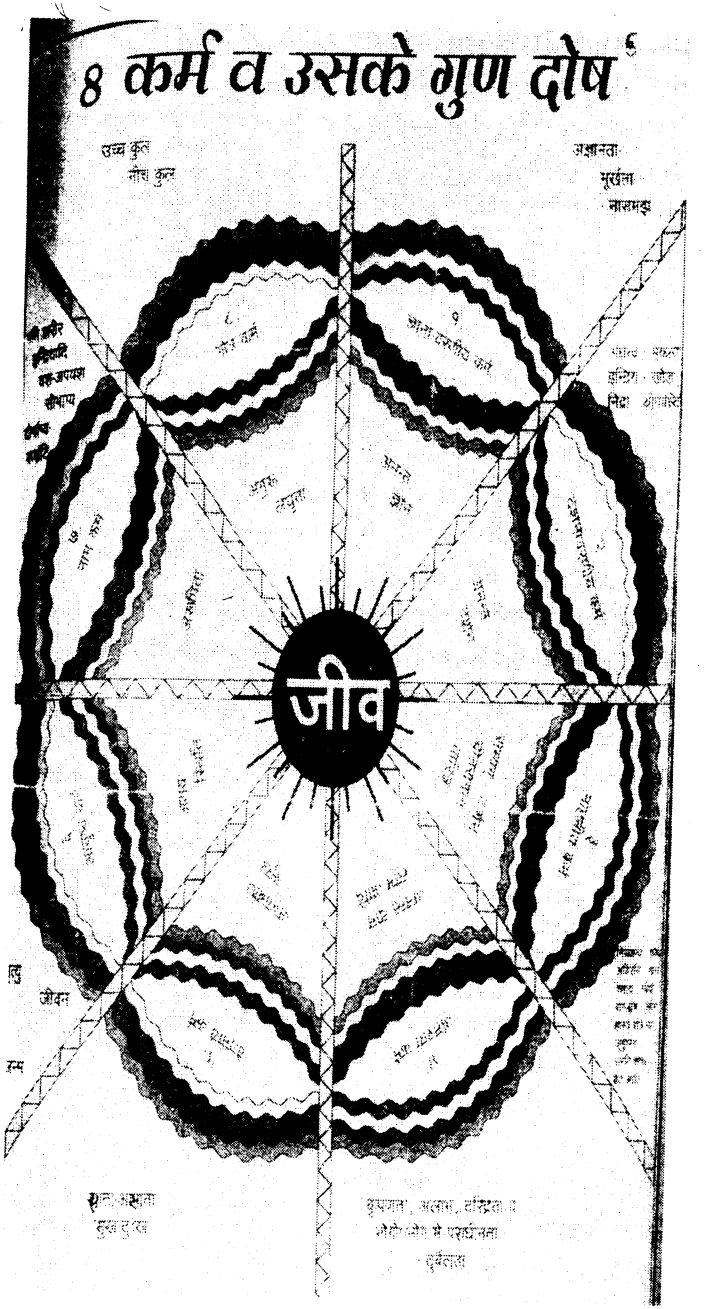
8 कर्म व उसके गुण दोष
उच्च कुल
नीच कुल
अज्ञानता
मूर्खता
नामकर्म
जीव
जीवन

अब "आरोग्ग बोहिलाभं' समाहिवरमुत्तमं दिंतु" इस पंक्ति में उपरोक्त आठ कर्मों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

| | | |
|---|---|---|
| आ | – | आयुष्य-कर्म |
| रोग्ग (रुग्ण) | – | वेदनीय-कर्म |
| बोहि-जागना व जगाना | – | दर्शनावरणीय व ज्ञानावरणीय-कर्म |
| लाभं | – | अन्तराय-कर्म |
| समाहि | – | मोहनीय-कर्म |
| वरं | – | नाम-कर्म |
| उत्तमं | – | गौत्र-कर्म |
| दिंतु | – | ये आठों कर्म क्षय होंवे–ऐसी शक्ति समाधि मुझे प्रदान करें। |

इस प्रकार कर्मों को क्षीण करने की शक्ति को साधक साधना द्वारा कर्मों की निर्जरा करता हुआ प्राप्त करता है और आत्म-विकास (गुणस्थानों) की भूमिका में आरोहण करता हुआ जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त होता है।

जैन दर्शनानुसार मोक्ष का अर्थ है–समस्त कर्मों से मुक्ति। इसमें अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के कर्मों का समावेश है। क्योंकि हथकड़ियाँ चाहे सोने की हों या लोहे की व्यक्ति को बंधन युक्त रखती हैं। उसी प्रकार जीव को शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्म बंधन में रखते हैं।

सिद्धान्ततः जीव एक द्रव्य है। द्रव्य लोक के अग्रभाग में स्वतः पहुँच जाता है। दीपक की लौ का स्वभाव ऊपर जाना है वैसे ही आत्मा का स्वभाव भी ऊपर जाना है। कर्म के कारण उसमें भारीपन आता है परंतु कर्म मुक्त होते ही स्वाभाविक रूप से आत्मा की उर्ध्वगति होती है। जब तक कर्म पूर्णरूप से क्षय को प्राप्त नहीं होते हैं तब तक आत्मा का शुद्ध स्वभाव उसी प्रकार छिपा रहता है जिस प्रकार बादलों में सूर्य। बादलों के हटते ही जैसे सूर्य पुनः अपने प्रकाश के साथ चमकने लगता है वैसे आत्मा से कर्मों का आवरण हटते ही आत्मा अपने शुभ स्वभाव में चमकने लगती है। सूर्य पर तो कदाचित् पुनः बादल आ सकता है पर आत्मा एक बार कर्म मुक्त होने पर पुनः कर्मों से आवृत्त नहीं होता।

मंत्रजप, ध्यान, स्तवन आदि का लाभ मानसिक ओजस्विता, बौद्धिक प्रखरता, आत्मिक वर्चस्व के रूप में तो मिलता ही है परन्तु आरोग्य प्राप्ति, आयु वृद्धि, विपत्ति निवारण जैसी अगणित भौतिक उपलब्धियां भी इसकी देन हैं। जैन साधकों के सम्मुख निम्नोक्त लब्धियों-योगज विभूतियों का बहुत मूल्य रहा है–

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. | जिन | २४. | विद्या सिद्ध |
| २. | परा | २५. | नभोगम |
| ३. | अनंता | २६. | दीप्तलेश्या |
| ४. | अनंतानंता | २७. | शीत लेश्या |
| ५. | सर्वावधि | २८. | तेजो लेश्या |
| ६. | बीजबुद्धि | २९. | दृष्टि विष |
| ७. | पदानुगाबुद्धि | ३०. | आशी विष |
| ८. | सभिन्नश्रोतोपलब्धि | ३१. | वाग् विष |
| ९. | क्षीर लब्धि | ३२. | चारण |
| १०. | मध्वास्रव लब्धि | ३३. | महास्वान |
| ११. | अमृतास्रव लब्धि | ३४. | तैजस् |
| १२. | अक्षीणौषधि | ३५. | वाद्य |
| १३. | जल्लौषधि | ३६. | अष्टांग निमित्त |
| १४. | खेलोषधि | ३७. | प्रतिमा प्रतिपन्नक |
| १५. | आमौषधि | ३८. | जिनकल्प |
| १६. | अग्निमौषधि | ३९. | अणिमादि अष्ट सिद्धि |
| १७. | वैक्रिय लब्धि | ४०. | केवली |
| १८. | सर्व लब्धि | ४१. | मनः पर्यवज्ञानी |
| १९. | ऋजुमति | ४२. | अवधि ज्ञानी |
| २०. | विपुलमति | ४३. | उग्र तपस्वी |
| २१. | जंघाचारण | ४४. | दीप्त तपस्वी |
| २२. | विद्याचारण | ४५. | चतुर्दश पूर्वी |
| २३. | प्रज्ञा मुनि | ४६. | एकादशांक वित्त |

उपरोक्त लब्धियों में से एक-एक लब्धि के साथ २०-२० विद्याएं जुड़ी हुई हैं, इस प्रकार हजार विद्याएं फलित होती हैं। इनका प्रयोग बंधन मुक्ति, रोग-नाश आदि अनेक प्रयोजनों के लिए किया जाता रहा है।

इस संदर्भ में नमस्कार महामंत्र चिकित्सा एवं लोगस्स चिकित्सा आदि आध्यात्मिक चिकित्साओं की न कोई प्रतिक्रिया (रिएक्शन) है, न कोई संक्रमण (इन्फैक्शन) है, न कोई अतिरिक्त प्रभाव (साइड इफैक्ट) है और न कोई पश्चात् वर्ती प्रभाव (आफ्टर इफैक्ट) है, यह पूर्णतया सुरक्षित चिकित्सा पद्धति है। इनसे मानवीय मस्तिष्क तथा हृदय असाधारण रूप से प्रभावित होते हैं। वैज्ञानिक अनुसंधानों द्वारा जाना गया है कि मंत्रोच्चारण से ध्यान की गहराई में मन को

प्रवेश करने का अवसर मिलता है जिसको प्रतिपल 'अल्फास्टेट' के रूप में ई.ई. जी. मशीन पर प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। स्तुति आदि से जीवनी-शक्ति में असाधारण रूप से अभिवृद्धि होती है। चिकित्सा विज्ञान की भाषा में जप आदि से रोग प्रतिरोधक क्षमता वृद्धिंगत होती है।

भगवान महावीर जितने अन्दर से सुन्दर थे उतने ही बाहर से सुन्दर थे। उनका आन्तरिक सौन्दर्य जन्म लब्ध था और उन्होंने साधना से उसे उच्च शिखर पर पहुँचा दिया। उनका शारीरिक सौन्दर्य प्रकृति जन्य था और स्वास्थ्य ने उसे शत गुणित और चिरंजीवी बना दिया। भगवान महावीर अपने जीवनकाल में बहुत स्वस्थ रहे। उन्होंने अपने जीवन में एक बार चिकित्सा की वह भी किसी रोग के कारण नहीं, गोशालक की तैजस् शक्ति से उनका शरीर झुलस गया था तब उन्होंने औषधि का प्रयोग किया।

उनके स्वास्थ्य के मूल आधार थे–

१. आहार संयम
२. शरीर और आत्मा के भेदज्ञान की सिद्धि
३. राग-द्वेष की ग्रंथि का विमोचन

रस लोलुपता पर विजय साधना और स्वास्थ्य दोनों दृष्टियों से अपने आप में बहुत बड़ी उपलब्धि कही जा सकती है। भोजन की अधिक मात्रा, शारीरिक और मानसिक तनाव–ये सब शरीर को अस्वस्थ बनाते हैं। भगवान महावीर इन सबसे मुक्त थे इसलिए सदा स्वस्थ रहे।[७]

## लोगस्स और आरोग्य

आरोग्य, बोधि लाभ और उत्तम समाधि जीवन एवं साधना की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ है। इनकी प्राप्ति हेतु साधक अर्हत् स्तुति के द्वारा अपनी पुरुषार्थ चेतना को सक्रिय करता है क्योंकि यह कोई एक जन्म की निष्पत्ति नहीं है। जन्म जन्मान्तरों की साधना की निष्पत्ति परिणाम लाती है। परंतु यह सत्य तथ्य है कि साधना एवं पवित्र संकल्प के द्वारा साधक अर्हत् स्वरूप के ध्यान में तन्मय बनकर आरोग्य, बोधि-लाभ तथा उत्तम श्रेष्ठ समाधि का वरण करता है। यहाँ जिस आरोग्य, बोधि लाभ और समाधि की कामना अथवा संकल्प किया गया है उसका एक विशेष अर्थ है। अतएव इन तीनों को अलग-अलग अध्यायों में समझाने का प्रयास किया गया है। इस अध्याय में केवल लोगस्स के संदर्भ में आरोग्य का ही प्रमुख रूप से विश्लेषण किया गया है।

आरोग्य का अर्थ है आत्म-स्वास्थ्य अथवा आत्मशांति जो भाव आरोग्य के

नाम से पहचाना जाता है। भाव आरोग्य का दूसरा अर्थ है—मोक्ष के लिए बोधि-सम्यक् दर्शनादि का लाभ। यही कारण है लोगस्स में आरोग्य, बोधि और समाधि की युगपत् मांग की गई है।

सामान्यतः रोग के दो प्रकार हैं—

१. द्रव्य रोग—ज्वर आदि शारीरिक रोग

२. भाव रोग—कर्म (अष्ट कर्म) जो भव परम्परा को बढ़ाने वाले हैं।

भव रोग/भाव रोग, जिससे सारा संसार संत्रस्त है भक्त इस स्तुति के माध्यम से अर्हत् भगवान से "आरोग्ग...दिंतु" उच्चरित कर कर्म रोग से मुक्ति पाने की अभिलाषा व्यक्त करता है किंतु प्रासंगिक फल के रूप में द्रव्य रोग जो कर्म रोग के कारण उत्पन्न होते हैं, कर्मरोग के समाप्त होने पर स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं।

भरूच के एक परिवार में माता, पिता, पुत्र और पुत्रवधु चार व्यक्ति थे। चारों धार्मिक थे। सास-बहु में मां-पुत्री का सा प्रेम और वात्सल्य व्यवहार था। एक दिन अष्टमी को सास-बहु ने उपवास तथा पिता-पुत्र ने एकासन तप किया। बहु रसोई बना रही थी। दाल की तपेली में छिपकली के मुँह में से कुछ लार की बूंद टपक गई। बहु को यह मालूम नहीं था। पिता-पुत्र दोनों भोजन करके ऊपर की मंजिल में 'उपासना-कक्ष' में सामायिक लेकर बैठ गये और धर्म चर्चा करने लगे। नीचे की मंजिल में सास-बहु नमस्कार महामंत्र की अनुपूर्वी गिन रही थी। दो-तीन घंटे बाद पिता-पुत्र दोनों के शरीर में जहर फैल गया। दोनों बेहोश हो गये। ऊपर से आवाज़ आनी बंद हो गई तो बहु ने सास से कहा—माताजी! बाप-बेटे दोनों में से किसी की आवाज़ नहीं आती है। सास बोली—दोनों माला फेरते होंगे।

कुछ देर बाद दोनों ने कान लगाकर ध्यान से सुना तो भी दोनों की आवाज नहीं सुनाई दी। दोनों के मन में शंका हुई। सामायिक पूरी कर दोनों ऊपर की मंजिल के उपासना कक्ष में पहुँची। देखा तो बाप-बेटे दोनों बेहोश पड़े हैं। दोनों के शरीर में जहर फैल जाने से उनका शरीर हरा हो गया। सास ने बहु से कहा—बेटी! डॉक्टर को जल्दी बुलाओ। बहु को नवकार मंत्र एवं भक्तामर स्तुति पर पूर्ण श्रद्धा थी। उसने दृढ़ता से कहा—मां! डॉक्टर को बुलाने की जरूरत नहीं है। मानतुंग आचार्य में प्रभु के प्रति दृढ़ श्रद्धा से अपूर्व शक्ति आ गई थी, क्या हममें इतनी शक्ति नहीं आ पायेगी? जो अर्हत् परमात्मा के प्रति श्रद्धा भक्ति करते हुए उनमें तन्मय हो जाता है, उसे कौन-सी शक्ति है, जो प्राप्त नहीं होती? आप मेरे ससुरजी का मस्तक अपनी गोद में ले लीजिए और मैं आपके पुत्र का मस्तक अपनी गोद में लेती हूँ। फिर आँखें बंद कर दोनों ने सम्पूर्ण भक्तामर स्तोत्र का पाठ किया तत्पश्चात निम्न श्लोक बोलने लगीं—

**रक्तेक्षणं समदकोकिलकण्ठनीलं,**
**क्रोधोद्धतं फणिनमुत्फणमापतन्तम्।**
**आक्रामति क्रमयुगेन निरस्तशंकस्**
**त्वन्नाम–नागदमनी हृदी यस्य पुंसः ॥**

इस श्लोक को शुद्ध भाव से २१ बार बोल गई। शुद्ध भाव से प्रभु का गुणगाान करने से तीर्थंकर गोत्र बांधा जा सकता है; तो क्या जहर नहीं उतर सकता? बस चमत्कार हुआ। पुत्र का जहर उतरने लगा। उसे वमन हुआ, उसका सारा जहर निकल गया और वह अंगड़ाई लेकर उठ बैठा। परन्तु पिता का जहर नहीं उतरा। सास ने कहा–बेटी! ऐसा क्यों? बहु ने कहा–मां! सारी बातें बाद में बताऊंगी, पहले मेरे ससुरजी का मस्तक मेरी गोद में रख दीजिए। ससुरजी का मस्तक अपनी गोद में लेकर बहु ने ज्योंहि २१ बार भक्तामर स्तोत्र का उपरोक्त श्लोक बोला, त्योंहि ससुर का जहर भी उतर गया। सास ने बहु से पूछा–बेटी! तूने क्या चमत्कार कर दिखाया जिससे तेरे बोलते ही जहर उतर गया।

बहु ने नम्रता पूर्वक कहा–"मां! मैंने कोई चमत्कार या जादु नहीं किया, यह तो प्रभु के प्रति अनन्य भक्ति एवं अखण्ड श्रद्धा का चमत्कार है। गुरुदेव से मैंने इस स्तोत्र का अर्थ और परमार्थ भलिभांति समझ रखा है। जब मैं यह स्तोत्र बोलती हूँ, तब मैं अपने मन, वचन और काया को उसमें ओत-प्रोत कर देती हूँ। मेरे चित्त की इतनी एकाग्रता हो जाती है कि मुझे उस समय बाहर का जरा भी भान नहीं रहता। मुझे उसमें अपूर्व आनंद आता है, यही इस चमत्कार का कारण है।

सास **समझ** गई कि मेरे में इतनी एकाग्रता, अनन्य निष्ठा और श्रद्धा नहीं थी। उसने बहु से कहा–धन्य है बेटी! तुझे! तूने वीतराग देव के प्रति श्रद्धा भक्ति से अपना जन्म सार्थक कर लिया।[८] निस्संदेह वीतराग परमात्मा के प्रति अनन्य श्रद्धा भक्ति से आत्मा में सभी प्रकार की शक्ति आ जाती है। इस प्रकार देव, गुरु व धर्म के प्रति अटल श्रद्धा जिनके रोम-रोम में होती है, उनके हाथों में मुक्ति रूपी लक्ष्मी क्रीड़ा करती है, उनके मनोवांछित पूर्ण होते हैं। जीवन का सच्चा आनंद उन्हें प्राप्त होता है।

इसी प्रकार की एक घटना आचार्यश्री तुलसी के दिल्ली चातुर्मास की है। एक बार किसी ने जहर युक्त पेड़े बहरा दिये। जिन-जिन साधु-सतियों ने पेड़े खाये, उनके शरीर में जहर ने अपना प्रभाव दिखाया। उस समय रामामंडी की बहन कलावती गुरु उपासना में आई हुई थी। उस बहन ने लोगस्स के पाठ से सबके जहर को उतार दिया। इस प्रकार देव-गुरु व धर्म के प्रति अनन्य श्रद्धा

भक्ति पूर्वक लोगस्स के पाठ से अथवा अर्हत् स्तुति से कर्म निर्जरा के साथ-साथ असाध्य रोग भी नष्ट होते देखे गये हैं और प्राण के प्रकंपन चैतन्य जागरण में भी सहायक बनते हैं।

प्राण शक्ति की सुरक्षा और संवर्धन ही अच्छे स्वास्थ्य का आधार है। यह अनुभूत सच्चाई है कि व्यक्ति प्रतिदिन यदि आधा घंटा भी स्वयं को सद्विचारों से भावित करता है तो एक माह में ही उसके व्यक्तित्व का कायाकल्प हो सकता है।

## लोगस्स और चैतन्य-केन्द्र

विशुद्धि-केन्द्र, ज्योति-केन्द्र, दर्शन-केन्द्र, शांति-केन्द्र और ज्ञान-केन्द्र—इन पांच चैतन्य-केन्द्रों को सक्रिय करने से व्यवहार और आचरण पवित्र बनते हैं और असत् आचरण तथा असत् व्यवहार पर नियंत्रण स्थापित होता है। जिस चैतन्य-केन्द्र में प्राण और चित्त जाते हैं, उस चैतन्य-केन्द्र के निर्मलीकरण की प्रक्रिया चालू हो जाती है। चित्त समाधि का बहुत बड़ा रहस्य है चैतन्य-केन्द्रों का निर्मलीकरण।

हाँ हीं आदि संयुक्त बीजाक्षरों के उच्चारण भी अनेक रोगों के लिए औषध का काम करते हैं। इनका उच्चारण जितनी बार किया जाता है हृदयगत रक्त का उतनी ही तीव्रता के साथ संचालन होता है। इससे रक्त शुद्ध होता है, हृदय की धमनियों को आराम मिलता है। मंत्र-शास्त्र में ऐसे-ऐसे मंत्रों का उल्लेख है जो हमारे शरीर तंत्र के अमुक-अमुक भाग को प्रभावित कर तत्संबंधी रोगों का निवारण करते हैं।

राजस्थानी भाषा के एक प्राचीन ग्रंथ में कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण तथ्य लिखे हैं जो पता नहीं लेखक के निजी अनुभवों पर आधारित हैं अथवा दूसरे ग्रंथों के आधार पर लेकिन बहुत ही आश्चर्य जनक और महत्त्वपूर्ण हैं। उसमें लिखा है—"नाभि कमल की अनेक पंखुड़ियाँ हैं। जब आत्म परिणाम अमुक पंखुड़ी पर जाता है, तब क्रोध की वृत्ति जागती है, जब अमुक पंखुड़ी पर जाता है तब मान की वृत्ति जागती है, जब अमुक पंखुड़ी पर जाता है तब वासना उत्तेजित होती है और जब अमुक पंखुड़ी पर जाता है तब लोभ की वृत्ति उभरती है। जब आत्म परिणाम नाभि कमल से ऊपर उठकर हृदय कमल की पंखुड़ियों पर जाता है तब समता की वृत्ति जागती है, ज्ञान का विकास होता है, अच्छी वृत्तियाँ उभरती हैं। जब आत्म-परिणाम दर्शन केन्द्र पर पहुँचता है तब चौदह पूर्वों के ज्ञान को ग्रहण करने की क्षमता जागृत होती है।[६]

यह सारा प्रतिपादन किस आधार पर किया गया है यह निश्चय पूर्वक नहीं

कहा जा सकता किंतु इस प्रतिपादन में एक बहुत बड़ी सच्चाई का उद्घाटन होता है कि मानव शरीर में अनेक संवादी केन्द्र हैं। इन केन्द्रों पर मन को एकाग्र कर मन से उसकी प्रेक्षा कर हम ऐसे द्वारों का उद्घाटन कर सकते हैं, ऐसी खिड़कियाँ खोल सकते हैं जिनके द्वारा चेतना की रश्मियाँ बाहर निकल सकें और अघटित को घटित कर सके।

निश्चय ही यह बहुत कठिन साधना है और निरन्तर लंबे समय तक इसका अभ्यास करके ही कुछ उपलब्ध किया जा सकता है। अभ्यास किये बिना केवल पुस्तकीय अभ्यास कोरा ज्ञान होता है। आगम वाणी के अनुसार—'आऽहं सुविज्जा चरणं पमोक्खं' दुःख मुक्ति के लिए विद्या और आचार का अनुशीलन करें अर्थात् पहले जानो और फिर आचरण करो।[१०]

'लोगस्स' की इन चैतन्य केन्द्रों पर जप अथवा ध्यान करने की अनेकों-अनेकों अभ्यास पद्धतियाँ उपलब्ध हैं जिसमें "आरोग्ग बोहि लाभं समाहि वर मुत्तमं दिंतु"—इस पंक्ति के जप और ध्यान की विधि उपयुक्त और कर्म-रोग को नष्ट करने में निम्नानुसार सक्षम हैं—

## प्रथम विधि

| मंत्र | चैतन्य-केन्द्र | रंग |
|---|---|---|
| आरोग्ग | विशुद्धि-केन्द्र | नीला |
| बोहिलाभं | दर्शन-केन्द्र | अरुण |
| समाहिवरमुत्तमं | शांति-केन्द्र | श्वेत |
| दिंतु | ज्ञान-केन्द्र | श्वेत |

विशुद्धि-केन्द्र पर ध्यान जब नीले रंग में किया जाता है और "आरोग्ग" मंत्र में मन को स्थिर किया जाता है तब शरीर स्थित रोगाणुओं की उत्तेजना व सक्रियता मंद, मंदत्तर और मंदतम होती हुई शांत हो जाती है। जैसे निद्राधीन व्यक्ति पर शस्त्र प्रहार करके सरलता से उसका हनन किया जा सकता है वैसे ही रक्त के श्वेतकण प्रसुप्त रोगाणुओं को सरलता से नष्ट कर देते हैं, तब रोग भी उपशमित हो जाता है। इसके साथ-साथ इस केन्द्र पर ध्यान करने से अथवा इस केन्द्र के जागृत होने पर व्यक्ति कवि, महाज्ञानी, शांत चित्त, निरोग, शोकहीन और दीर्घजीवी हो जाता है। थाईराइड़, ग्रंथि के रोग भी इस चक्र के जागृत होने पर नहीं होते। विशुद्धि केन्द्र पर नीले रंग का ध्यान आरोग्य का बहुत बड़ा निमित्त कारण बनता है।

दर्शन-केन्द्र पर अरुण रंग का ध्यान, शांति और ज्ञान-केन्द्र पर श्वेत रंग का

ध्यान करते हुए अर्हत् व सिद्ध भगवन्त के ध्यान के साथ आरोग्य, बोधिलाभ और उत्तम समाधि की अभिलाषा उपयुक्त है क्योंकि अर्हत् व सिद्धों का एक विशेषण 'अरुज' (शारीरिक, मानसिक रोग रहित) है। रोग होते हैं विकार के कारण, जहाँ विकार नहीं है वहाँ रोग भी नहीं है। इसके अतिरिक्त रोग या तो शरीर में होता है या मन में होता है पर मुक्त आत्मा इससे रहित है अतः वहाँ रोगों के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। भव रोग क्रोध, मान, माया आदि दोष भी वहां मौजूद नहीं हैं इसलिए वीतराग आत्माओं का ध्यान हमारी आत्मा में भी इन द्रव्य और भव रोगों को जीतने का आत्मबल देता है और हमारी आरोग्य, बोधि और समाधि प्राप्ति की भावना सफल होती है।

उपर्युक्त प्रक्रिया अथवा प्रयोग को बीस मिनट प्रतिदिन सूक्ष्मता पूर्वक करते हुए हम अपनी सारी वृत्तियों पर नियंत्रण पा सकते हैं, अशुभ लेश्याओं से मुक्त हो शुभ लेश्याओं में प्रवेश कर सकते हैं। शुभ लेश्याओं का आरोग्य के साथ गहरा संबंध है। क्योंकि सूक्ष्म शरीर के द्वारा जो विपाक होता है उसका रस स्राव शरीर की ग्रंथियों के द्वारा होता है और वह हमारी सारी प्रवृत्तियों को संचालित व प्रभावित करता है।

इस तथ्य को उचित रूप से जानने वाला स्थूल शरीर तक ही नहीं रूकेगा और आगे बढ़ेगा। साधना का प्रयोजन भी यही है कि आगे से आगे बढ़ते जाएँ। हम प्रयोग की भूमिका पर स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर से भी आगे उन रसायनों तक पहुँचें जो कर्मों के द्वारा निर्मित हो रहे हैं। वहाँ पहुँच कर भी रूके नहीं, आगे बढ़ें और आत्मा के उन परिणामों तक पहुँचें जो उन स्रावों को निर्मित कर रहे हैं। स्थूल या सूक्ष्म शरीर तो उपकरण हैं मूल हैं आत्मा के परिणाम। मन व आत्मा के परिणाम निरन्तर चलते रहते हैं। आत्म परिणाम यदि विशुद्ध चैतन्य-केन्द्रों की ओर प्रवाहित होते हैं तो परिणाम विशुद्ध होंगे और वे ही आत्म परिणाम वासना को उत्तेजना देने वाले चैतन्य केन्द्रों की ओर प्रवाहित होते हैं तो परिणाम कलुषित होंगे।

इस प्रकार 'लोगस्स स्तव' के द्वारा चित्त को चैतन्य-केन्द्रों पर केन्द्रित कर द्रव्य और भव दोनों ही प्रकार के रोगों से मुक्ति प्राप्त करने में सफलता हस्त गत हो सकती है क्योंकि वीतराग की साधना वीतराग बनाती है, कहा भी है—

**बढ़ता ही बढ़ता गया, तन का मन का रोग।**
**राग द्वेष ज्यूं ही छूट्या, हुग्यो सहज निरोग॥**

## दूसरी विधि

"आरोग्य बोहि लाभं समाहिवर मुत्तमं दिंतु" इस पूरी पंक्ति को केवल विशुद्धि-केन्द्र पर भी नीले रंग में किया जा सकता है।

**१. प्रयोग विधि–**

शरीर को स्थिर, शिथिल और तनाव मुक्त करें, मेरुदण्ड और गर्दन को सीधा रखें, आँखें कोमलता से बंद। अनुभव करें–मेरे चारों ओर मयूर की गर्दन की भांति चमकते हुए नीले रंग का प्रकाश फैल रहा है। दो मिनट।

चित्त को विशुद्धि केन्द्र पर केन्द्रित करें। 'आरोग्ग...दिंतु' दस मिनट तक लयबद्ध श्वास के साथ चमकते हुए नीले अक्षरों में इस मंत्र जप को जपें।

(पांच मिनट **वाचिक** जप के रूप में और पांच मिनट मानसिक जप के रूप में)

उसके बाद अनुभव करें विशुद्धि केन्द्र से नीले रंग के परमाणु निकलकर शरीर के चारों तरफ फैल रहे हैं। पूरा आभामंडल नीले रंग के परमाणुओं से भर रहा है। मुझे आरोग्य, बोधि और समाधि की प्राप्ति हो रही है। मेरी वासनाएं अनुशासित हो रही हैं, मेरा चित्त शांत हो रहा है, आनंद जाग रहा है, आनंद जाग रहा है, आनंद जाग रहा है।

दो तीन दीर्घ श्वास के साथ प्रयोग को संपन्न करें।

नोट–१. इस प्रयोग को कम से कम बीस मिनट अवश्य करें।

२. कफ प्रकृति वाले व्यक्ति नीले रंग का ध्यान ज्यादा न करें।

यह प्रयोग हमारी रोग प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाता है। जिस प्रकार सौरमंडल से विकिरण होने वाली और घातक गैसों के खतरों से समतल मंडल में स्थित ओजोन गैस की गहरी नीली परत छलनी का काम करती है। यह पृथ्वी की ओर आने वाले सौर विकिरण में से पराबैंगनी किरणों तथा विषैली गैसों को अवशोषित कर लेती है उसी प्रकार शरीर को संभावित या उत्पन्न बीमारी से बचाकर समस्थिति बनाये रखने के लिए प्रतिरोधक शक्ति प्रत्येक प्राणी के शरीर में विद्यमान होती है। पूर्ण विकसित नाड़ी तंत्र शरीर की बाह्य और आन्तरिक स्थिति के प्रति वफादार चौकीदार की तरह सजग रहता है। शरीर के नियमित और व्यवस्थित संचालन के लिए शरीर रूपी रसायन शाला में प्रतिक्षण रासायनिक प्रतिक्रियाएँ चलती रहती हैं। शरीर के प्रत्येक भाग में रक्त के माध्यम से ऐसे स्राव संचालित करती है जिनसे रासायनिक परिवर्तन घटित होता है और परिस्थितियों में कायम (संतुलित) रहने की क्षमता पैदा होती है।

निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि शरीर की स्वस्थता, सक्रियता और चिरजीविता में बाधक तत्त्वों से लोहा लेने के लिए अन्तःस्रावी ग्रंथियाँ प्रतिपल

जागरूक रहती हैं अतः उनके प्रति हमारी जागरूकता प्रतिरोधक क्षमता को वृद्धिंगत करने में अनन्य सहायक बनती है।

## तीसरी विधि

यह विधि रात्रि शयन अथवा प्रातः जागरण के समय करने से शक्तिशाली आभामंडल के निर्माण के साथ-साथ आरोग्य, बोधि और समाधि की भी प्राप्ति होती है। विधि निम्न प्रकार से है—

दोनों हथेलियों को खुला मिलाकर अपने नेत्रों के सम्मुख रखें। सर्वप्रथम अंगुलियों के चौबीस पर्वों पर चौबीस तीर्थंकरों का नाम स्मरण करें। तत्पश्चात उसी मुद्रा में हाथों को सामने रखते हुए नौ बार 'आरोग्ग बोहिलाभं समाहिवर मुत्तमं दिंतु', 'सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु' बोलें। रात्रि शयन के समय यह मंत्र बोलकर दोनों हाथों को मुँह पर तथा सिर पर फेरकर योगनिद्रा में प्रविष्ट होने से अवचेतन मन में वे संस्कार पुष्ट होते रहते हैं तथा सुबह उठते समय भी यह प्रयोग अत्यन्त लाभकारी होता है। प्रातःकाल यह प्रयोग करने के पश्चात जो स्वर चल रहा हो उसी पैर को पहले बिस्तर से बाहर रखना चाहिए, ऐसा श्रुतानुश्रुत है। किसी भी प्रयोग को संकल्पर्वूक नियमित करते रहने से वह सचेतन अर्थात् शक्तिशाली बनकर हमारी लक्ष्यसिद्धि में सहयोगी बनता है।

रोगोपशमन के लिए इसकी दो प्रकार की विधियां अध्यात्म चिकित्सा के रूप में प्रयुक्त हैं—

१. रोग अथवा रोग के स्थान पर ध्यान केन्द्रित कर लोगस्स का पूरा पाठ अथवा इसके किसी एक पद या एक अक्षर का अविरल पुनरावर्त्तन, जप के रूप में करें।

इस विधि से वेदना कारक असात वेदनीय कर्म का उपशम होता है। रोग की भी उपशांति हो जाती है।[११]

२. रोग की वेदना से ध्यान हटाकर दुःखद अनुभूति की अवगणना-उपेक्षा करके लोगस्स स्तव में लयलीन हो जाना। इसे मनोविज्ञान और योग की भाषा में ध्यान [मानसिक प्रवृत्तियों का अन्यत्र केन्द्रीकरण अथवा ध्यान का परिवर्तन Diversion of attention] भी कहा जाता है। यद्यपि इस विधि में भी रोग की शांति असाता वेदनीय कर्म के क्षयोपशम अथवा उपशम से होती है किंतु प्रक्रिया में भेद है। दोनों प्रक्रियाएँ विभिन्न मार्गों के समान अलग-अलग हैं किंतु मंजिल, लक्ष्यबिंदु एक ही है, वह है वेदना या रोग की उपशांति।[१२]

सन् १९९५ का घटना प्रसंग है। साध्वी कुशलप्रज्ञाजी को जहरीली मलेरिया हो गई। काफी ईलाज के बाद भी स्वस्थ नहीं हुई। अन्त में एक बार हाई पावर डोज के प्रयोग से बुखार तो उतर गया, पर बहुत ज्यादा कमजोरी आ गई, बैचेनी

भी काफी रहती। उस समय आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने उन्हें एक मंत्र जपने को कहा। वह मंत्र था—

**"चंदेसु निम्मलयरा आइच्चेसु अहियं पयासयरा आरोग्ग बोहि लाभं"** की प्रतिदिन तीन माला फेरो।

इस प्रयोग से स्वास्थ्य में सुधार हुआ।

(प्रेक्षाध्यान प्रयोग धर्म महाप्रज्ञ स्मृति विशेषांक, पृ./६५)

इस प्रकार आराध्य में तल्लीनता के समय उत्पन्न शांत तरंगों की ऊर्जा से शरीर की धमनियाँ सक्रिय होती हैं। परिणाम स्वरूप रक्त की सफाई होने से रक्त संचार तंत्र स्वस्थ बनता है तथा नाभि से लेकर मस्तिष्क तक के चैतन्य-केन्द्र सक्रिय होते हैं।

श्री गुलाबचन्द भाई के नमस्कार महामंत्र के अक्षरों की विद्युत चुंबकीय ध्वनि तरंगों के प्रभाव के कारण ही वमन द्वारा कैंसर के कीटाणु और दूषित रक्त बाहर निकल गया था। वे स्वस्थ हो गये। ऐसी अनेकों घटनाएं सुनते-पढ़ते हैं कि मंगलपाठ, लोगस्स, भक्तामर व नमस्कार महामंत्र के प्रभाव से अनेकों उपद्रव, रोग, अनिष्ट आदि का निवारण होता है।*

मध्य रात्रि ठीक बारह बजे एक बार लोगस्स का तन्मयता पूर्वक स्तवन नियमित रूप से करने पर कैंसर जैसी असाध्य व्याधि का भी आध्यात्मिक उपचार संभव है—ऐसा किसी अनुभवी साधक द्वारा श्रुत है।

३. **समस्या**

शारीरिक पीड़ा

- मंत्र

  **आरोग्गबोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु**

- मंत्र संख्या

  प्रतिदिन एक माला

- प्रयोग विधि

  लयबद्ध दीर्घश्वास का प्रयोग

  (मंत्र का प्रयोग भी दीर्घश्वास के साथ किया जा सकता है।)

- लाभ

  शारीरिक बाधा का निवारण होता है।[१३]

४. **शारीरिक दौर्बल्य**

- आसन

---

* विशेष जानकारी के लिए देखें नमस्कार महामंत्र एक अनुशीलन भाग एक का परिशिष्ट

उत्तानपादासन, मकरासन, वज्रासन, ताड़ासन

- प्राणायाम
  लयबद्ध दीर्घश्वास (दस मिनट)
- प्रेक्षा
  प्राण संचार का प्रयोग, सर्वांग शरीर प्रेक्षा का ध्यान। (दस मिनट)
- अनुप्रेक्षा
  शक्ति की अनुप्रेक्षा (१५ मिनट)
- जप
  **आरोग्ग बोहि लाभं समाहिवर मुत्तमं दिंतु** (दस मिनट)
- तप
  गरिष्ट और तली हुई वस्तुओं का वर्जन हो।
- मुद्रा
  पृथ्वी मुद्रा, प्राण मुद्रा[१४]

५. **समाधि मृत्यु**

- मंत्र
  **ॐ ॐ अम्बरी**
  **कित्तिय वंदिय मए जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।**
  **आरोग्ग बोहि लाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु स्वाहा॥**
- मंत्र संख्या
  १४०००
- परिणाम
  समाधिपूर्ण मृत्यु प्राप्त होती है।[१५]

६. **आरोग्य**

- मंत्र
  **संती कुंथु अरहो अरिट्ठनेमि जिणंद पासो य ।**
  **समरंताणं णिच्चं सव्वं रोगं पणासेइ॥**
- मंत्र संख्या
  प्रतिदिन २१ बार
- प्रयोग विधि
  मंत्र जप कर मुँह पर हाथ फेरें
- परिणाम
  सर्व रोगों का नाश[१६]

७. **उद्भूत भीषणजलोदर-भारभुग्नाः**
**शोच्यां दशामुपगताश्चुतजीविताशाः।**
**त्वपाद-पंकजरजोऽमृतदिग्धदेहा**
**मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपाः॥**

भक्तामर स्तोत्र के उपरोक्त पद्य की प्रतिदिन एक माला जपने से सर्व रोगों का नाश होता है, उपसर्ग भी दूर होते हैं।[१७]

## निष्कर्ष

जैन दर्शन ने रोगोत्पत्ति का मूल कारण—तीव्र कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ—आध्यात्मिक दोष) पांचों इंद्रियों के विषय में आसक्ति, हिंसा आदि घोर पाप तथा दुश्चिन्तन आदि को बताया है साथ में यह भी कहा है कि पूर्व जन्मों में उपार्जित/संचित पाप कर्म भी रोगोत्पत्ति के कारण होते हैं। इसी आधार पर जैन दर्शन का निश्चित सिद्धान्त है कि रोगों की उत्पत्ति कार्मण शरीर में होती है, तैजस् शरीर से वे उत्तेजना प्राप्त करते हैं और औदारिक शरीर में अभिव्यक्त होते हैं। उदाहरणार्थ वेद का मूल कारण कार्मण शरीर में स्थित मोहनीय कर्म की नौकषाय की वेद नाम की प्रकृति है। कर्म विपाक से तैजस् शरीर उत्तेजित होता है और इन्द्रिय विकारादि स्थूल औदारिक शरीर में दिखाई देते हैं। अतः इस दृष्टि से साधना के क्षेत्र में कार्मण शरीर को प्रकंपित करना अनिवार्य होता है।

आधुनिक विज्ञान ने अनेक सुविधाओं के साथ रोगों की भी देन दी है जिससे मानव संत्रस्त है, उनमें से प्रमुख हैं—दर्द, बेचैनी, अनिद्रा, तनाव, मस्तिष्क पीड़ा, अल्सर, नेत्र और गले संबंधी रोग, रक्तदाब, मधुमेह आदि-आदि। ये रोग शरीर संबंधी भी हैं, मस्तिष्क संबंधी भी हैं और शरीर तथा मन से संबंधित भी हैं। अध्यात्म चिकित्सा के द्वारा इन सब रोगों का इलाज संभव है। साध्वी शुभ्रयशाजी ने "भीतर का रोग भीतर का इलाज" पुस्तक में अनेकों आध्यात्मिक चिकित्साओं का समाधान वैज्ञानिक संदर्भ में प्रस्तुत किया है जो पठनीय, मननीय और आचरणीय है। वर्तमान समय में भी हिमालय के किन्नोर आदि क्षेत्रों में तथा काकेशस पर्वत पर रहने वाले स्त्री, पुरुष जीवनभर निरोगी रहते हैं और दीर्घजीवी होते हैं। १५०-१७५ वर्ष की आयु तक के स्त्री-पुरुष अब भी मिलते हैं, वे जानते ही नहीं कि रोग क्या होते हैं? कारण एक ही है, आधुनिक सभ्यता के चरण वहाँ तक नहीं पहुँच सकते हैं। वे प्राकृतिक जीवन जीते हैं, शांत प्रकृति के हैं, स्वस्थ और सुखी रहते हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि रोग अनेक हैं और औषधियाँ भी अनेक

हैं। इनकी सूची बहुत लम्बी है, लेकिन इतना निश्चित है कि नमस्कार महामंत्र, लोगस्स स्तव आदि आध्यात्मिक अनुष्ठानों से सभी प्रकार के शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक रोगों का सफल उपचार किया जा सकता है। क्योंकि यह साधना मन के धरातल पर आरंभ होती है। मन की शांति, स्वास्थ्य, दीर्घ जीवन, तनाव मुक्ति तथा बुरी आदतों से छुटकारा पाने के लिए जीवन को प्रायोगिक धरातल पर निष्णात बनाना परम आवश्यक है।

लोगस्स में अर्हतों का ध्यान श्वेत रंग में किया जाता है। श्वेत रंग शुद्धि कारक है। शारीरिक दृष्टि से यह शरीर के सभी रसायनों, धातुओं को शुद्ध करता है। हम चाहें तो इसे वैज्ञानिक D.N.A. का परिवर्तन भी कह सकते हैं। श्वेत रंग की एक विशेषता यह भी है कि वह रक्त के श्वेत कणों को सशक्त बनाता है। ये श्वेत परमाणु ही रोग के कीटाणुओं से संघर्ष करके उन्हें विनष्ट करते हैं परिणाम स्वरूप रोग समाप्त हो जाते हैं।

दूसरी दृष्टि से रोग और रोगाणु शरीर के अरि (शत्रु) हैं। उनका उन्मूलन 'णमो अरहंताणं' पद से हो जाता है यह अर्हत् स्तुति का बहुत बड़ा और गहन रहस्य है।

सिद्धों के स्वरूप के साथ अरुण रंग का ध्यान रक्त के लाल कणों को सशक्त बनाता है। उन्हीं से शरीर और प्राणों में उत्साह, बल आदि का संचार होता है।

चिकित्सा शास्त्री, वैद्य, डॉक्टर जिसे रक्ताल्पता कहते हैं, वे इन्हीं रक्त के लाल कणों की न्यूनाधिकता को रक्ताल्पता शब्द से द्योतित करते हैं। फिर सिद्धाणं पद तो सभी प्रकार की सफलता एवं सिद्धियाँ प्रदायक है ही। आचार्यश्री तुलसी की भक्तिमय दो पंक्तियों के साथ इस निष्कर्ष को विराम दे रही हूँ–

**भाव भीनी वंदना भगवान चरणों में चढ़ाएं।**
**शुद्ध ज्योतिर्मय निरामय रूप अपने आप पाएं ॥**[१८]

अर्थात् अर्हत भगवान् शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक सब रोगों से मुक्त होकर निरामय स्वरूप हो गये हैं। वे संसार की सर्व मलिनताओं को धोकर पूर्ण रूप से शुद्ध बन गये। उनके भीतर की ज्योति प्रकट हो गई। यह स्वरूप हमें भी उपलब्ध हो इस प्रेरणा से हम अर्हत् भगवान के चरणों में भावपूर्ण वंदना करते हैं।

## संदर्भ

१. कर्म बंधन और मुक्ति की प्रक्रिया–पृ./१०३

२. वही—पृ./१०४
३. वही—पृ./१०५
४. संभव है समाधान—पृ./१०१
५. जैन तत्त्व प्रकाश—पृ. से उधृत
६. तत्त्वानुशासन—श्लोक—१३५
७. ओलखाण—पृ./८६, दीवह अंक, सितम्बर ६५
८. खोले मन का द्वार—पृ./१०६, ११२
९. कर्म बंधन और मुक्ति की प्रक्रिया—पृ./१०६
१०. वही
११. शक्ति व शांति का स्रोत नमस्कार महामंत्र—पृ./११७
१२. वही—पृ./११६
१३. भीतर का रोग भीतर का इलाज—खण्ड १ शारीरिक चिकित्सा—पृ./६३
१४. तुम स्वस्थ रह सकते हो—पृ./४६
१५. मंत्र एक समाधान—पृ./१४५
१६. वही—पृ./३०१
१७. वही—पृ./३००
१८. अर्हत् वंदना—पृ./६४

## परिशिष्ट १

१. श्री पैंसठिया यंत्र और छंद
२. चौबीस तीर्थंकर आनुपूर्वी
३. तीर्थंकरों के शासन में केवलज्ञानी साधु-साध्वियों की संख्या
४. तीर्थंकर के शासन में तीर्थंकर गोत्र का बंध करने वाले पुण्यात्मा
५. तीर्थंकरों की प्रथम देशना का विषय

## परिशिष्ट २

उद्धृत, उल्लिखित एवं अवलोकित ग्रंथों की तालिका

# परिशिष्ट-१

## १. श्री पैंसठिया यंत्र और छंद

वर्तमान विश्व क्लेश, अशांति, असुरक्षा तथा राहु के दोष से संप्रस्त है। इस त्रास से मुक्ति एवं सभी ग्रह दोषों की उपशांति के लिए इस यंत्र का प्रतिदिन कम से कम ७, ९, ११ अथवा १५ हजार जप करना चाहिए। इस यंत्र में १ से लेकर २५ तक अंक हैं जिनमें तीर्थंकर के चौबीस अंक हैं और २५वां अंक एक इष्ट की स्थापना के रूप में स्थापित किया गया है। इसकी संख्या ऊपर-नीचे, दायें-बायें कहीं से गणना करें तो सबका योगफल ६५ आयेगा। इसलिए इसे पैंसठिया यंत्र कहते हैं। यह प्राचीन अनुभवी आचार्यों की सघन ध्यान साधना और गहन शास्त्रीय-अध्ययन के द्वारा प्राप्त मानव जाति को अमूल्य भेंट है। इसकी आराधना से हित, शिव और मंगल तो होता ही है तथा विघ्न बाधाओं की उपशांति भी होती है।

### पैंसठिया छंद

**श्री नेमीश्वर संभव स्वाम,**
**सुविधि धर्म शांति अभिराम,**
**अनंत सुव्रत नमिनाथ सुजाण,**
**श्री जिनवर मुझ करो कल्याण ॥१॥**

**अजितनाथ चंदा प्रभु धीर,**
**आदीश्वर सुपार्श्व गंभीर,**
**विमलनाथ विमल जग भाण,**
**श्री जिनवर मुझ करो कल्याण ॥२॥**

मल्लिनाथ जिन मंगल रूप,
पंचबीस धनुष सुन्दर स्वरूप,
श्री अरनाथ नमूं वर्धमान,
श्री जिनवर मुझ करो कल्याण ॥३॥

सुमति पद्म प्रभु अवतंस,
वासुपूज्य शीतल श्रेयांस,
कुंथु पार्श्व अभिनंदण भाण,
श्री जिनवर मुझ करो कल्याण ॥४॥

इम परे श्री जिनवर संभारिए,
दुःख दारिद्रय विघ्न निवारिए,
पच्चीसे पैंसठ परमाण,
श्री जिनवर मुझ करो कल्याण ॥५॥

इण भणतां दुःख नावे कदा,
जो निज पासे राखे सदा,
धरिए पंचतणुं मन ध्यान,
श्री जिनवर मुझ करो कल्याण ॥६॥

श्री जिनवर नामे वांछित मिले
मन वांछित सहु आशा फले
धर्मसिंह मुनि नाम निधान
श्री जिनवर मुझ करो कल्याण ॥७॥

## श्री पैंसठिया यंत्र

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 22 | 3 | 20 | 15 | 16 |
| 14 | 20 | 21 | 2 | 8 |
| 1 | 7 | 13 | 19 | 25 |
| 18 | 24 | 5 | 6 | 12 |
| 10 | 11 | 17 | 23 | 4 |

## जप विधि

जिस कोष्ठक में जो अंक है वह उन उन तीर्थंकरों का वाचक है उतनी ही संख्या के उनका जाप करना चाहिए जैसे : २२ ॐ ह्रीं श्रीं अर्हम् नेमिनाथाय नमः—२२ बार।

एक बार छंद को पुरा बोलें फिर प्रथम खाने में स्थित २२ की संख्या के अनुसार ॐ ह्रीं श्रीं अर्हम् नेमिनाथाय नमः २२ बार बोलें, फिर छंद को बोलें और दूसरे खाने में स्थित तीन की संख्या के अनुसार ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं संभवनाथाय नमः तीन बार बोले—इस क्रम से छंद के साथ यंत्र की स्वाध्याय अथवा मंत्र जप अत्यन्त प्रभावशाली होता है।

केवल २१ बार छंद बोलना भी प्रभावशाली है। जप इस प्रकार करना चाहिए।

२२ ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नेमिनाथाय नमः
०३ ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं संभवनाथाय नमः
०६ ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं सुविधिनाथाय नमः
१५ ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं धर्मनाथाय नमः
१६ ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं शांतिाथाय नमः
१४ ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं अनंतनाथाय नमः
२० ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं मुनिसुव्रत स्वामिने नमः
२१ ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नमिनाथाय नमः
०२ ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं अजितनाथाय नमः
०८ ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं चन्द्रप्रभवे नमः
०१ ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं ऋषभनाथाय नमः
०७ ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं सुपार्श्वनाथाय नमः
१३ ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं विमलनाथाय नमः
१९ ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं मल्लिनाथाय नमः
२५ ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं श्री गौतम स्वामिने नमः (श्री पुष्पदंत स्वामिने नमः)
१८ ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं अरनाथाय नमः
२४ ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं महावीर स्वामिने नमः
०५ ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं सुमतिनाथाय नमः
०६ ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं पद्मप्रभवे नमः
१२ ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं वासुपूज्यनाथाय नमः
१० ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं शीतलनाथाय नमः

११ ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं श्रेयांसनाथाय नमः
१७ ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं कुंथुनाथाय नमः
२३ ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं पार्श्वनाथाय नमः
०४ ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं अभिनंदननाथाय नमः

## २. चौबीस तीर्थंकर आनुपूर्वी

तीर्थंकर का भावपूर्वक स्मरण करते हुए उनके गुणानुवाद में उत्कृष्ट रस आने पर जीव तीर्थंकर नाम कर्म का बंध कर सकता है। तीर्थंकर देव मोक्ष मार्ग के प्रदाता हैं। इस आनुपूर्वी के माध्यम से हम वीतराग भाव के सोपान चढ़ सकते हैं। इस आनुपूर्वी के अंकों को सीधा, खड़ा या तिरछा जोड़ने पर इसका योग पैंसठ ही आता है। इसलिए इसे पैंसठिया यंत्र के रूप में भी पढ़ा जा सकता है।

इस तीर्थंकर स्मरणानुपूर्वी में तीर्थंकरों का नाम लिया जायेगा। जहां जो संख्या का क्रमांक हो वहाँ उन्हीं तीर्थंकर का नाम लें तथा पच्चीसवीं संख्या में भगवान महावीर स्वामी के प्रथम गणधर श्री गौतम स्वामी का नाम लिया जायेगा।

### नामों की क्रम संख्या–

१. भगवान ऋषभदेव
२. भगवान अजितनाथ
३. भगवान संभवनाथ
४. भगवान अभिनंदन
५. भगवान सुमतिनाथ
६. भगवान पद्मप्रभु
७. भगवान सुपार्श्वनाथ
८. भगवान चन्द्रप्रभु
९. भगवान सुविधिनाथ
१०. भगवान शीतलनाथ
११. भगवान श्रेयांसनाथ
१२. भगवान वासुपूज्य
१३. भगवान विमलनाथ
१४. भगवान अनंतनाथ
१५. भगवान धर्मनाथ
१६. भगवान शांतिनाथ
१७. भगवान कुंथुनाथ
१८. भगवान अरनाथ

१६. भगवान मल्लिनाथ
२०. भगवान मुनिसुव्रत
२१. भगवान नमिनाथ
२२. भगवान अरिष्टनेमि
२३. भगवान पार्श्वनाथ
२४. भगवान महावीर
२५. श्री गौतम स्वामी

निम्नोक्त २५ बॉक्सों को क्रमानुसार पढ़ें—

1

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 15 | 16 | 22 | 03 | 09 |
| 02 | 08 | 14 | 20 | 21 |
| 19 | 25 | 01 | 07 | 13 |
| 06 | 12 | 18 | 24 | 05 |
| 23 | 04 | 10 | 11 | 17 |

2

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 11 | 17 | 23 | 04 | 10 |
| 3 | 09 | 15 | 16 | 22 |
| 20 | 21 | 2 | 08 | 14 |
| 07 | 13 | 19 | 25 | 01 |
| 24 | 05 | 06 | 12 | 18 |

3

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 12 | 18 | 24 | 05 | 06 |
| 04 | 10 | 11 | 17 | 23 |
| 16 | 22 | 03 | 09 | 15 |
| 08 | 14 | 20 | 21 | 02 |
| 25 | 01 | 07 | 13 | 19 |

4

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 13 | 19 | 25 | 01 | 07 |
| 05 | 06 | 12 | 18 | 24 |
| 17 | 23 | 04 | 10 | 11 |
| 09 | 15 | 16 | 22 | 03 |
| 21 | 02 | 8 | 14 | 20 |

5

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 14 | 20 | 21 | 02 | 08 |
| 01 | 07 | 13 | 19 | 25 |
| 18 | 24 | 05 | 06 | 12 |
| 10 | 11 | 17 | 23 | 04 |
| 22 | 03 | 09 | 15 | 16 |

6

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 20 | 21 | 02 | 08 | 14 |
| 07 | 13 | 19 | 25 | 01 |
| 24 | 05 | 06 | 12 | 18 |
| 11 | 17 | 23 | 04 | 10 |
| 03 | 09 | 15 | 16 | 22 |

7

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 16 | 22 | 03 | 09 | 15 |
| 08 | 14 | 20 | 21 | 02 |
| 25 | 01 | 07 | 13 | 19 |
| 12 | 18 | 24 | 05 | 06 |
| 04 | 10 | 11 | 17 | 23 |

8

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 13 | 23 | 04 | 10 | 11 |
| 09 | 15 | 16 | 22 | 03 |
| 21 | 02 | 08 | 14 | 20 |
| 13 | 19 | 25 | 01 | 07 |
| 05 | 06 | 12 | 18 | 24 |

9

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 18 | 24 | 05 | 06 | 12 |
| 10 | 11 | 17 | 23 | 04 |
| 22 | 03 | 9 | 16 | 16 |
| 14 | 20 | 21 | 02 | 08 |
| 01 | 07 | 13 | 19 | 25 |

10

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 19 | 25 | 01 | 07 | 13 |
| 06 | 12 | 18 | 24 | 05 |
| 23 | 04 | 10 | 11 | 17 |
| 15 | 16 | 22 | 03 | 09 |
| 02 | 08 | 14 | 20 | 21 |

**11**

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 25 | 01 | 7 | 13 | 19 |
| 12 | 18 | 24 | 05 | 06 |
| 04 | 10 | 11 | 17 | 23 |
| 18 | 22 | 03 | 09 | 15 |
| 08 | 14 | 20 | 21 | 02 |

**12**

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 21 | 02 | 08 | 14 | 20 |
| 13 | 19 | 25 | 01 | 07 |
| 05 | 06 | 12 | 18 | 24 |
| 17 | 23 | 04 | 10 | 11 |
| 09 | 15 | 16 | 22 | 03 |

**13**

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 22 | 03 | 09 | 15 | 16 |
| 14 | 20 | 21 | 02 | 08 |
| 01 | 07 | 13 | 19 | 25 |
| 18 | 24 | 05 | 06 | 12 |
| 10 | 11 | 17 | 23 | 04 |

**14**

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 13 | 04 | 10 | 11 | 17 |
| 15 | 16 | 22 | 03 | 09 |
| 02 | 8 | 14 | 20 | 21 |
| 19 | 25 | 01 | 07 | 13 |
| 06 | 12 | 18 | 24 | 05 |

**15**

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 24 | 05 | 06 | 12 | 18 |
| 11 | 17 | 23 | 04 | 10 |
| 03 | 09 | 15 | 16 | 22 |
| 20 | 21 | 02 | 08 | 14 |
| 07 | 13 | 19 | 25 | 01 |

**16**

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 05 | 06 | 12 | 18 | 24 |
| 17 | 23 | 04 | 10 | 11 |
| 09 | 15 | 16 | 22 | 03 |
| 21 | 02 | 08 | 14 | 20 |
| 13 | 19 | 25 | 01 | 07 |

**17**

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 01 | 07 | 13 | 19 | 25 |
| 18 | 24 | 05 | 06 | 12 |
| 10 | 11 | 17 | 23 | 04 |
| 22 | 03 | 09 | 15 | 16 |
| 14 | 20 | 21 | 02 | 08 |

**18**

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 02 | 08 | 14 | 20 | 21 |
| 19 | 25 | 01 | 07 | 13 |
| 06 | 12 | 18 | 24 | 05 |
| 23 | 04 | 10 | 11 | 17 |
| 15 | 16 | 22 | 03 | 09 |

**19**

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 03 | 09 | 15 | 16 | 22 |
| 20 | 21 | 02 | 8 | 14 |
| 07 | 13 | 19 | 25 | 01 |
| 24 | 05 | 06 | 12 | 18 |
| 11 | 17 | 23 | 04 | 10 |

**20**

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 04 | 10 | 11 | 17 | 23 |
| 16 | 22 | 03 | 09 | 15 |
| 08 | 14 | 20 | 21 | 02 |
| 25 | 01 | 07 | 13 | 19 |
| 12 | 18 | 24 | 05 | 06 |

**21**

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 10 | 11 | 17 | 23 | 04 |
| 22 | 03 | 09 | 15 | 16 |
| 14 | 20 | 21 | 02 | 08 |
| 01 | 07 | 13 | 19 | 25 |
| 18 | 24 | 05 | 06 | 12 |

**22**

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 06 | 12 | 18 | 24 | 05 |
| 23 | 04 | 10 | 11 | 17 |
| 15 | 16 | 22 | 03 | 09 |
| 02 | 08 | 14 | 20 | 21 |
| 19 | 25 | 01 | 07 | 13 |

**23**

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 07 | 13 | 19 | 25 | 01 |
| 24 | 05 | 06 | 12 | 18 |
| 11 | 17 | 23 | 04 | 10 |
| 03 | 09 | 15 | 16 | 22 |
| 20 | 21 | 02 | 08 | 04 |

**24**

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 08 | 14 | 20 | 21 | 02 |
| 25 | 01 | 07 | 13 | 19 |
| 12 | 18 | 24 | 04 | 06 |
| 04 | 10 | 11 | 17 | 23 |
| 16 | 22 | 03 | 09 | 15 |

**25**

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 09 | 15 | 16 | 22 | 03 |
| 21 | 02 | 08 | 14 | 20 |
| 13 | 19 | 25 | 01 | 07 |
| 05 | 06 | 12 | 18 | 24 |
| 17 | 23 | 04 | 10 | 11 |

## ३. तीर्थंकरों के शासन में केवलज्ञानी साधु-साध्वियों की संख्या

| | तीर्थंकर | केवली साधु | केवली साध्वियां |
|---|---|---|---|
| १. | ऋषभदेव | बीस हजार | चालीस हजार |
| २. | अजितनाथ | बाईस हजार | चालीस हजार |
| ३. | संभवनाथ | पन्द्रह हजार | तीस हजार |
| ४. | अभिनंदन | चौदह हजार | अट्ठाईस हजार |
| ५. | सुमतिनाथ | तेरह हजार | छब्बीस हजार |
| ६. | पद्मप्रभ | बारह हजार | चौबीस हजार |
| ७. | सुपार्श्वनाथ | ग्यारह हजार | बाईस हजार |
| ८. | चन्द्रप्रभ | दस हजार | बीस हजार |
| ९. | सुविधिनाथ | साढ़े सात हजार | पन्द्रह हजार |
| १०. | शीतलनाथ | सात हजार | चौदह हजार |
| ११. | श्रेयांसनाथ | साढ़े छः हजार | तेरह अजार |
| १२. | वासुपूज्य | छः हजार | बारह हजार |
| १३. | विमलनाथ | साढ़े पांच हजार | दस हजार |
| १४. | अनंतनाथ | पांच हजार | दस हजार |
| १५. | धर्मनाथ | साढ़े चार हजार | नौ हजार |
| १६. | शांतिनाथ | चार हजार तीन सौ | आठ हजार छः सौ |
| १७. | कुंथुनाथ | तीन हजार दो सौ | छः हजार चार सौ |
| १८. | अरनाथ | दो हजार आठ सौ | पांच हजार छः सौ |
| १९. | मल्लिनाथ | तीन हजार दो सौ | छः हजार चार सौ |
| २०. | मुनिसुव्रत | एक हजार आठ सौ | तीन हजार छः सौ |
| २१. | नमिनाथ | एक हजार छः सौ | तीन हजार दो सौ |
| २२. | अरिष्टनेमि | एक हजार पांच सौ | तीन हजार |
| २३. | पार्श्वनाथ | एक हजार | दो हजार |
| २४. | महावीर | सात सौ | एक हजार चार सौ |

(संदर्भ—जैन कथाकोष—पृ./३९७)

## ४. तीर्थंकरों के शासन में तीर्थंकर गौत्र का बंध करने वाले पुण्यात्मा

* भगवान ऋषभ के तीर्थ में — मरीचि
* भगवान सुपार्श्व के तीर्थ में — हरिषेण, विश्वभूति
* भगवान शीतल के तीर्थ में — श्रीकेतु, त्रिपृष्ठ, धन, मरुभूमि, अमित, तेज।
* भगवान वासुपूज्य के तीर्थ में — नंद-नंदन, शंख, सिद्धार्थ
* भगवान मुनिसुव्रत के तीर्थ में— श्रीवर्मा, रावण, नारद

* भगवान नेमि के तीर्थ में — श्रीकृष्ण
* भगवान पार्श्व के तीर्थ में — अम्बड़, सत्यकी, आनंद
* भगवान महावीर के तीर्थ में — श्रेणिक, सुपार्श्व (भगवान के चाचा) पोटिल, उदायी, द्रढ़ायु, शंख, शत्तक, सुलसा श्राविका, रेवती श्राविका।

(संदर्भ—अध्यात्म का समाधान पृ./१६)

## ५. तीर्थंकरों की प्रथम देशना का विषय

| | तीर्थंकर | प्रथम देशना का विषय |
|---|---|---|
| १. | ऋषभदेव | यति धर्म और श्रावक धर्म |
| २. | अजित | धर्म ध्यान के चार प्रकार |
| ३. | संभव | अनित्य भावना |
| ४. | अभिनंदन | अशरण भावना |
| ५. | सुमति | एकत्व भावना |
| ६. | पद्मप्रभ | संसार भावना |
| ७. | सुपार्श्व | अन्यत्व भावना |
| ८. | चन्द्रप्रभ | अशुचि भावना |
| ९. | सुविधि | आश्रव भावना |
| १०. | शीतल | संसार भावना |
| ११. | श्रेयांस | निर्जरा भावना |
| १२. | वासुपूज्य | धर्म भावना |
| १३. | विमल | बोधि दुर्लभ भावना |
| १४. | अनंत | लोक भावना एवं नौ तत्त्वों का स्वरूप |
| १५. | धर्म | मोक्ष का उपाय एवं कषाय का स्वरूप |
| १६. | शांति | इंद्रिय विजय |
| १७. | कुंथु | मनशुद्धि |
| १८. | अर | राग-द्वेष और मोह पर विजय |
| १९. | मल्लि | सामायिक |
| २०. | मुनिसुव्रत | यति धर्म और श्रावक धर्म |
| २१. | नमि | श्रावक क्रिया |
| २२. | अरिष्टनेमि | चार महाविगय, रात्रि भोजन तथा अभक्ष्य |
| २३. | पार्श्व | बारह व्रतों का निरुपण |
| २४. | महावीर | यति धर्म और श्रावक धर्म |

(संदर्भ—तीर्थंकर चरित्र—पृ./२४३)

# परिशिष्ट-२

## उद्धृत, उल्लिखित एवं अवलोकित ग्रंथों की तालिका

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. | भगवती भाष्य | — | वाचना प्रमुख गणाधिपति तुलसी<br>संपादक : भाष्यकार आचार्य महाप्रज्ञ |
| २. | ठाणं | — | वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी<br>संपादक : विवेचक मुनि नथमल |
| ३. | समवायांग | — | वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी<br>सम्पादक : विवेचक मुनि नथमल |
| ४. | श्री भिक्षु आगम<br>विषय कोष (भाग १) | — | वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी<br>प्रधान सम्पादक—आचार्य महाप्रज्ञ<br>निर्देशन—मुनि दुलहराज,<br>डॉ. सत्रंजन बनर्जी।<br>संग्रह/अनुवाद/संपादक—<br>साध्वी विमलप्रज्ञा, साध्वी सिद्धप्रज्ञा |
| ५. | आचारांग | — | वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी<br>सम्पादक—विवेचक मुनि नथमल |
| ६. | दसवेकालिक | — | वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी<br>सम्पादक : विवेचक मुनि नथमल |
| ७. | उत्तराध्ययन | — | वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी<br>सम्पादक : विवेचक आचार्य महाप्रज्ञ |
| ८. | अनुयोगद्वार | — | वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी<br>सम्पादक : विवेचक आचार्य महाप्रज्ञ |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ९. | आराधना | — | प्रवाचक युगप्रधान आचार्य तुलसी<br>प्रधान सम्पादक—युवाचार्य महाप्रज्ञ,<br>सम्पादन/अनुवाद—साध्वीप्रमुखा<br>कनकप्रभा |
| १०. | भगवान महावीर | — | आचार्य तुलसी |
| ११. | अर्हत् वंदना | — | आचार्य तुलसी |
| १२. | ज्योति जले मुक्ति मिले | — | आचार्य तुलसी |
| १३. | अपना दर्पण अपना बिम्ब | — | आचार्य महाप्रज्ञ |
| १४. | अपने घर में | — | युवाचार्य महाप्रज्ञ |
| १५. | मन का कायाकल्प | — | युवाचार्य महाप्रज्ञ |
| १६. | सानुवाद व्यवहार भाष्य— | — | वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी<br>प्रधान सम्पादक आचार्य महाप्रज्ञ<br>संपादक अनुवादक मुनि दुलहराज |
| १७. | व्यवहार भाष्य सानुवाद | — | श्री संघदान गणि |
| १८. | सत्य की खोज अनेकान्त के आलोक में | — | मुनि नथमल |
| १९. | जैन धर्म के साधना सूत्र | — | आचार्य महाप्रज्ञ |
| २०. | अप्पाणं सरणं गच्छामि | — | आचार्य महाप्रज्ञ (संस्करण तीसरा) |
| २१. | विदेह की साधिका बालूजी | — | |
| २२. | भक्तामर अन्तस्तल में | — | आचार्य महाप्रज्ञ |
| २३. | मंत्र—एक समाधान | — | आचार्य महाप्रज्ञ |
| २४. | भीतर की ओर | — | आचार्य महाप्रज्ञ |
| २५. | साधना और सिद्धि | — | आचार्य महाप्रज्ञ |
| २६. | शक्ति की साधना | — | आचार्य महाप्रज्ञ |
| २७. | तुम स्वस्थ रह सकते हो | — | आचार्य महाप्रज्ञ |
| २८. | महाप्रज्ञ ने कहा (भाग २१ वां) | — | संपादक मुख्य नियोजिका साध्वी<br>विश्रुत विभा, साध्वी विमल प्रज्ञा |
| २९. | सुप्रभातम् | — | आचार्य महाप्रज्ञ |
| ३०. | एसो पंच णमोक्कारो | — | आचार्य महाप्रज्ञ |
| ३१. | गाथा परम विजय की | — | आचार्य महाप्रज्ञ |
| ३२. | महात्मा महाप्रज्ञ | — | युवाचार्य महाश्रमण |
| ३३. | संवाद भगवान से | — | युवाचार्य महाश्रमण |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ३४. | महावीर क्या थे | — | मुनि नथमल |
| ३५. | विशेषावश्यक भाष्य | — | जिन भद्रगणि क्षमाश्रमण |
| ३६. | आवश्यक निर्युक्ति (खण्ड १) | — | सम्पादिका डा. समणी कुसुम प्रज्ञा |
| ३७. | साधना के श्लाका पुरुष गुरुदेवश्री तुलसी | — | डॉ. समणी कुसुमप्रज्ञा |
| ३८. | श्री आवश्यक सूत्रम् | — | जैनाचार्य जैन धर्म दिवाकर पूज्य श्री घासीलालजी महाराज सा विरचिताऽऽचारमणि मंजूषाऽऽख्यान व्याख्या समलंकृत हिंदी गुर्जर भाषा सहितं |
| ३९. | भीतर का रोग भीतर का समाधान | — | साध्वी शुभ्रयशा |
| ४०. | श्रीमद्भागवत की स्तुतियों का समीक्षात्मक अध्ययन | — | डॉ. हरिशंकर पांडेय |
| ४१. | साधना पथ | — | एम.ए. संस्कृत एवं प्राकृत। लब्ध स्वर्णपदक, जे.आर.एफ. (नेट) पी-एच.डी. सहायक आचार्य प्राकृत भाषा एवं साहित्य |
| ४२. | वीतराग वंदना | — | सम्पादक डॉ. मुमुक्षु शांता जैन |
| ४३. | जिनवाणी प्रतिक्रमण विशेषांक | | |
| ४४. | क्यों? | — | अमरजीत यादव |
| ४५. | चौबीस तीर्थंकर | — | डॉ. गोकुलचन्द्र जैन |
| ४६. | तीर्थंकर चरित्र | — | मुनि सुमेरमल, लाड़नू |
| ४७. | आर्हती दृष्टि | — | समणी मंगल प्रज्ञा |
| ४८. | मन और उसका निग्रह | — | स्वामी बुधानंद |
| ४९. | चक्रों का विवेचन— आसन, प्राणायाम, मूलबंध | — | स्वामी सत्यानंद |
| ५०. | कर्म बंधन और मुक्ति की प्रक्रिया | — | चंदनराज मेहता |
| ५१. | नाथू से महाप्रज्ञ—एक मनीषी की जीवन यात्रा | — | चंदनराज मेहता |

५२. अष्ट पाहुड़
५३. स्वागत करें उजालों का — साध्वी कनकश्री
५४. श्रीमद् भगवत गीता — श्रीमद् ए.सी.भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद
५५. विनय आराधना
६६. समता वाणी
६७. जैन साधना पद्धति में तपोयोग — मुनि श्रीचंद
६८. ज्ञान मीमांसा (नंदी सूत्र के संदर्भ में) — डॉ. साध्वी श्रुतयशा
६९. मंत्र विद्या — करणीदान सेठिया
६०. महामंत्र नवकार — उपाध्याय केवल मुनि
६१. मिले मन भीतर भगवान — कलापूर्ण सूरि
६२. शक्ति एवं शांति का स्रोत नमोक्कार महामंत्र — राष्ट्रसंत श्री गणेश मुनि शास्त्री
६३. आगम युग का जैन दर्शन — पण्डित दलसुख मालवणिया
६४. तुलसी-प्रज्ञा — वर्ष ३४ अंक १३४ जनवरी, मार्च २००७ हिंदी संपादक—डॉ. मुमुक्षु शांता जैन
अंग्रेजी संपादक—डॉ. जगतराम भट्टाचार्य
६५. जैन भारती, फरवरी १९९५ — मानदक सम्पादक—शुभू पटवा
६६. लोगस्स सूत्र—एक दिव्य साधना— डा. साध्वी दिव्या
६७. पर्युषण साधना — साध्वी राजीमती
६८. भिक्षु ग्रंथ रत्नाकर भाग-२ — सम्पादक—आचार्यश्री तुलसी
संग्रहकर्त्ता—मुनिश्री चौथमलजी
प्रबंध सम्पादक—श्रीचंद रामपुरिया
६९. जैन कथाकोष — मुनि छत्रमल
७०. साखी ग्रंथ — महाराज राघवदास कृत टीका
७१. भीतर का रोग भीतर का इलाज— साध्वी शुभ्रयशाजी
७२. प्रेक्षाध्यान—प्रयोग धर्मा महाप्रज्ञ विशेषांक

"ॐ अर्हम्"

❑❑❑

| | | |
|---|---|---|
| **नाम** | : | **साध्वी पुण्ययशा** |
| **जन्म** | : | २२ सितम्बर १९६३ बीदासर (राजस्थान) |
| **दीक्षा** | : | १५ फरवरी, १९८४ बीदासर (राजस्थान) आचार्यश्री तुलसी के कर कमलों द्वारा |
| **पिता** | : | श्री जीवनमलजी डागा |
| **माता** | : | श्रीमती रतनीदेवी डागा |
| **अध्ययन** | : | हिंदी, संस्कृत, प्राकृत राजस्थानी, अंग्रेजी आदि भाषा का ज्ञान |
| **यात्रा** | : | गुजरात, मध्यप्रदेश, आन्ध्रप्रदेश, महाराष्ट्र राजस्थान, मारवाड़, मेवाड़ आदि |
| **प्रकाशित कृति** | : | १. तप की अमिट लौ : साध्वी भत्तूजी (सन २००४ में)<br>२. संथारे का आशीर्वाद : साध्वीश्री सुखदेवांजी (चूरू) (सन २००५ में),<br>३.-४. नमस्कार महामंत्र : एक अनुशीलन भाग-१ व २ सह प्रकाशित (सन २००९ में) |

ISBN 81719602 3-5